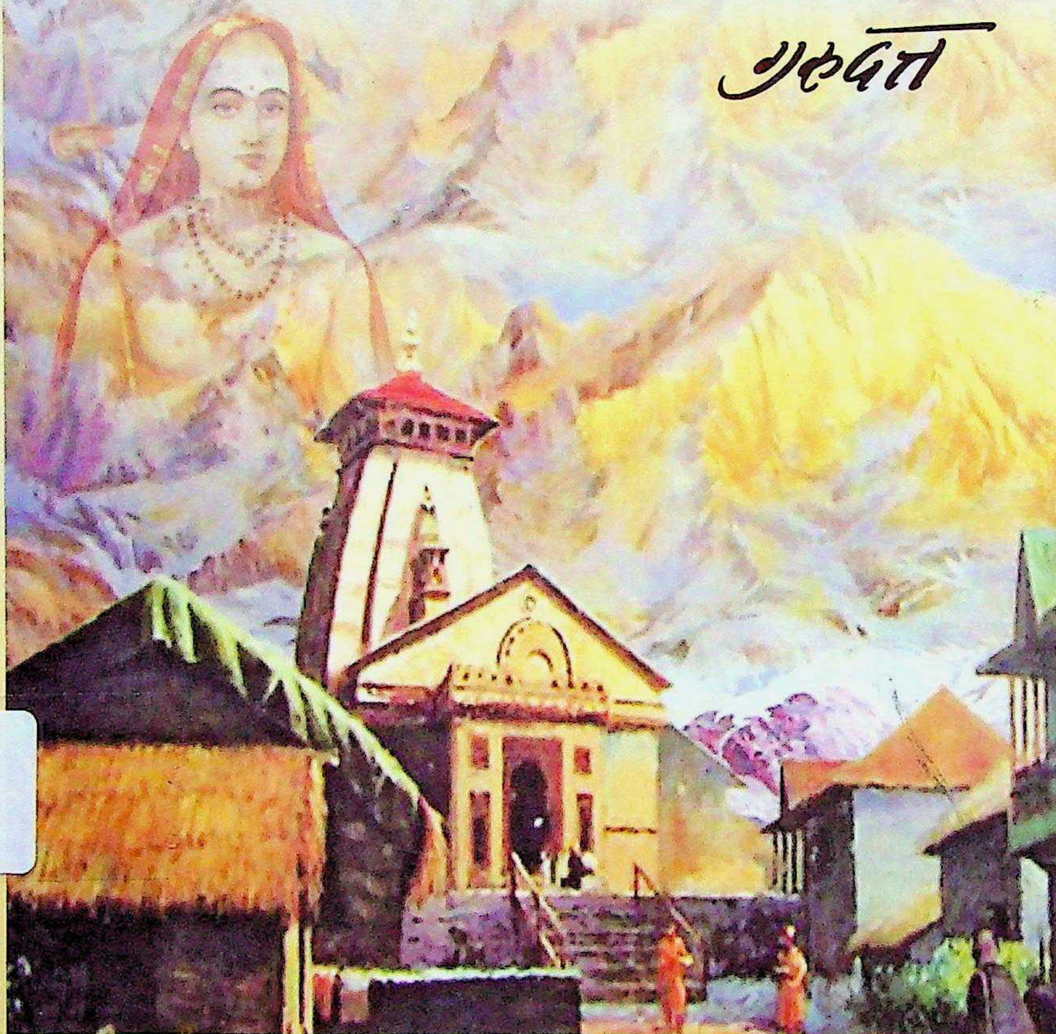
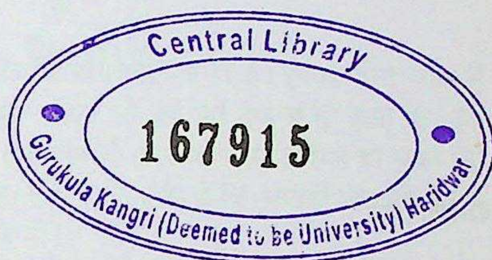
दिग्विजय

गुरुदत्त



वेदादि ब्राह्मण ग्रंथों के आधार पर आदिशंकराचार्य द्वारा आर्य धर्म के पुनरुद्धार के प्रयास पर आधारित...

दिग्विजय



गुरुदत्त



हिन्दी साहित्य सदन

नई दिल्ली-110 005



मूल्य : ₹ 300.00

प्रकाशक : **हिन्दी साहित्य सदन**
2 बी. डी. चैम्बर्स, 10/54 देशबन्धु गुप्ता रोड,
करोल बाग, नई दिल्ली-110005
फोन : 23553624, 23551344; फैक्स : 23553624
email : indiabooks@rediffmail.com
hindisahityasadan@gmail.com
website : hindisahityasadan.com

संस्करण : **2016**

मुद्रक : अजय प्रिंटर्स, दिल्ली

भूमिका

स्वामी शंकराचार्य के काल के विषय में मतभेद है। इनका जन्म आज से दो सहस्त्र वर्ष पूर्व से लेकर तेरह-चौदह सौ वर्ष पूर्व तक कभी हुआ था। इस पर भी यह निश्चित है कि भारत में जब बौद्धमत का ह्रास आरम्भ हो चुका था, तब ही इनका अवतरण हुआ था। ऐसा प्रतीत होता है कि आठवीं शताब्दी से पूर्व ही इनका जन्म अवश्य हो चुका था।

यह पुस्तक श्री स्वामी जी का जीवन-चरित्र नहीं है। यह उनके काल की पृष्ठभूमि पर एक उपन्यास है। यत्न किया गया है कि उस काल के समाज की धार्मिक एवं सांस्कृतिक अवस्था की पृष्ठभूमि पर यह उपन्यास लिखा जाय। इस काल में बौद्ध-धर्म के अवशेषों पर, वेदादि ब्राह्मण-ग्रन्थों का आधार लेकर, आर्य-धर्म के पुनरुद्धार का यत्न किया गया था, परन्तु इस प्रयत्न से जो धर्म बना, वह न आर्य-धर्म था न ही श्रुति-धर्म। उसका उचित नाम वैष्णव-धर्म कहा जा सकता है।

इस वैष्णव-धर्म में असुरों की लिंग-पूजा, जैनियों की मूर्ति-पूजा तथा मांसादि का निषेध, बौद्धों की सहनशीलता, उपनिषदों की आत्मा-परमात्मा की विवेचना और वेदों का नाम, सबकुछ विद्यमान था। वर्तमान भागवत् पुराणादि ग्रन्थ इसी काल में लिखे गए। कई लोगों का मत है कि रामायण और महाभारत भी इसी काल में रचे गए। पर वैदिक विद्वान् इसे नहीं मानते। वैष्णव मत पूर्वोक्त सब बातों का समन्वय है।

इस समन्वय का उद्देश्य यह था कि देश में एक राष्ट्र की नींव डाली जाय, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कर्म-कांडियों ने अपने-अपने देवताओं की पूजा की भिन्न-भिन्न पूजा-विधि तथा उनके भिन्न-भिन्न चिह्न बना लिए और इससे देश में एक राष्ट्र होने की अपेक्षा घोर वैमनस्य उत्पन्न हो गया।

ऐसा भी प्रतीत होता है कि धन-ऐश्वर्य में वृद्धि होने के कारण सुख-सुविधा एवं वासना की प्रवृत्ति विशेष हो गई थी। कालिदास की रचनाएँ प्राय: श्रृंगार-प्रधान हैं। सम्भवत: गुप्तकाल में संगीत, नृत्य तथा चित्रकला में विशेष

उन्नति हुई थी और ललित-कलाओं का अनधिकारियों के हाथ में चला जाना इसके दूषित दिशा में प्रयोग का कारण हो सकता है।

कुछ भी हो, देश की अवस्था ऐसी थी कि छोटे-छोटे राज्य उत्पन्न हो गए थे। उन पर कोई चक्रवर्ती सम्राट् नहीं रहा था। अनेक देवी-देवता बन गए थे और उन सबके उपासक एक-दूसरे की निन्दा और आत्मश्लाघा में लीन थे।

जैन-धर्म कभी भी वैश्य-समाज के बाहर नहीं गया। बौद्ध-धर्म प्रायः सब वर्णों में फैला था और इसके अवशेष तब तक विद्यमान थे तथा नास्तिकवाद का प्रचार कर रहे थे।

ऐसी अवस्था में स्वामी शंकराचार्य जी का इस देश में अवतरण हुआ और उन्होंने अपनी अल्प आयु में देश में भारी आन्दोलन खड़ा कर दिया। उस आन्दोलन का उद्देश्य जहाँ बौद्ध-धर्म द्वारा प्रतिपादित नास्तिकवाद का खण्डन था, वहाँ आस्तिकों का पारस्परिक द्वेष मिटाकर पूरे देश में एक संस्कृति का प्रचार करना भी था। इस आन्दोलन की प्रतिध्वनि आज भी देश में विद्यमान है।

स्वामी शंकराचार्य के काल की अवस्था का दिग्दर्शन और स्वामी जी के कार्य का संक्षिप्त विवरण ही इस उपन्यास की पृष्ठभूमि है।

वेदान्त तथा वैष्णव-धर्म द्वारा स्वामी जी के कार्य को जैसा समझा है, वैसा ही देने का यत्न किया गया है। शेष तो उपन्यास होने से पाठकों के रसास्वादन तथा समझने एवं विचार करने की वस्तु है।

—गुरुदत्त

एक

भारत के सांस्कृतिक साम्राज्य की राजधानी निर्विवाद रूप में काशी रही है। यह अमर नगरी परमपावनी गंगा के किनारे बसी हुई, भारतीय संस्कृति के अनेकानेक रूपों के अवशेष लिए हुए, आज भी अपना मस्तक ऊँचा किए विराजमान है। इसकी उच्च अट्टालिकाएँ, इसके मन्दिरों के गगनभेदी कलश और इसकी लम्बी-लम्बी सीढ़ियों वाले घाट, उन सब सांस्कृतिक, धार्मिक एवं मत-मतान्तरों की स्मतियों को हरा-भरा करते हैं, जो भारत के विभिन्न कालों और भागों में अति प्राचीन काल से प्रादुर्भूत होते रहे हैं।

गंगोत्री से निकली सर्वथा स्वच्छ, निर्मल और पवित्र भागीरथी, अनेकानेक अन्य नदी-नालों से आने वाले अनेक प्रकार के जलों को आत्मसात् करती हुई, गंगा के रूप में काशी के चरण-स्पर्श करती हुई आगे बहती गई है। भिन्न-भिन्न नदी-नालों से आए मैले-कुचैले जल और उनके साथ आने वाली अपवित्रता को विलीन करती हुई यह गंगा, काशी के घाटों पर स्नान करने वाले कोटि-कोटि भक्तों के शरीरों को पवित्र करने का सामर्थ्य तो रखती है, साथ ही भक्तों की आत्मा को शान्ति भी प्रदान करती है।

इसी प्रकार अनादि काल से वेदों से उत्स्रवित हुआ धर्म और मनु के काल से प्रचलित संस्कृति, परवर्ती काल में अनेकानेक मस्तिष्कों द्वारा विचारित तथा प्रचारित विचारधाराओं को आत्मसात् एवं उनकी कलुषित और दूषित बातों को भस्म करती हुई आज भी काशी की पाठशालाओं में विद्यार्थियों के कण्ठों से उद्घोषित मन्त्रों द्वारा प्रतिध्वनित होती हुई सुनी जा सकती है। आज भी, 'ओं अग्निमीळे पुरोहितं' आदि मन्त्रों की ध्वनि काशी की गलियों में गूँजती रहती है।

यदि काशी नगरी का इतिहास लिखा जाए तो वह भारत की सांस्कृतिक हलचलों का पूर्ण इतिहास हो जाएगा। काशी की इस महत्ता का विचार करके ही आज से लगभग बारह सौ वर्ष पूर्व एक युवा सन्यासी ने अपने शिष्यों के साथ भारत की सांस्कृतिक विजय करने के लिए काशी नगर में पश्चिम की ओर से प्रवेश किया था। यह मण्डली निम्न श्लोक गाती हुई चली आ रही थी—

गणपतिर्विघ्नराजो लम्बतुण्डो गजाननः।
द्वैवमातुरश्च हेरम्ब एकदन्तो गणाधिपः॥
विनायकश्चारुकर्णः पशुपालो भवात्मजः।
द्वादशैतानि नामानि प्रातरुत्थाय यः पठेत्॥
विश्वं तस्य भवेद् वश्य न च विघ्नं भवेत् क्वचित्।
सौराष्ट्रे सोमनाथं च श्री शैले मल्लिकार्जुनम्॥
उज्जयिन्यां महाकालमोंकारममलेश्वरं।
केदारं हिमवत्पृष्ठे डाकिन्यां भीमशंकरम्॥
वाराणस्यां च विश्वेशं त्र्यम्बकं गोमतीतटे।
वैद्यनाथं चिताभूमौ नागेशं दारुकावने॥
सेतुबन्धे च रामेशं घुश्मेशं च शिवालये॥

वाराणसी में यह ध्वनि विलक्षण प्रतीत हो रही थी। गणेश, सोमनाथ, त्र्यम्बक, विष्णु, ब्रह्मादि सब देवताओं की पूजा में एक ही मुख से, एक ही स्वर में ये श्लोक यहाँ की जनता में कौतूहल उत्पन्न करने वाले थे। यहाँ तो बौद्ध, जैन तथा वैष्णव मतावलम्बी और फिर वैष्णवों में शिव, राम, कृष्ण, काली इत्यादि के भक्त सब रहते थे और परस्पर एक-दूसरे की उपासना की निन्दा करते थे।

यह संन्यासियों की मण्डली तो एक ही स्वर में, एक ही मुख से भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं को नमस्कार कर रही थी।

जब यह मण्डली दशाश्वमेध घाट पर पहुँची तो उस समय गा रही थी—

सविन्दु सिन्धुरस्खलत्तरंगभंगरंजितं
द्विषत्सु पापजातजातकारिवारिसंयुतम्।
कृतान्तदूतकालभूत भीतिहारिवर्मदे
त्वदीयपादपंकजं नमामि देवी नर्मदे।

यह अनोखी बात देख यहाँ के पण्डों, ब्राह्मणों, पूजा-पाठ कराने वालों की भीड़ उनके चारों ओर एकत्रित होने लगी। सब विस्मय से गंगा के किनारे खड़े होकर नर्मदा की स्तुति के अष्टक कहे जाते सुन, टुकर-टुकर इन संन्यासियों का मुख देखने लगे। इस पर किसी को साहस नहीं हो रहा था कि वह इनके इस व्यवहार पर आपत्ति करे। यह काशी नगरी थी। यहाँ भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों के लोग आते थे और अपनी-अपनी डफली बजाते थे।

मण्डली के चारों ओर एकत्रित भीड़ में एक प्रौढ़ावस्था का ब्राह्मण माथे पर त्रिपुण्ड चित्रित किए, सिर पर चोटी को बड़ी-सी गाँठ दिये, कमर में धोती और कन्धे पर शिव नाम की ओढ़नी ओढ़े, पाँवों में खड़ाऊँ और हाथ में माला लिए भी खड़ा था। उसके पास चौदह-पन्द्रह वर्ष की वय का एक बालक,

जिसकी अभी मूँछें नहीं फूटी थीं, लगभग वैसा ही वेश धारण किए, खड़ा था। दोनों अन्य देखने वालों की भाँति अवाक् इन संन्यासियों की मण्डली की ओर देख रहे थे।

ये संन्यासी घाट पर पहुँच, वस्त्र उतार, लँगोट कसे हुए गंगा-स्नान के लिए जल में उतर गए। इस समय दर्शकों की भीड़ कम होने लगी। देखने वाले धीरे-धीरे अपने-अपने काम पर जाने लगे। वह वृद्ध ब्राह्मण भी समीप खड़े बालक को सम्बोधित कर कहने लगा, ''चलो बेटा, विरोचन!''

''बाबा! ये कौन हैं?'' बालक ने प्रश्न किया।

''कह नहीं सकता।''

बालक और वृद्ध दोनों चल पड़े। घाट की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए वृद्ध ने कहा, ''आज भारत में सब अपनी-अपनी डफली बजा रहे हैं। कोई किसी की नहीं सुनता। यही कारण है कि नित-नये मत, नये विचार और नये मार्ग निर्माता हो रहे हैं। इस पर भी आश्चर्यकारक बात यह है कि सब अपने-अपने मार्ग को ही सर्वश्रेष्ठ बताते हैं।''

''ऐसा क्यों करते हैं, ये लोग?''

''यह इस कारण कि लोग परस्पर एक-दूसरे का विश्वास खो चुके हैं। सब स्वयं को बुद्धिमान समझते हैं। देश और जाति का कल्याण वे अपने ही मार्ग से सम्भव मानते हैं। यहाँ तक कि वे दूसरे की बात सुनना भी नहीं चाहते।''

''परन्तु ऐसा क्यों है? बाबा!''

''इस कारण कि पढ़े-लिखे आप्त पुरुषों की महिमा कम हो गई है।''

''यही तो पूछ रहा हूँ। यह अमानुषीय व्यवहार क्यों चल पड़ा है?''

''एक अल्पशिक्षित और भावुक प्रकृति के व्यक्ति ने सहस्रों वर्षों से संकलित शास्त्र-ज्ञान को व्यर्थ कहकर, प्रत्येक व्यक्ति को केवल मात्र चिन्तन से मोक्ष-प्राप्ति का आश्वासन दे दिया था। प्रायः शूद्र जाति के लोग, जो शिक्षा प्राप्त करने के अयोग्य सिद्ध हो चुके थे, जो किसी भी कार्यसिद्धि के लिए तपस्या-त्याग करने का सामर्थ्य नहीं रखते थे और जो समाज में शिक्षित लोगों की सेवा करने के ही योग्य थे, इस प्रकार मोक्ष-प्राप्ति का आश्वासन पा, उस व्यक्ति के भक्त हो गए। बाद में एक राजा का समर्थन प्राप्त कर मोक्ष-प्राप्ति का यह उपाय अति प्रिय हो गया।

''बिना आधार के चिन्तन पृथक्ता का प्रतीक होता है। पृथक्ता समाज में द्वेष की सूचक है। ऐसी अवस्था उत्पन्न होने के बाद भारत में अनेक मत उत्पन्न हो गए और फिर उन मतों में सहनशीलता नहीं रही।''

''बाबा!'' उस किशोर ने वृद्ध के मुख की ओर देखकर पूछा, ''चिन्तन का आधार क्या होना चाहिए था?''

''चिन्तन का आधार परमात्मा है। परमात्मा एक है, वह सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता, सर्वाधार इत्यादि गुणयुक्त होने से चिन्तन करने वाले पूर्ण संसार में एकमयता उत्पन्न करता है। ऐसे लोग स्वार्थरत न होकर सबमें एक और एक में सबको देखने लगते हैं।

''परन्तु वह भावुक व्यक्ति न तो परमात्मा को मानता था और न अपने में किसी आत्मा के अस्तित्व को।''

इस समय वे एक गली में से जाते हुए विश्वनाथ जी के मन्दिर के सम्मुख होकर निकले तो वृद्ध एक-दो क्षण के लिए खड़ा हो गया। वह मन्दिर की ओर मुख कर, हाथ जोड़, आँखें मूँद मुख से कुछ उच्चारण करता रहा। फिर शीश नवा आगे चलते हुए बालक को कहने लगा, ''इस विश्वनाथ में सबका कल्याण करने का सामर्थ्य है। यही सबका कष्ट निवारण कर सकता है।''

बालक गम्भीर विचार में मग्न हो गया। उसकी आँखों के समक्ष मन्दिर के भीतर का दृश्य आ गया। द्वार लाँघकर, मन्दिर के कोने-कोने में देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित थीं और भीतर आनेवाले भक्त से प्रत्येक देवता का पुजारी, अपने देवता के लिए भेंट माँगता था। ये पुजारी परस्पर एक-दूसरे को सुहाते नहीं थे। न ही मुख्य मन्दिर का पुजारी इन पुजारियों को वहाँ देखना चाहता था। न अपनी इच्छा से कोई मन्दिर को छोड़कर जाना चाहता था और न कोई किसी दूसरे को निकालने का सामर्थ्य रखता था।

वह वृद्ध था काशिराज रत्नसिंह का पुरोहित पण्डित गजानन मिश्र और उसके साथ चलने वाला किशोर उसका पुत्र विरोचन कुमार था। दोनों दशाश्वमेध घाट पर स्नान कर अपने घर को आ रहे थे।

घर पहुँच पुरोहित जी अपने पूजागृह में चले गए और बालक अपनी माँ के पास चला गया। माँ पूजादि से निवृत्त हो चुकी थी। विरोचन पहुँचा तो वह उसको पाकशाला में ले गई। इसी समय साथ के कमरे में एक बारह-तेरह वर्ष की एक लड़की निकल रसोईघर में आई और विरोचन के समीप बैठ, अल्पाहार की प्रतीक्षा करने लगी। जब माँ उनके लिए मिठाई निकाल रही थी तो विरोचन ने पूछा, ''रमा! अभी अल्पाहार नहीं किया?''

उत्तर माँ ने दिया, ''इसकी तो नींद ही अभी खुली है। कठिनाई से अभी शौचादि से निवृत्त हुई है।''

''यह तो तामसी व्यवहार है, रमा!''

''भैया! मुझको सोने में आनन्द आता है।''

"यह प्रवृत्ति ब्राह्मण की लड़की के लिए उचित नहीं।"

"विरोचन!" माँ ने रमा के सामने मिठाई रखते हुए कहा, "अब इसका विवाह कर देंगे, इसकी सास इसके स्वभाव को ठीक कर लेगी।"

रमा ने 'ऊँहूँ!' कहकर माँ की योजना का तिरस्कार कर दिया। इस पर माँ ने विरोचन को कहा, अब पाठशाला जाने के लिए तैयार हो जाओ। समय हो गया है।"

:: 2 ::

काशी के महाराज कभी बौद्ध नहीं हुए। एक ऐसा समय भारत में आया था, जब पाटलिपुत्राधिपति सम्राट अशोक, कामभोज से कटक-पर्यन्त भारत का साम्राज्य प्राप्त करने के लिए अपने सम्बन्धियों तथा विरोधियों को रक्त की नदी में डुबो, बौद्ध बन गया था। उस समय भारत के अधिकांश राजा और सामन्त अपने सम्राट के उदाहरण का अनुकरण करने में अपना कल्याण मानने लगे थे। जनता का वह वर्ग, जो आलस्य और प्रमाद से आच्छादित था, बौद्ध-भिक्षु बनकर सुखप्राप्ति की आशा से, बौद्ध-विहारों में प्रविष्ट होता जाता था।

ऐसे समय में भी, जब बौद्ध मत की तूती बोल रही थी और देश का वह वर्ग जो राज्याश्रय में जाने में लाभ समझता था, बौद्ध मतावलम्बी हो रहा था, तब भी काशी के महाराज अपने प्राचीन वैदिक सिद्धान्त पर आरूढ़ रहे थे। काशी-नरेशों में वैदिक मत की परम्परा-सी चल रही थी और इस परम्परा को काशी के शास्त्रियों और विद्वानों से समय-समय पर बल मिलता रहता था।

यों तो महात्मा बुद्ध ने भी अपने मत का प्रचार काशी, सारनाथ से ही आरम्भ किया था और यहाँ पर ही उसने अपने विचारों को एक रूप दिया था। यहीं उसने बौद्ध-मन्त्र 'बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्म शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि' का प्रथम बार समाघोष किया था, इस पर भी बौद्धमत यहाँ फल-फूल नहीं सका। यहाँ की भूमि अर्थात् जनता में सदैव आर्य-विचारधारा की मात्रा इतनी अधिक बनी रही है कि उसकी विद्यमानता में युक्तिविहीन अथवा अव्यावहारिक बौद्ध-विचारधारा अंकुरित नहीं हो सकी।

काशी के विद्वानों के सम्मुख न तो चार्वाक और न ही महात्मा बुद्ध की यह बात कि पूर्ण जगत्, माया और प्रकृति का एक रूप मात्र है, चल सकी। जब-जब भी नास्तिकवाद के समर्थकों ने काशिराज के सम्मुख उपस्थित हो अपने पक्षका समर्थन करना चाहा तब-तब ही वहाँ एक महान् धर्म-सम्मेलन सम्पन्न कर दिया गया और उसमें दूर-दूर के विद्वानों को आकर अपने-अपने मत का समर्थन करने के लिए अवसर दिया गया।

ऐसे सम्मेलनों में वाद-विवाद के प्रायः दो विषय होते थे—एक आत्मा-परमात्मा का अस्तित्व और दूसरा वर्णाश्रम धर्म की उपयोगिता।

नास्तिकवादी कह देता—'परमात्मा नहीं है। वह कहीं दिखाई नहीं देता।' इस पर वैदिक धर्मानुयायी पूछ लेता, 'क्या किसी वस्तु का दिखाई न देना इस बात का प्रमाण है कि वह नहीं है।'

'इसमें दो वचन नहीं हो सकते।'

'तो भिक्षु महोदय यह बताने का कष्ट करें कि उनकी पीठ के पीछे बैठा व्यक्ति क्या कर रहा है।'

भिक्षु घूमकर देखने का यत्न करता, परन्तु सिद्धान्ती उसे मना कर देता। उसका कथन होता 'देखने का यत्न तो देखने से भिन्न बात है। देखना मात्र ज्ञान-प्राप्ति के लिए पर्याप्त नहीं।'

'देखना भी तो एक प्रयत्न है।'

'परन्तु देखने के प्रयत्न से सिर घुमाना पृथक् है। इसी प्रकार देखने के साथ विचार करने का प्रयत्न सम्मिलित करना ज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

'यदि भिक्षु महोदय की गर्दन में मोच आ गई हो तो पीछे पड़ी वस्तु देखी नहीं जा सकती। इसी प्रकार यदि विचार-शक्ति क्षीण हो चुकी हो तो दर्शन-शक्ति होते हुए भी ओझल वस्तु देखी नहीं जा सकती।

'अतः विचार-शक्ति हो और वह शक्ति अति तीव्र हो, तब ही गूढ़ दर्शन हो सकता है। विचार-शक्ति में उग्रता, स्वाध्याय और आप्त-जनों की संगति से ही आ सकती है।'

इस प्रकार पूर्व-पक्ष के लोग समय-समय पर आए और काशी के तार्किकों के सम्मुख निरुत्तर हो चले गए और जहाँ काशिराज वैदिक मतानुयायी बने रहे, वहाँ काशी की जनता भी जानती हुई अथवा अनजाने में भगवान् भजन में लीन तथा 'य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते....' इत्यादि वेद मन्त्रों का गान करती रही।

बौद्धमत का प्रादुर्भाव हुए अढ़ाई सहस्र के लगभग हो चुके थे और इसको महाराज अशोक जैसे सम्राटों का समर्थन प्राप्त हुए भी अठारह सौ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। बौद्ध-भिक्षुओं को भारत-भूमि को पाँव-तले रौंदते हुए भी बहुत समय हो गया था, परन्तु काशी अभी तक अजेय, दृढ़-निष्ठ और गंगा के जल की भाँति सब मल-मूत्र को शुद्ध करने में समर्थ खड़ी थी।

आज काशिराज की धर्म-सभा में एक विशेष समस्या उपस्थित हुई। उसमें काशिराज का पुरोहित काशी में आए एक नवीन संन्यासी के विषय में सूचना दे

रहा था। यह पुरोहित वही वृद्ध ब्राह्मण था, जिसने उस दिन संन्यासियों की मण्डली को दशाश्वमेध घाट पर स्नान करते समय गंगा के जल में पैठ, नर्मदा का गुणानुवाद करते सुना था। पुरोहित का नाम पण्डित गजानन मिश्र था। वह कह रहा था, ''महाराज! उस मण्डली के अग्रणी हैं स्वामी शंकराचार्य। उन्नीस-बीस वर्ष की वयस है। मुख पर दाढ़ी-मूँछ भी अभी भली-भाँति फूँट नहीं पाईं। इस पर भी वे प्रकाण्ड विद्वान प्रतीत होते हैं। इस पर अल्प वयस में ही उन्होंने 'प्रस्थानत्रयी' पर भाष्य लिखे हैं और वह अनुवाद अद्वितीय है।

''पहले दिन मैंने आचार्य जी तथा उनकी मण्डली को अनेकानेक देवी-देवताओं की स्तुति गाते हुए देखा था। वे जहाँ गणपति गजानन की महिमा का गान कर रहे थे, वहाँ सौराष्ट्र के सोमनाथ, उज्जयिनी के महाकाल, श्री शैल के मल्लिकार्जुन, गोमती तट के त्र्यम्बक और वैद्यनाथ सबको एक ही स्वर में नमस्कार कर रहे थे। यह प्रथा हमारे यहाँ नहीं है। गंगा में स्नान करते हुए नर्मदा के गुण-गान नहीं करते। शंकर के उपासक भगवती महाकाली की पूजा नहीं करते।

''महाराज! मैं इन आचार्य जी के ठहरने के स्थान पर गया था। वे दुर्गा के मन्दिर में ठहरे हुए हैं। वहाँ एक समय तो आत्मा-परमात्मा पर चर्चा हो रही थी और दोनों के एकत्व पर युक्तियाँ दी जा रही थीं। दूसरे समय श्रीराम और उनके भक्त बजरंग बली के गुणों का बखान हो रहा था।

''आचार्य जी का कहना है कि वे अद्वैतवादी हैं। पूर्ण जगत को भगवान् की माया समझते हैं। इस पर भी जनता को अपने-अपने इष्टदेव की पूजा करने से मना नहीं करते। वे स्वयं भी प्रातः दुर्गा मंदिर में दुर्गा की मूर्ति के सामने ध्यानावस्थित हो चित्त को एकाग्र करने में लीन रहते हैं।''

पुरोहित गजानन का वक्तव्य समाप्त होने पर महाराज रत्नसिंह ने कहा, ''पुरोहित जी! ऐसे विलक्षण विद्वान से हमारी धर्मसभा सम्मानित होनी चाहिए। हम आचार्य जी को यहाँ आने का निमन्त्रण देते हैं और आप पर इस निमन्त्रण को वहाँ पहुँचाने का भार डालते हैं। आचार्य जी से कहिए—''काशी अनादि काल से वैदिक संस्कृति की लीलास्थली रही है। इस कारण इस नगरी के द्वार सभी मतावलम्बियों और विचारधारा के मानने वालों के लिए खुले रहे हैं। हमारी इस सभा में जात-पाँत और देश-विदेश के भेद-भाव का विचार किए बिना, सब विचारकों को सम्मान का स्थान मिलता है। अतः यह सभा अहोभाग्य मानेगी, यदि आचार्य जी अपने चरण-कमलों से इस सभा को सुशोभित करें।''

पुरोहित गजानन शंकराचार्य की सेवा में गया और उन्होंने सभा में आना स्वीकार कर लिया। स्वामी जी का एक शिष्य चित्सुख इस निमन्त्रण को इतनी

सुगमता से मान लेने पर प्रसन्न नहीं था। वह इसमें स्वामी जी महाराज की हेठी समझता था। उसने आचार्य जी से कहा, ''गुरु जी! यह काशी है। यहाँ हमें अपनी मान-प्रतिष्ठा बनाए रखना है। यदि आप महाराज की सभा में बिना एक बार महाराज के यहाँ आए, चले जाएँगे तो सब समझने लगेंगे कि कोई राज्य-संरक्षण का भूखा है।''

''प्रिय चित्सुख!'' आचार्य जी का कहना था, ''किसी कार्य के उद्देश्य के विषय में भ्रामक कल्पना चिर स्थायी नहीं होती। हमारा, सभा में जाकर निर्भीकता से अपने विचार प्रकट करना इस भ्रम को दूर कर देगा।''

चित्सुख को इस युक्ति पर भी सन्तोष नहीं हुआ। उसने पुनः आग्रह करते हुए कहा, ''भगवन्! जनता में यह भावना उत्पन्न नहीं होने देनी चाहिए कि हम किसी राजा-महाराजा की कृपा के आकांक्षी हैं। हम नहीं चाहते कि भारत के भीतर चलने वाले मत-मतान्तरों में राज्य किसी प्रकार का भी हस्तक्षेप करे। अतः हमको अपने आसन पर बैठकर ही अपना प्रचार करना चाहिए।''

''नहीं चित्सुख! तुम हमारे कार्य को नहीं समझे। मैं किसी भी मत अथवा मतान्तर का पोषक नहीं हूँ। न ही मैं किसी मत का विरोध करने आया हूँ। मेरा उद्देश्य तो केवल यह है कि भारत की जनता, जो इस समय छोटे-छोटे सम्प्रदायों में बँट चुकी है, जिसकी भक्ति केवल स्थानीय देवताओं अथवा छुट-पुट राजाओं में विभक्त हो चुकी है, जो भिन्न-भिन्न दिशाभिमुख है, उसको एक राष्ट्र में बाँध दिया जाए। यह कार्य किसी एक मत-मतान्तर का नहीं और इसमें राज्य-सत्ता का हस्तक्षेप अनुचित भी नहीं।''

इस प्रकार स्वामी शंकराचार्य का काशी की धर्म-सभा में उपस्थित होना निश्चित हो गया।

:: 3 ::

विरोचन गजानन का इकलौता पुत्र था। अतः पिता का परमप्रिय होने के कारण कुछ हठी स्वभाव का हो गया था। इस पर भी उसका हठ खानपान की किसी वस्तु, वस्त्रादि अथवा अन्य शारीरिक सुविधाओं के लिए नहीं होता था। पुरोहित जी के घर में खाने-पीने की कमी नहीं थी। उनके यहाँ वस्त्रादि भी सुगमता से उपलब्ध थे। उनके प्रति काशी निवासियों की श्रद्धा-भक्ति भी पर्याप्त थी। साथ ही घर पर और घर के बाहर निशि-दिन बौद्धिक वातावरण व्याप्त रहने के कारण, घर के किसी भी प्राणी की प्रवृत्ति सांसारिक बातों की ओर न होकर आध्यात्मिक दिशा में ही जाती थी। इस पर भी वह हठी था। उसका हठ विचारों के विषय में था।

विरोचन के मस्तिष्क पर दशाश्वमेध घाट पर संन्यासियों की मंडली के गाने का विशेष प्रभाव पड़ा था। वह अपने पिता को यह कहते सुना करता था कि विश्वनाथ के अतिरिक्त अन्य कोई देवी-देवता संसार का कल्याण करने में समर्थ नहीं; उसके पिता कभी भी दुर्गा या काली के मन्दिर में नहीं जाते थे। उनके लिए विष्णु अथवा राम की भी वह महिमा नहीं थी, जो विश्वनाथजी की थी।

यद्यपि विरोचन के मन में अपने पिता के लिए अत्यन्त श्रद्धा और उनके विचारों के लिए भारी आदर था, इस पर भी उसकी विश्वनाथ पर इतनी श्रद्धा नहीं थी, जितनी कि उसके पिता की थी। उसका एक सहपाठी था उदयन। उदयन का नाना भागवत धर्मानुयायी था। वह वासुदेव का उपासक था। उदयन का घरेलू नाम उसके माता-पिता ने ऊदल रख छोड़ा था। वह अपने सहपाठियों में भी इसी उपनाम से विख्यात था। ऊदल विरोचन को वासुदेव की उपासना का चमत्कारक-वर्णन सुनाया करता था। विरोचन स्वयं भी वासुदेव मन्दिर की उपासना में मधुर गीत और दर्शनीय नृत्य होते देख चुका था। इससे विश्वनाथ की शुष्क उपासना का उसके मन पर बहुत फीका रंग चढ़ पाया था।

उस दिन वह स्वामी शंकराचार्य की मण्डली को एक ही स्वर में भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं की स्तुति में स्तोत्र पढ़ते सुन, एक विशेष विचार-प्रवाह में बह गया। वह मन में विचार करने लगा कि यह कैसे हो सकता है कि विश्वनाथ जी के मन्दिर में भग और लिंग की उपासना भगवती भवानी की उपासना के समान ही हो? दोनों के अर्थों में अन्तर है, दोनों के उद्देश्य में अन्तर है और फिर यह भग और लिंग भला माँ के मन्दिर में कैसे एक भली बात हो सकते हैं?

वह इसी प्रकार के विचारों में लीन रहने लगा। पाठशाला में वह 'महाभाष्य' पढ़ रहा था। साहित्य में वह कालिदास पढ़ता था। उसने 'वाल्मीकि रामायण' और 'जय' युद्ध की कथा भी पढ़ ली थी।

गुरु निरुपम विरोचन को अपने सब शिष्यों में श्रेष्ठ मानते थे, इस कारण उससे बहुत प्रेम करते थे। कभी गुरु जी स्वयं किसी कार्य में व्यस्त होते तो विरोचन को अन्य विद्यार्थियों को पढ़ाने के लिए कह देते थे।

आज वैसा ही एक दिन था। गुरु जी अपने एक यजमान के घर श्राद्ध कराने गए थे। विरोचन को विद्यार्थियों को पाठ पढ़ाने के लिए कह गए थे, परन्तु विरोचन को आज पढ़ाना अच्छा नहीं लग रहा था। इस पर भी गुरु की आज्ञा का उल्लंघन उचित न मान, वह पढ़ाने को उद्यत हो गया। उसने कहा, ''अच्छी बात है, आज साहित्य-चर्चा होगी।''

"पर विरोचन! आज तो व्याकरण पढ़ने का दिन है?" ऊदल ने कहा।

"नहीं, आज कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' का पाठ होगा।" ऊदल इससे बहुत प्रसन्न हुआ और तुरन्त उठकर मधुर स्वर में पाठ करने लगा—

शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्यतेजोऽभिवादयन्ति।

फिर इस श्लोक की व्याख्या करते हुए उसने बताया, "सूर्यकान्त मणि यद्यपि स्पर्श करने में शीतल होती है, परन्तु देखने से तेजोमय प्रतीत होती है। यही अवस्था वास्तविक तपस्वियों की होती है। वे देखने में तेज का पुंज प्रतीत होते हैं, परन्तु उनसे सम्पर्क बनने पर वे अति शीतल तथा शान्त स्वभाव वाले सिद्ध होते हैं।"

ऊदल इस व्याख्या को कहता हुआ हँसने लगा। विरोचन ने पूछ लिया, "किसलिए हँस रहे हो?"

"गुरुदेव!" ऊदल ने व्यंग्यात्मक भाव बनाते हुए कहा, "सूर्यकान्त मणि में तेज उसका अपना नहीं, वह तो सूर्य की किरणों से माँगा हुआ होता है। तो क्या तपस्वियों का तेज भी उधार माँगकर लिया होता है?"

"तो यह हँसने का विषय है क्या?"

"हँसने की बात यह है कि कालिदास जैसे विद्वान् की उक्ति में दोष दिखाई दे रहा है।"

"हाँ, ऊदल-जैसे मूर्ख के लिए। सुनो, तपस्वियों का तेज भी उनका अपना नहीं होता। वह घोर तपस्या करने पर परमात्मा से प्राप्त होता है। कालिदास की उक्ति में यथार्थता यह है कि सूर्यकान्त मणि से प्रतिबिम्बित तेज, जिस पर पड़ता है, उसको भस्म कर डालता है। यद्यपि मणि स्वयं शीतल ही रहती है। इसी प्रकार तपस्वी स्वयं मन से अत्यंत शांत होते हुए भी, तेज से अधर्म और पाप को भस्म करने का सामर्थ्य रखते हैं।"

इस समय एक अन्य विद्यार्थी ने पूछ लिया, "भगवन्! अधर्म और पाप एक ही वस्तु नहीं हैं क्या?"

"दोनों में अन्तर है। एक कर्म है और दूसरा चित्त पर प्रभाव।"

इस प्रकार विरोचन अपनी योग्यता की छाप पाठशाला के विद्यार्थियों पर लगा रहा था, परन्तु ऊदल आज रुष्ट हो गया था। उसको मूर्ख कहा गया था। एकाएक उसको शरारत सूझी। जब विरोचन ने आगे पाठ पढ़ने को कहा तो उसने बीच का पाठ छोड़कर कुछ आगे जाकर पढ़ना आरम्भ कर दिया। उसने पढ़ा—

अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात्पश्चात्

द्वारऽस्य पाण्डुसिकते पद पंक्तिदृश्यतेऽभिनवा॥

विरोचन को संदेह हो गया कि ऊदल शरारत करने लगा है। इससे उसने उसको हाथ के संकेत से रोकना चाहा, परन्तु ऊदल मुख दूसरी ओर किए हुए पढ़ता गया। उसने कहा—

'स्तनन्यस्तोशीरं शिथिलित्तमृणालैकवलयं
प्रियाया: साबाधं किमपि कमनीयं वपुरिदम्।
समस्ताप: कामं मनसिजनिदाघप्रसस्योर्न तु
ग्रीष्मस्यैवं सुभगमपराद्ध युवतिष॥

इतना पाठ कर ऊदल ने कहा, "गुरुदेव! एक शंका है।"

विरोचन नहीं चाहता था कि स्त्रियों की शरीर-रचना पर विद्यार्थियों में विवेचना आरम्भ करे। इस कारण उसने कहा, "इस शंका का तो गुरु जी ही आकर निवारण कर सकेंगे। मैं इस विषय में कुछ नहीं कह सकता।"

"परन्तु आज तो आप ही स्थानापन्न गुरु हैं और आप हमको 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' पढ़ा रहे हैं। साथ ही ऊदल-जैसा मूर्ख ऐसी गूढ़ तथा रहस्यमयी कथा को बिना गुरु की सहायता के समझ नहीं सकता।"

ऊदल की इस बात को सुनकर सब विद्यार्थीगण हँस पड़े। वे ऊदल की योजना को समझ गए। विरोचन भी समझ रहा था कि मूर्ख कहे जाने का बदला ले रहा है। उसने कुछ विचारकर कहा, "अच्छा करो प्रश्न।"

ऊदल ने कहा, "महाराज! हम समझना चाहते हैं कि गर्मी के ज्वर में और काम-ज्वर में क्या भेद है? दोनों का शरीर पर प्रभाव एक-जैसा होता है, इस पर भी एक में सौन्दर्य क्यों क्षीण हो जाता है और दूसरे में क्यों नहीं होता?"

"एक शारीरिक रोग होने से शरीर की सुन्दरता क्षीण कर देता है। दूसरा मानसिक रोग है, जिसका शरीर पर बहुत कम प्रभाव होता है। इसका मन पर ही अधिक प्रभाव होता है।"

"यदि यह मानसिक रोग है तो स्तनों पर खस का लेप क्यों करना चाहिए और कमलनाल का कंगन ढीला क्यों हो गया?

"इसके साथ ही, गुरुदेव! कवि आगे लिखता है—

क्षामक्षामकपोलमाननमुर: काठिन्यमुक्तस्तनं
मध्य: क्लान्ततर: प्रकामविनतावसौ छवि: पाण्डुरा।

"अर्थात् गाल मुरझा गए हैं, मुख सूख गया है, स्तनों की कठोरता जाती रही है, कमर पतली हो गई है।

"गुरुवर! यह सबकुछ हो जाने पर भी वह सुन्दर ही रही है?"

''ऐसा ही कवि ने लिखा है।''

''परन्तु यह सन्देहात्मक नहीं है क्या?''

''मैं नहीं जानता।''

''गुरुदेव! यह जानना चाहिए न? बिना जाने तो 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' की शिक्षा अधूरी रह जाएगी।''

''जो त्रुटि रह जाएगी, उसे गुरु जी पूरी कर देंगे।''

''पर हम तो आज ही पढ़ना चाहते हैं।'' एक अन्य विद्यार्थी ने कह दिया।

विरोचन ने क्रुद्ध होकर पूछा, ''क्या पढ़ना चाहते हो?''

''यह पढ़ना चाहते हैं कि स्तनों पर खस का लेप करने से क्या लाभ हुआ होगा? ज्वर में तो माथे पर अथवा कपाल पर चन्दनादि का लेप किया जाता है। क्या स्तनों का मन के साथ मस्तक से अधिक निकट का सम्बन्ध है?''

इस समय एक अन्य विद्यार्थी बोल उठा, ''काम-ज्वर से स्तनों का काठिन्य क्यों कम हो गया था?''

इस पर एक और ने पूछ लिया, ''और कमर पतली क्यों हो गई थी? ढीले तो हुए स्तन और पतली हो गई कमर—यह किस प्रकार?''

''पतली पड़ गई है तुम्हारी बुद्धि।'' विरोचन ने क्रुद्ध होकर कहा।

ऊदल खिलखिला कर हँस पड़ा और पूर्ण श्रेणी को सम्बोधन कर कहने लगा, ''गुरुदेव अभी अविवाहित कुमार हैं। अतएव वे काम-पीड़ित होने पर कुमारी के शरीर की रूपरेखाओं में होने वाले परिवर्तनों को न जानते हैं और न उनके विषय में कुछ बता सकते हैं। इस कारण गुरु जी से प्रश्न न किए जाएँ।''

विरोचन मित्रता के आवरण में लज्जित किए जाने पर झेंप गया। परन्तु इस प्रकार स्त्रियों के विषय में वाद-विवाद बन्द होता देख, वह चुप रहा। जब ऊदल कह चुका तो उसने कहा, ''मैंने किसी स्त्री को काम-ज्वर से पीड़ित नहीं देखा। इस कारण कवि द्वारा शकुन्तला का इस अवस्था का वर्णन, जैसा है, वैसा ही स्वीकार कर लेना चाहिए।''

विरोचन की इस स्वीकारोक्ति को सुनकर ऊदल ने प्रसन्न हो कहा, ''अत: मेरा प्रस्ताव है कि आज पाठशाला में अवकाश कर दिया जाए और अभिज्ञान शाकुन्तलम् के पाठ और अध्ययन को किसी ऐसे समय के लिए स्थगित कर दिया जाए, जब हमारे युवक गुरु इस विषय का स्वयं अध्ययन कर चुके हों।''

सबने ऊदल के इस प्रस्ताव का समर्थन कर दिया और पाठशाला का कार्य समाप्त कर विद्यार्थीगण जाने के लिए उठ खड़े हुए।

विवश विरोचन गुरु-स्थान को त्यागकर, विद्यार्थियों में आ खड़ा हुआ।

जब सब विद्यार्थी चले गए और केवल ऊदल ही रह गया तो उसने कुछ रोष से पूछा, "ऊदल! यह सब तुमने क्यों किया है?"

"इसलिए कि आज हम दोनों को एक स्थान पर चलना है।"

"कहाँ?"

"वासुदेव के मन्दिर में आज 'भागवत पुराण' का पारायण समाप्त हो रहा है। इसके उपलक्ष में कीर्तन होगा। वह सुनने के लिए वहाँ हमें चलना चाहिए।"

"परन्तु गुरु जी समय से पूर्व पाठशाला बंद कर देने पर रुष्ट जो होंगे?"

"बन्द कहाँ की है? 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' का पाठ हुआ है। उस पर विवेचना भी हुई है। इस वाद-विवाद में कुछ ऐसी बातें आईं, जिनके विषय में तुम्हें अनुभव नहीं था। तुम उन बातों का उत्तर नहीं दे सके और पाठ कुछ शीघ्र ही समाप्त कर दिया गया। अर्थात् पाठशाला का काम समाप्त हो गया।"

"यह सब तुमने किया है। मैं तो अभी पढ़ाना चाहता था।"

"तो ऐसा करो, तुम पढ़ाओ, परन्तु मैं तो वासुदेव के मन्दिर में जा रहा हूँ।"

"अच्छा ठहरो। मैं भी चलता हूँ।"

"हाँ, वहाँ दक्षिण की देवदासी रुक्मिणी वारांगल का नृत्य भी हो रहा है।"

"यह तुमने पहले क्यों नहीं बताया?"

"तुम्हारा मूर्ख मित्र कभी-कभी भूल जाता है न।"

दोनों हँसते हुए चल पड़े।

:: 4 ::

वासुदेव के मन्दिर में भक्तों का जमघट लग रहा था। राधाकृष्ण की मूर्ति के सम्मुख, एक विशाल प्रांगण में लकड़ी का ऊँचा मंच बना हुआ था और उस पर रुक्मिणी और उसकी नौ अन्य साथिनें नृत्य के लिए तैयार बैठी थीं। वे दसों पूर्ण श्रृंगार किए हुए थीं। उनके समीप मृदंग और वीणा बजाने वाले बैठे हुए थे।

जब विरोचन और ऊदल वहाँ पहुँचे तो प्रांगण दर्शकों से खचाखच भर चुका था। प्रांगण में और उसके चारों ओर बरामदों में तिल धरने को स्थान नहीं था और दर्शकगण अभी आ रहे थे।

वासुदेव के मन्दिर के पुजारी ऊदल के नाना थे। ऊदल के पिता सुरेश्वर भट्ट का दूसरा विवाह हुआ था। सुरेश्वर भट्ट की पहली स्त्री पुजारी त्रिलोचन की लड़की थी और ऊदल उसका ही लड़का था। भट्टजी का दूसरा विवाह वासुदेव के मन्दिर के पुजारी की लड़की से हुआ था। वे ऊदल की विमाता के

पिता थे। सुरेश्वर भट्ट की पहली स्त्री का देहान्त हो चुका था। पुजारीजी की लड़की और ऊदल की विमाता का नाम शर्मिष्ठा देवी था और उसका ऊदल पर नियंत्रण बहुत ढीला था। यही कारण था कि ऊदल बहुत सीमा तक उच्छृंखल होता जा रहा था। इस पर भी वह अपनी विमाता की बहुत सेवा-शुश्रूषा करता था। इसके परिणामस्वरूप वह अपने पति और पिता के समक्ष ऊदल की बहुत प्रशंसा करती रहती थी। ये दोनों ऊदल से बहुत प्रेम करते थे और ऊदल की उच्छृंखलता बढ़ती जाती थी।

भागवत की कथा सात दिन से हो रही थी और इस काल में भक्ति का स्रोत भक्तों के हृदय को भक्ति रस से द्रवित करता रहा था।

सातों दिन कथा के पूर्व और पश्चात् कीर्तन होता रहा था। इन दिनों काशी की प्रसिद्ध गायिका कमलिनी कीर्तन कराती रही थी। आज कथा का अन्तिम दिवस था और दक्षिण की देवदासियों की मंडली कीर्तन करने वाली थी। इस मंडली की अग्रणी रुक्मिणी वारांगल थी।

ये सब चिदम्बरम् की रहने वाली थीं और देशाटन के लिए निकली थीं। जहाँ जाती थीं, वहाँ भगवत् भजन और कीर्तन करती थीं। ये प्राय: शिव तथा वासुदेव के मन्दिरों में ठहरती थीं और वहीं इनका कीर्तन होता था।

भागवत् कथा के अन्तिम दिवस यह मण्डली काशी में विराजमान थी और वासुदेव मन्दिर के पुजारी के घर पर ठहरी हुई थी। अत: पिछले दिन यह घोषणा की गई थी कि पारायण की समाप्ति पर देवदासी वारांगल का कीर्तन और नृत्य होगा।

ऊदल ने इसकी सूचना विरोचन को भी दी थी, परन्तु विरोचन इसको सर्वथा भूल चुका था। पाठशाला बन्द हो जाने पर जब ऊदल ने यह बात स्मरण कराई तो दोनों तेज चलते हुए मन्दिर में जा पहुँचे। इनको आया देख ऊदल के नाना ने, जो मन्दिर की मूर्ति के समीप खड़े थे, इनको प्रांगण के एक ओर की छत पर चले जाने का संकेत कर दिया। वे वहाँ चढ़ गए और मुँडेर के साथ लगकर खड़े हो गए। वहाँ पर अन्य किसी को जाने की स्वीकृति नहीं थी। यहाँ से मन्दिर का पूर्ण दृश्य और मंच भली-भाँति दिखाई पड़ता था।

वहाँ पहुँचते ही ऊदल ने विरोचन से कहा, "वह देखो विरोचन! उन लड़कियों में जो सबसे आगे बैठी है, वारांगल है। कैसी लग रही है तुम्हें वह ?"

"श्रृंगार तो बहुत किया हुआ है उसने। विशेषरूप में वेणी पर मोतियों का गजरा और गले में पाटलों की माला अति शोभा दे रही है।"

"तुम भी बुद्धू हो विरोचन! मैं तुमसे रुक्मिणी वारांगल के विषय में पूछ रहा हूँ न कि उसके वस्त्राभरणों के विषय में!"

विरोचन ऊदल के मुख पर देखकर पूछने लगा, "तो उसने यह सब क्यों पहना हुआ है?"

"तुमसे प्रशंसा करवाने के लिए, जो तत्त्व की बात छोड़ भूसे का मूल्यांकन करने लगे हो।"

"और तत्त्व की बात क्या है?"

"तत्त्व की बात है, वे बैठी हुई लड़कियाँ। उनके आभरण तो गेहूँ के दाने पर भूसा है।"

"ऊदल! कठिनाई यह है कि भूसे के भीतर गेहूँ का दाना तो दिखाई देता नहीं। यदि उपनिषद् के कथन को सत्य मान लिया जाए, तो वह शरीर भी, जिसका बहुत कम भाग दिखाई पड़ रहा है, गेहूँ पर छिलका मात्र ही है। वास्तविक वस्तु तो आत्मा है, जो इस प्रकार नहीं देखा जा सकता।"

"तो वह कैसे देखा जा सकता है?"

"उसके देखने के लिए उसके कर्मों को और उसके मन और बुद्धि के विकास को देखना आवश्यक है। यह सब इतनी दूर खड़े होकर देखने से नहीं हो सकता।"

"तो तुम उसको समीप से देखना चाहते हो?"

"केवल देखना ही नहीं, प्रत्युत उसकी प्रत्येक बात की जाँच-पड़ताल करना भी।"

"यह इस समय तो हो नहीं सकता। आज सायंकाल चाहो तो आ जाना। मैं तुमको उससे मिला दूँगा। शेष तुम स्वयं देख लेना।"

"ऐसा प्रतीत होता है कि तुमने उसको समीप से देखा है।"

"रुक्मिणी को तो नहीं; हाँ, वह जो उसके पीछे की पंक्ति में तीसरे स्थान पर बैठी है, मुझे सबसे अधिक भली लग रही है।"

"क्या भलापन है उसमें?"

इस समय देवता की आरती आरम्भ हो गई। लड़कियाँ और सब दर्शकगण उठकर खड़े हो गए और पुजारी खड़ा हो आरती गाने लगा। पुजारी के समीप खड़े बहुत-से लोग मंजीरे, झाँझर, घड़ियाल, शंख आदि बजाते हुए तथा धूप-दीप जलाए हुए आरती गा रहे थे।

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्
लोकस्य सद्यो विधुनीति कल्मषं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः
अनन्त वैकुण्ठ मुकुन्द कृष्ण गोविन्द दामोदरमाधवेति
वक्तुं समर्थोऽपि नवक्ति कश्चिदहो जनानां व्यवसनाभिमुख्यम्।

प्रत्येक पद के पश्चात् भक्त-जन 'जय जय देव हरे' का उच्चारण करते

थे। इस प्रकार एक घड़ीभर आरती चलती रही। फिर कितनी ही देर तक 'जय जय देव हरे, जय जय देव हरे' का कीर्तन होता रहा।

फिर सब लोग बैठ गए और पुजारी मंच पर आकर भक्तजनों को सम्बोधित कर कहने लगा, "श्री आनन्दकन्द नन्द नन्दन, भगवान् श्री कृष्णचन्द्र गोपाल, गोवर्धनधारी राधारमण की अपार कृपा से हमारा भागवत पारायण आज निर्विघ्न समाप्त होता है और इसके उपलक्ष्य में चिदम्बरम् के महादेव के मन्दिर की ये देवदासियाँ भगवान् के चरणों में अपनी अर्चना प्रस्तुत करेंगी। भक्तजन इनकी भक्तिभावयुक्त तथा रसमयी उपासना को देख भक्तिलाभ करेंगे। सर्वप्रथम श्रीमती रुक्मिणी वारांगल भगवान् की प्रार्थना में अपना मनोहर संगीत और नृत्य करेंगी।

"मेरी वृन्दावन विहारी, गोपियों के आराध्य और गोवर्धनधारी भगवान् से अनुनय है कि वे भक्तों के मन में रुक्मिणी देवी की रसमय लीला का वास दें।"

इस समय रुक्मिणी उठी और मूर्ति की ओर मुख कर, हाथ जोड़ शीश नवा, अत्यन्त मधुर स्वर में गायन करने लगी। उसने गाया—

दो भक्तिभाव हमको कृपालु मधुसूदन तुम हो दया भरे,
दीन हीन याचक हम बालक हैं, हाथ पसारे द्वार खड़े॥
मयात्र संस्थिते नेत्रः सदैव हृदि संस्मृतः।
नवीन नीरद श्यामो नीलेन्दीवर लोचनः॥
पीनवक्षः पृथुश्रोणिः कम्बु कण्ठोऽल्पकोदरः।
वृत्तावगूढ़ जंघोऽपि प्रांशु ग्रीवस्तथोन्सः॥
दो भक्ति भाव हमको कृपालु मधुसूदन तुम हो दया भरे,
दीन हीन याचक हम बालक हैं, हाथ पसारे द्वार खड़े॥
राकेन्दु चारु वदनो नीलालकविराजितः।
अम्भोजपल्लवाँङ्घ्रिभ्यां नखचन्द्र कलां दधत्॥
रत्न किंकिणि संसक्त पीत पीताम्बरां चितः।
वलि वल्गूदरो नाभि गम्भीर्यागीर्ण विष्टयः॥
दो भक्ति भाव हमको कृपालु मधुसूदन तुम हो दया भरे,
दीन हीन याचक हम बालक हैं, हाथ पसारे द्वार खड़े॥
वैजयन्ती स्रजा युक्तो वनमालाल्लसोल्लसत्।
ऊर्मी कावलयाद्यैश्च केयूरा लम्बसद्भुजः॥
हरिकोद्दीप्त चुबुको गजमौक्तिकनासिकः।
संशोभिशोणतिलकः स्फुरन्मकर कुण्डलः॥

दो भक्ति भाव हमको कृपालु मधुसूदन तुम हो दया भरे,
दीन हीन याचक हम बालक हैं, हाथ पसारे द्वार खड़े॥

इसके साथ ही रुक्मिणी ने नृत्य का ठेका आरम्भ कर दिया—छन छननन छन छननन छन छन छन—पायलों की ध्वनि से प्रांगण गूँजने लगा। श्रोतागण मंत्र-मुग्ध शान्त बैठे सुन रहे थे। रुक्मिणी नृत्य की अनेकानेक, अति सुन्दर कौशलपूर्ण मुद्राएँ बनाती हुई गा रही थी—

'तुम रास करो परिहास भरा, लोचन विलोल कलोल करें।
वेणु मधुर अधरन रस लेती, उसमें वे मीठे बोल भरें॥
मायूर मुकुटो वेणुवेत्र हस्तोऽति सुन्दरः।
किशोरो दर्शनीयांगः सर्वाभरण भूषणः॥
कोटीन्दरासे वितांधिः कोटीन्दुद्युतिशीतलः।
कोटि कल्मद्रमा मोदः कोटि कौस्तुभ भासुरः॥
तुम रास करो परिहास भरा, लोचन विलोल कलोल करें।
वेणु मधुर अधरन रस लेती, उसमें वे मीठे बोल भरें॥
गोपाल बालकैः क्रीडन् कदाचित्पादुरास ह।
साष्टांग प्रणतं दीन मनु कम्पयोचिवान्विभुः॥
साधु साधो महाभाग मद्भक्त्या मां भजन्निह।
स्थितः सुतपसा सिद्धः शाण्डिल्यवृणु वाञ्छितम्॥
तुम रास करो परिहास भरा, लोचन विलोल कलोल करें।
वेणु मधुर अधरन रस लेती, उसमें वे मीठे बोल भरें॥

इस प्रकार प्रार्थना-उपासना के साथ नृत्य चल रहा था और श्रोतागण मुग्ध हो, सिर हिला-हिला कर नितम्ब और पयोधरों की लीला देख रहे थे। सामने घर की छत पर खड़े विरोचन और ऊदल आनन्द-विभोर हो, उस दैवी नृत्य को देख और संगीत को सुन रहे थे। इस पर नृत्य में सबकुछ ही प्रशंसात्मक हो, ऐसा विरोचन का मत नहीं था। इस कारण वह कभी-कभी जब मुद्राएँ अति वासनामय हो जाती थीं, चंचलता का अनुभव करने लगता था। यद्यपि वह स्पष्ट रूप में कह नहीं सकता था कि क्या है, जो उसको पसन्द नहीं, इस पर भी उसका अन्तरात्मा कह रहा था कि इस मन्दिर में, यह उचित के अतिरिक्त हो रहा है।

प्रांगण के वाम पक्ष में गृह की छत पर स्त्रियाँ बैठी थीं। विरोचन की दृष्टि बार-बार उस ओर जाती थी और उन स्त्रियों में बैठी एक कुमारी को वह बहुत ध्यानपूर्वक देख रहा था। वह कभी रुक्मिणी का नृत्य देखता था और कभी उस छत पर बैठी कुमारी को।

वह कुमारी ऊदल की बहन मायाविनी थी। वह बारह-तेरह वर्ष की

युवती, अति सुन्दर रूपरेखा वाली, गौरवर्णीय और छरहरे शरीर की थी। मायाविनी के साथ एक अन्य लड़की बैठी थी। रह-रहकर वह मायाविनी के गले में बाँह डाल, उसको समीप खींच, उसके कपोल पर अपने अधर रख देती थी और मायाविनी मुस्करा देती थी। इस पर उसकी सखी उसके कान के पास मुख ले जा, टेढ़ी दृष्टि से रुक्मिणी की नृत्य-मुद्राओं को देखती हुई कुछ कहती और मायाविनी खिलखिला कर हँस पड़ती तथा अपने अनार के दानों के समान दाँतों की शोभा बिखेर देती।

विरोचन यह सबकुछ देख, मन में चंचलता अनुभव कर रहा था। इस समय देवदासियाँ उठकर रास मण्डल का व्यूह बना नाचने लगीं। इस पर ऊदल ने विरोचन को एक की ओर, जो हरे रंग की साड़ी पहने थी, संकेत कर कहा, ''विरोचन भैया! देखो, वह है।''

''वह कौन और क्या?''

''वह हरी साड़ी वाली, जिसने कानों में श्वेत कुण्डल पहने हैं, जो अभी-अभी रुक्मिणी से आँख लड़ाकर निकल गई है।''

''हाँ, तो क्या है उसको?''

''वह बहुत सुन्दर है।''

''सुन्दर तो सब देवदासियाँ होती ही हैं। जो भगवान् की सेवा में चली गईं, वह संसार का पूर्ण सौन्दर्य-भार वहन करने लगती हैं।''

''पर भैया! वह उन सबमें श्रेष्ठ है।''

''तो फिर?''

''मुझको बहुत प्यारी लग रही है।''

''तो मैं क्या करूँ?''

''मुझको व्याकरण स्मरण करने से संगीत अधिक रुचिकर लगने लगा है।''

''संगीत? तुम सीखोगे? काशी के सब गधे तुम्हारा संगीत सुनकर अपना-अपना स्वर साधने लगेंगे।''

दोनों हँसने लगे। इस समय विरोचन ने कहा, ''ऊदल भैया! मैं जा रहा हूँ।''

''कहाँ?''

''दुर्गा मन्दिर।''

''वहाँ क्या है?''

''कई दिन से वहाँ एक आचार्य अपने शिष्यों सहित आए हुए हैं।''

''तो फिर क्या हुआ? काशी में नित्य-नये सिड़ी, साँड़, संन्यासी आते रहते हैं।''

"नहीं ऊदल! वह सबसे विलक्षण है।"

"प्रत्येक मनुष्य दूसरे से विलक्षण होता है। इसमें वैचित्र्य क्या है?"

"तुमको उस छोकरी में वैचित्र्य दिखाई दे रहा है। ठीक है न?"

"वह है नीलाम्बरा। में उससे प्रेम करने लगा हूँ।"

"तो किया करो। बनो मूर्ख और ले लो मजा।"

"वाह विरोचन! तुम्हारे मुख में घी-शक्कर। तुम्हारा कहा सत्य हो। देखो आधे प्रहर में कीर्तन समाप्त होगा और हम इन देवदासियों से मिलने जाएँगे। मैं तुम्हारा परिचय अपनी प्रिया से कराऊँगा।"

"और यदि उसने जूता उठाकर हमारा सत्कार किया तो?"

"नहीं दादा! वह मुझ पर लट्टू है।"

"तो तुम जाओ उससे मिल लेना। मैं तो उस संन्यासी से मिलने जा रहा हूँ। और देखो, मैंने मायाविनी को रात्रि में मिलने का वचन दिया था। तुम्हारे घर पर भोजन करने की बात भी थी, परन्तु अब मैं वहाँ नहीं जा सकूँगा। मायाविनी से मेरी ओर से क्षमा माँग लेना।"

"न भैया! मैं उससे कुछ नहीं कहूँगा। वह इसमें मुझको ही दोषी ठहराएगी और फिर माँ से शिकायत कर देगी! तुम तो जानते हो कि मैं माँ को नाराज नहीं कर सकता।"

"अच्छी बात है। मैं स्वयं उससे मिलकर क्षमा माँग लूँगा।"

:: 5 ::

कीर्तन और नृत्य समाप्त हुआ तो भक्तगण कुछ देर तक मंत्रमुग्ध देवदासियों को देखते रह गए। देवमूर्ति से अधिक आकर्षण देवदासियों का था। पुजारी ने देवमूर्ति के आगे पर्दा खींच दिया। इसका अर्थ था कि मन्दिर बन्द हो गया और लोग चले जाएँ, परन्तु लोग नहीं उठे और देवदासियों को देखते रहे। उन्होंने पाँवों में से पायल खोल दी थीं और मंच पर खड़ी हो, प्रांगण में से जाने का मार्ग बन जाने की प्रतीक्षा कर रही थीं। जब लोग वहाँ से नहीं हटे तो पुजारी स्वयं मंच पर आ गया और भीड़ को हट जाने के लिए कहने लगा।

बहुत कठिनाई से भीड़ छँटनी आरम्भ हुई और एक तंग मार्ग, मंच से मन्दिर द्वार तक बन सका। देवदासियों को उस मार्ग से मन्दिर-द्वार से बाहर ले जाया गया। मन्दिर के सामने, पथ के दूसरी ओर पुजारी जी का विशाल गृह था और देवदासियाँ उसी गृह के एक कक्ष में ठहरी हुई थीं।

वे वहाँ पहुँचीं तो पुजारी की पत्नी, मायाविनी और ऊदल खड़े थे। ऊदल का मामा शंकर भी वहाँ उनकी प्रतीक्षा कर रहा था। शंकर ने रुक्मिणी के

अनुपम नृत्य और संगीत पर बधाई दी। ऊदल ने उस हरी साड़ी वाली देवदासी को उसके सबसे श्रेष्ठ होने पर प्रशंसात्मक वाक्य कहे।

इसी हरी साड़ी वाली दासी ने मुस्कराकर उसकी प्रशंसा का स्वागत किया। इससे ऊदल ने उत्साहित होकर कहा, ''नीलाम्बरा देवी! आपको नृत्य में मुख्य स्थान ग्रहण करना चाहिए था? आपका नृत्य सबसे श्रेष्ठ था।''

''पर मैं तो मुख्य थी ही। हम सब जानती हैं कि मैं सबसे अच्छा नृत्य करती हूँ। रुक्मिणी को तो हमने अपनी मण्डली में मुख्य स्थान इसलिए दिया हुआ है कि वह आयु में बड़ी है।''

''मन्दिर में तीन-चार सहस्र के लगभग भक्तजन उपस्थित थे और सबकी दृष्टि आपकी ओर ही लगी थी।''

''मुझे पता नहीं। इस पर भी मैं अपने को किसी से कम नहीं मानती।''

''मैं अपनी बात तो कह सकता हूँ। एक क्षण के लिए भी मेरी दृष्टि आप पर से हटी नहीं थी।''

''मैं आपका धन्यवाद करती हूँ।''

''यह सब आपने किससे और कहाँ पर सीखा है?''

''चिदम्बरम् में हमारे गुरु श्री रमणाचार्यजी हैं। वे जो वीणा बजा रहे थे, गुरु जी के सुपुत्र माधव हैं। बहुत भले और भक्त व्यक्ति हैं। आजकल वे ही हमको नित्य-नये राग-रागिनियाँ सिखाते रहते हैं। मुझको वे वीणा भी सिखा रहे हैं।''

''आपकी मंडली में क्या कोई पुरुष सम्मिलित नहीं हो सकता?''

''कौन सम्मिलित होना चाहता है?''

''मान लीजिए मैं ही सम्मिलित होना चाहूँ तो?''

''आप? यह कैसे हो सकता है? हमारी मंडली में सम्मिलित होने के अर्थ तो हैं घर-गृहस्थी का सर्वथा त्याग।''

''तो क्या माधवजी घर-गृहस्थी से पृथक् हो गए हैं।''

''वे हमारी मंडली में थोड़े ही हैं। वे तो हमारे गुरु होने के नाते हमारी देख-भाल करते हैं।''

''देख-भाल?''

''हाँ, हम सब स्त्रियाँ ही तो हैं। हमें मार्ग में किसी प्रकार का कष्ट न हो, इस कारण गुरु जी ने उनको साथ कर दिया है। नारायणजी जो मृदंग बजा रहे थे, वे भी यही काम करते हैं।''

''तो एक मुझको भी अपनी देखभाल के लिए साथ ले चलिए। मैं आपकी देखभाल भी करूँगा और वीणा-वादन भी सीखूँगा।''

"आप माधवजी से पूछ लीजिए। मेरा चित्त भी करता है कि आप हमारे साथ रहें। जाइए, माधवजी से कह दीजिए कि मैंने आपको भेजा है।"

परन्तु जब माधव को ऊदल ने अपने मन की इच्छा बताई तो उसने उसको चिदम्बरम् का मार्ग बता दिया। माधव का कहना था कि गुरुदेव श्री रमणाचार्यजी की स्वीकृति के बिना कोई भी इस मंडली में सम्मिलित नहीं किया जा सकता।

इस पर ऊदल ने निवेदन किया, "अभी मुझे मंडली के साथ चलने की स्वीकृति दे दीजिए। जब सब लोग वापस चिदम्बरम् पहुँचेंगे, तब गुरुदेव की स्वीकृति ले ली जाएगी।"

"परन्तु मंडली के साथ रहने की स्वीकृति ही तो उनसे लेनी है।"

"चिदम्बरम् तो यहाँ से बहुत दूर है। जब तक मैं वहाँ से स्वीकृति लेकर लौटूँगा, आप न जाने कहाँ जा पहुँचेंगे।"

"पर ऊदल महोदय! आपका उद्देश्य इस मंडली में सम्मिलित होना है अथवा भगवान् के भक्तों में? हमारा सम्प्रदाय है भागवत् पंथ। उसमें सम्मिलित हो जाइए। पश्चात् गुरु जी आपकी योग्यता जानकर आपको किसी मंडली में लगा देंगे। वे किस मंडली में सम्मिलित करेंगे, यह मैं कैसे बता सकता हूँ?"

"इसीलिए तो कहता हूँ कि मुझको आप अपनी मंडली में सम्मिलित कर लीजिए। मुझे आपके सम्प्रदाय में सम्मिलित होने की आवश्यकता नहीं।"

इस उत्तर से माधव को ऊदल का मंडली में स्थान पाने का वास्तविक प्रयोजन समझ में आ गया। माधव ने ऊदल के मुख पर देखते हुए पूछा, "कहीं आपका किसी देवदासी से मोह तो नहीं हो गया है?"

ऊदल की हँसी निकल गई। उसने कहा, "मनुष्य के साथ मनुष्य का सम्बन्ध तो भगवान् ही निश्चित करता है। बिना भगवान् की इच्छा के कभी कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता। मुझको आपके पास नीलाम्बरा ने भेजा है।"

"हमारी मंडली को आप जैसे व्यक्ति की आवश्यकता नहीं। रहा आपका संगीत इत्यादि सीखना, सो तो आप काशी में भली-भाँति सीख सकते हैं।"

"पर मैं तो आप में भक्ति-भाव रखता हूँ।"

"मेरे में भक्ति अथवा किसी देवदासी के लिए प्रेम?"

"दोनों पर्यायवाचक शब्द हैं। मैं देवदासियों के लिए भक्ति-भाव अथवा प्रेम-भाव में अन्तर नहीं समझता। देखिए माधवजी! भगवान् गोपाल कृष्ण के रूप-लावण्य पर जब गोपियाँ मोहित हो जाती थीं तो वे भगवान् के लिए भक्ति-भाव से परिपूर्ण हो जाती थीं। इसी प्रकार यदि मैं इन गोपियों के रूप-लावण्य पर मोहित हो गया हूँ तो इसमें मैंने क्या अनुचित बात की है?"

"तुम तो कामाभिभूत हो रहे हो। तुम्हारी आँखें स्पष्ट बता रही हैं कि तुम भक्ति-रस से नहीं भर रहे प्रत्युत तुम कामवश होकर वासनामय हो रहे हो।"

"आप यह कैसे कहते हैं? मैं तो अपने में वे ही भाव पाता हूँ, जो देवी भक्तिमती औंडल अपने में बसने वाली, भगवान् की मनमोहक मूर्तिछवि देख अनुभव करती थीं। ऐसी अवस्था में उन्मुक्त हो वे गाने लगती थीं—

मधुरं मधुरं वपुरस्य विभौः
मधुरं मधुरं वदनं मधुरम्।
मधु गन्धि मृदुस्मितमेतदहो,
मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम्।

अथवा जैसे गोपियाँ कह उठती थीं—

सौन्दर्यामृत सीधु सिन्धु ललना चित्ताद्रिसम्प्लावकः
कर्णानन्दि सनर्मरम्य वचनः कोटीन्दु शीतांगकः
सौरम्यामृत सम्प्लवा वृत जगत् पीयूष रम्याधरः
श्री गोपेन्द्रसुतः संकर्षति बलात् पंचेन्द्रियाण्यालिमे।

"माधवजी, आप वासना की बात क्या कहते हैं? मैं तो ऐसा ही अनुभव करता हूँ जैसा श्रीमद्भागवत् में लिखा है—

का त्वा मुकुन्द महती कुल शील रूप-
विद्या वयोद्रविणधामभिरात्म तुल्यम्
धीरा पतिं कुलवती न वृणीत कन्या
काले नृसिंह नरलोक मनोऽभिरामम्।

"श्री कृष्णचन्द्र की रूपराशि देख कौन कुलवन्ती कन्या है, जो उनसे विवाह की इच्छा नहीं करती? ऐसे ही माधवजी! जब मैं इन देवदासियों के रूप-सौन्दर्य को और इनकी कला को देखता हूँ तो मैं क्यों इनसे विवाह की इच्छा न करूँ?"

माधव कामातुर ऊदल की बातों को सुन मुस्कराकर पूछने लगा, "पर वे तो दस हैं। तुम किससे विवाह की इच्छा रखते हो?"

ऊदल की यह समझ में आया कि माधव उसकी प्रार्थना को स्वीकार करने वाला है। अतः उसने तुरन्त कह दिया, "यों तो ये सब कुमारियाँ विवाहने के योग्य हैं, परन्तु मेरी दृष्टि में नीलाम्बरा सर्वांग सुन्दरी है।"

"ओह!" माधव ने अचम्भा प्रकट करते हुए पूछा, "तो तुमने उस बालिका से बात की है।"

"इस रूप में तो नहीं की। इस पर भी मैं समझता हूँ कि यदि मैं प्रस्ताव करूँगा तो वह अस्वीकार नहीं करेगी।"

माधव जब पूर्ण रहस्य को जान गया तो डाँटकर ऊदल को कहने लगा, "देखो ऊदल भट्ट! यहाँ से भाग जाओ। अन्यथा मैं तुम्हारी ऐसी गत बनाऊँगा कि जीवनपर्यन्त नहीं भूल सकोगे। पुनः इस ओर दृष्टि नहीं करना।"

माधव को क्रोध से लाल-पीला होते देख, ऊदल विस्मय में मुख देखता रह गया।

:: 6 ::

ऊदल अपने नाना के घर से निकलते समय निराशाग्रस्त था। उसका मुख मलिन पड़ गया था। वह विचार कर रहा था कि माधव से डाँट खाकर क्या उसको नीलाम्बरा का विचार छोड़ देना चाहिए? उसकी बुद्धि कहती थी कि नीलाम्बरा से विवाह असम्भव है। वह देवदासी है। देवता की वस्तु को वह कैसे उठाकर ले जा सकता है! अतः उसको नीलाम्बरा का विचार छोड़ अपने अध्ययन में लग जाना चाहिए; अभी उसको विषय-वासना का विचार छोड़ देना चाहिए।

परन्तु उसका मन इससे कुछ भिन्न बात कहता था। धमकी मात्र से अपने निश्चय से बदल जाना तो भीरुता है। वह जानता था कि माधव को वह पछाड़ सकता है। इसलिए उसके कह देने मात्र से कि वह उसको पीटेगा, अपने विचार को छोड़ देना तो लज्जा की बात है।

इस प्रकार की दुविधा में पड़ा हुआ, अपने व्यवहार के विषय में अनिश्चित मन वह घर के बाहर गम्भीर मुद्रा में खड़ा था। इस समय उसका मामा शंकर घर से निकला और उसके पास आकर खड़ा हो गया। शंकर की आयु उन्नीस-बीस वर्ष के लगभग थी। ऊदल भी लगभग उसी की आयु का था। दोनों युवा होने से एक-दूसरे के मनोभावों को समझते थे। ऊदल को खिन्न मुद्रा में खड़े देख शंकर ने पूछ लिया, "मुख मलिन क्यों हो रहा है ऊदल?"

ऊदल को उसका रुक्मिणी के समीप खड़ा होना स्मरण हो आया। इस कारण उसने शंकर के प्रश्न का उत्तर देने की अपेक्षा पूछ लिया, "मामा! रुक्मिणी से क्या बातें हो रही थीं।"

"जो तुम नीलाम्बरा से कह रहे थे।"

"मैं तो केवल उसको यह कह रहा था कि मैं उनकी मण्डली में सम्मिलित होना चाहता हूँ। माधव से वीणा-वादन सीखने का विचार था।"

"तो तुम उस भोली-भाली लड़की से झूठ बोल रहे थे?"

"झूठ नहीं मामा! सत्य कह रहा था।"

"तो उसने क्या कहा?"

''उसने कहा कि माधव से मिल लूँ। मैं माधव से पूछने गया तो उसने कहा है कि वह मेरी हड्डी-पसली चूर-चूर कर देगा।''

शंकर हँस पड़ा। ऊदल उसके हँसने का अर्थ समझ नहीं सका। शंकर ने बताया, ''तुमने काशी के युवकों का नाम कलंकित कर दिया है।''

''क्यों ? मैंने क्या किया है ?''

''तुम्हें कहना चाहिए था कि वह तुमसे मल्ल-युद्ध कर ले। मुझको विश्वास है कि तुम उससे बलवान हो।''

''ठीक है मामा! मैंने उससे कुछ नहीं कहा। अब उसे कुश्ती करने की चुनौती दे दूँगा।''

''देखो, मैं तुमको एक रहस्य की बात बताता हूँ। ये सब देवदासियाँ वास्तव में वेश्याएँ हैं। ये गाना-बजाना तो देव-मन्दिरों में करती हैं और धन प्राप्त करती हैं धनी-मानी लोगों से। तुमको निर्धन पण्डित का पुत्र समझ माधव ने भगा दिया है।''

''मामा!'' ऊदल ने लाल मुख हो कहा, ''यह सब झूठ है। वे धनी-मानी लोगों से दान-दक्षिणा में धन माँगती हैं।''

''तो तुमको मुझ पर विश्वास नहीं आया ? देखो मेरे साथ रुक्मिणी ने यह निश्चय किया है कि यदि मैं पाँच सौ रजत उसको दूँ तो रात्रि में वह मेरे शयनागार में आ जाएगी। यह रुपया मन्दिर के कोष के नाम से दिया जाएगा।''

ऊदल इस बात को सुन विस्मय से मुख देखता रह गया। शंकर ने कहा, ''मैं पाँच सौ रजत रुक्मिणी के हाथ में दे रहा हूँ। मैं माधव को नहीं जानता। अतएव वह रात्रि के प्रथम चरण में मुझको मन्दिर के पार्श्व में मिलेगी।''

''पाँच सौ रजत तो बहुत अधिक हैं, विशेषरूप में जब वे वेश्या मात्र हैं।''

''मैं समझता हूँ कि तुम नीलाम्बरा से उसका मूल्य निश्चित कर लो। उसको मेरी बात भी बता देना।''

इस समाचार से ऊदल को प्रसन्नता नहीं हुई। वह शंकर को उत्तर दिये बिना अपने नाना के घर से चला आया। एकान्त मार्ग पर चलते हुए वह इस पूर्ण घटना पर विचार करने लगा था। वह इस विषय में किसी से राय करना चाहता था। अन्य किसी ऐसे अवसर पर वह अपने मामा से राय करता, परन्तु उसकी राय तो वह जान चुका था और यह उसको पसन्द नहीं आई। इस समय उसको विरोचन का स्मरण हो आया। विरोचन से उसकी घनी मित्रता थी, परन्तु इस प्रकार की बात आज से पहले उसने विरोचन से कभी नहीं की थी। इस पर भी वह समझता था कि विरोचन उससे आयु में कम होने पर भी परिपक्व मति है और वह ठीक सम्मति देगा।

सायंकाल का समय हो गया था। विरोचन को मन्दिर से आए हुए एक प्रहर से ऊपर हो चुका था। इस पर भी ऊदल का विचार था कि वह दुर्गा मन्दिर में अभी भी संन्यासियों की संगत में होगा। अत: वह दुर्गा मन्दिर की ओर चल पड़ा।

विरोचन संन्यासियों के आचार्य से भेंट कर लौटता हुआ मिला। ऊदल विरोचन को लौटते देख, प्रसन्न हो उससे कहने लगा, ''विरोचन! मिल आए हो आचार्य जी से?''

''हाँ, तुम किधर जा रहे हो?''

''अपने मित्र के पीछे-पीछे।''

''कौन नया मित्र बनाया है तुमने, जिसके पीछे-पीछे जा रहे हो?''

''नया नहीं, विरोचन! बचपन का मित्र है और मेरे सामने खड़ा है।''

''और तुम मेरे पीछे-पीछे चलते आ रहे हो?''

''हाँ।''

''और पीछे-पीछे ही चलते जाओगे?''

''कुछ हानि है क्या इसमें?''

''नहीं, हानि की बात नहीं कह रहा। कष्ट की बात कह रहा हूँ। मैं संन्यासी बनने का विचार कर रहा हूँ।''

''संन्यासी?'' ऊदल का मुख विस्मय में खुला रह मया। उसको आश्चर्य करते देख विरोचन ने कहा, ''ऊदल दादा! मैं एक अति ओजस्वी महापुरुष से मिलकर आ रहा हूँ। उसका मुख-मण्डल ओज से प्रदीप्त है। उसकी आँखों में विद्युत् का-सा तेज है। उसकी वाणी में सुधा की-सी मिठास है। उसकी युक्तियों में तेग की-सी तीक्ष्णता है तथा उसके विवेचनों में नभ मण्डल की-सी विशालता है।

''मैं जब उसके-सामने उपस्थित हुआ तो वह दुर्गा-मन्दिर के पुंजारी से वार्तालाप कर रहा था। हमारे काशी के अनेकानेक विद्वान पुरुष उसका वाद-विवाद सुनने के लिए उपस्थित थे। दुर्गा के पुजारी ने कहा था कि 'जड़ और चेतन में शक्ति का ही अन्तर है। शक्ति जड़ को गति प्रदान करती है और उसको चेतन बना देती है। गति से पूर्ण संसार का कार्य चलता है और यह दुर्गा भवानी उसी महान् शक्ति की मूर्ति है। इसकी उपासना से ही मनुष्य को उस चमत्कारिक शक्ति का लाभ होता है और वह संसार को विजय कर सकता है।

आचार्य ने कहा, ''दुर्गा के भक्त की बात यथार्थ प्रतीत होती है, परन्तु एक बात मैं समझना चाहता हूँ कि शक्ति और शक्तिमान् में क्या अन्तर है?''

पुजारी ने कहा, ''शक्ति ही मुख्य है। शक्तिमान् भी शक्ति के कारण ही महान् होता है।''

''ठीक; धन के कारण ही धनवान की महिमा है। इस पर भी धन और धनवान में अन्तर होता तो है ही। धन स्वयमेव धनवान के कोष में नहीं जाता। धनी के पुरुषार्थ से ही वह उसके स्वामित्व में जाता है।

इसी प्रकार शक्तिमान् को शक्ति प्राप्त करनी पड़ती है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे धन और धनवान में अन्तर है, वैसे ही शक्ति और शक्तिमान् में अन्तर है।

पुजारी का कहना था, ''इस पर भी शक्ति होने से ही कोई भी शक्तिमान् हो सकता है।''

ठीक है; साथ ही क्या यह स्वयंसिद्ध नहीं कि शक्तिमान् के यत्न करने पर ही शक्ति उसके पास जाती है और फिर उसके प्रयत्न करने पर उसके पास स्थिर रहती है। अर्थात् शक्ति के स्वामी में कुछ विशेषता तो रहती है। एक बात और है। शक्तिमान् के करने से ही शक्ति कार्य करती है। यदि धनी धन को व्यय न करे तो धन न होने के तुल्य ही होगा। इस प्रकार शक्ति कार्य करती है शक्तिमान् के करने पर।

तो आपका कहना यह है कि शक्ति और प्रकृति में कुछ अन्तर नहीं है।

प्रकृति शक्ति का रूप ही है। सांख्य में इसकी व्याख्या बहुत सुन्दर ढंग से लिखी है। आदि-प्रकृति सागर के समान है। जैसे सागर का जल वाष्प बन आकाश में चला जाता है। वह वहाँ से वर्षा के रूप में बरसता है और अनेकानेक नदी नालों के रूप में बहता हुआ पुनः सागर में जा मिलता है। वैसे ही प्रकृति संसार में नाना प्रकार के रूप धारण करती हुई विचरती है और अन्त में पुनः आदि प्रकृति में मिल जाती है। आदि प्रकृति का तेजस् अहंकार मात्र है।

''इस प्रकार अकाट्य युक्ति और निर्विवाद प्रमाण देकर आचार्य ने दुर्गा के पुजारी का मुख बन्द कर दिया और काशी के सब विद्वान् आचार्य जी की योग्यता के सामने नतमस्तक हो गए। सब आचार्य जी की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे।

''इस समय एक बौद्ध भिक्षुक उठ खड़ा हुआ और प्राकृत भाषा में प्रश्न करने लगा, 'इस सृष्टि को बनाने में भगवान् का क्या प्रयोजन हो सकता है?'

''आचार्य जी का कहना था, 'जो प्रयोजन प्रकृति का इन भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होने में हो सकता है।'

'प्रकृति तो स्वधर्म से परिवर्तित होती रहती है।'

'तो ऐसा ही मान लो कि परमात्मा स्वधर्म से प्रकृति में परिवर्तन करता रहता है। बात यह है, भन्ते! कि प्रयोजन न तो प्रकृति के परिवर्तन होने में हम जान समझ सकते हैं और न ही प्रकृति में परिवर्तन न करने वाले को हम समझ सकते हैं। यह बात हमारी पहुँच से दूर है? इसमें हम केवल इतना जान सकते

हैं कि सृष्टि एक नियम में बँधी हुई चल रही है। नियम में कार्य करना एक चेतन पदार्थ का गुण है। जड़ का नहीं।'

'यह कैसे कहते हैं? जड़ पदार्थ अपने धर्म से भी कार्य कर सकता है।'

'क्या एक पदार्थ में दो परस्पर-विरोधी गुण एक काल में हो सकते हैं?'

''बौद्ध-भिक्षु इसका उत्तर नहीं दे सका। इस पर आचार्य जी ने कहा, 'प्रकृति में जड़त्व है। साथ ही प्रकृति कर्मयुक्त अर्थात् गतिशील कैसे हो सकती है? इसके अतिरिक्त गति की दिशा, गति का वेग और गति के आरम्भ का निश्चय करने में जड़ पदार्थ समर्थ नहीं हो सकता। यह सबकुछ इस जगत में हो रहा है। अत: इसमें कारण नि:सन्देह कोई चेतन वस्तु है। उसका नाम संस्कृत भाषा में परमात्मा है।'

''बौद्ध-भिक्षु ने निरुत्तर होकर कह दिया, 'यह वितण्डावाद है।'

'ठीक; परन्तु प्रश्न तो यह है कि वितण्डावाद करनेवाला कौन है? इस बात का निश्चय श्रोतागण पर छोड़ता हूँ।'

'मूर्ख जनता भला इसमें कैसे निर्णायक हो सकती है?'

'जैसे मूर्ख वक्ता अपनी बात की श्लाघा स्वयं कर सकता है।'

''इस पर श्रोतागण 'वाह! वाह!' कर उठे। उत्तर देने में इस सतर्कता के सम्मुख वह भिक्षु लज्जित हो भाग गया।

''देखो ऊदल? मैं वैसा ही संन्यासी बनना चाहता हूँ। आज पिता जी से स्वीकृति ले, कल आचार्य जी से दीक्षा लूँगा।''

ऊदल हँस पड़ा। विरोचन और वह अब घर की ओर चल रहे थे। विरोचन ने ऊदल को हँसते हुए देखा तो विस्मय में पूछा, ''हँस क्यों रहे हो?''

ऊदल ने मुख का श्वास लेते हुए कहा, ''परमात्मा का धन्यवाद है कि तुम में अभी कुछ तो बुद्धि विद्यमान है। देखो विरोचन! जब बुद्ध ने भिक्षु मार्ग का द्वार सब युवा, वृद्ध, बालक, स्त्री, पुरुष के लिए खोल दिया तो भारत के विद्वानों को चिन्ता लग गई। पश्चात् चाणक्य ने यह व्यवस्था दी कि कोई अविवाहित लड़का अथवा लड़की अपने माता-पिता की स्वीकृति के बिना भिक्षु-मार्ग ग्रहण नहीं कर सकता। कोई विवाहित और गृहस्थ व्यक्ति अपने परिवार के लिए उचित प्रबन्ध किए बिना घर-गृहस्थी छोड़ नहीं सकता। यद्यपि मागधी अशोक ने चाणक्य की व्यवस्था को रद्द कर दिया, परन्तु अशोक के बाद पुष्यमित्र ने पुन: इस व्यवस्था को चलन दे दिया। तब से यह व्यवस्था उन सब राज्यों में चल रही है जहाँ बौद्ध-धर्म का प्रचार नहीं रहा।

''विरोचन! मुझको तुम्हारी इच्छा सुनकर चिन्ता लग गई थी। मैं समझा था कि कदाचित् तुम बौद्ध-भिक्षुओं की भाँति घर से भाग जाना चाहते

हो। परन्तु जब तुमने कहा कि अपने पिता जी की स्वीकृति के बाद ही संन्यास लोगे, तो चिन्ता मिट गई। मैं जानता हूँ कि काका इस बात की स्वीकृति नहीं देंगे।''

''क्यों नहीं देंगे?''

''नहीं देंगे।''

''तब फिर क्या होगा?''

''होगा यह कि मेरा मित्र विरोचन पढ़-लिखकर विद्वान् बनेगा। मेरी बहन मायाविनी से विवाह करेगा और प्रकाण्ड पण्डित होने के कारण देशभर में ख्याति प्राप्त कर सबका पूज्य बनेगा।''

''इससे मेरी इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो सकती।''

''भैया! इच्छाओं की पूर्ति की बात ही मैं तुमसे पूछने आया था।''

इस समय दोनों विरोचन के पिता के गृह पर पहुँच गए। जब वे बैठक में पहुँचे तो रमा पिता के सम्मुख खड़ी पिता के प्रश्नों का उत्तर दे रही थी। रमा ने विरोचन और ऊदल को देखा तो प्रसन्न हो पिता से कहने लगी, ''पिता जी! अब मैं जाऊँ क्या?''

''मेरे प्रश्न का उत्तर तो अभी दिया नहीं।''

''पिता जी! ये दो लड़के आ गए हैं न। इनके सम्मुख तो आप मुझको उत्तर देने के लिए नहीं कहेंगे न? जब ये चले जाएँगे, तब मैं आपको इस विषय पर अपने मन की बात कहूँगी।'' इतना कह रमा मुस्कराई और विरोचन की ओर देखकर बैठक से भाग गई।

विरोचन ने अपने पिता से पूछ लिया, ''क्या है पिता जी? आप रमा को किस कारण ताड़ना कर रहे थे?''

गजानन ने गम्भीर हो, कुछ विचारकर कह दिया, ''रमा ठीक कहती है कि यह बात तुम दोनों के जानने की नहीं है।''

''क्यों पिता जी?''

''बस कह दिया कि नहीं है।''

:: 7 ::

इस पर ऊदल जो रमा की बात जानने में रुचि नहीं रखता था, मिश्रजी से कहने लगा, ''काका! आपका विरोचन संन्यास लेने की इच्छा करने लगा है।''

''क्या कहा?'' गजानन ने आँखें फाड़-फाड़कर ऊदल की ओर देखते हुए पूछा।

"जी, मैंने यह निवेदन किया है कि विरोचन चाहता है कि आप उसको संन्यास लेने की स्वीकृति दे दें।"

"क्यों?"

इस पर ऊदल ने विरोचन की ओर देखकर कहा, "तुम कहो न। क्या कहते हो?"

"पिता जी! मैं आज गुरु शंकराचार्य जी की सभा में गया था। वहाँ जो कुछ मैंने देखा और सुना, उसका मेरे मन पर इतना प्रभाव हुआ कि मेरे जीवन का मार्ग ही परिवर्तित हो गया है। मैं गुरु जी के चरणों में रहकर ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ और फिर उनके कार्य को चलाने के लिए उनकी भाँति संन्यास लेना चाहता हूँ।"

गजानन मिश्र ने कहा, "विरोचन बेटा! यह संन्यासी अगले सप्ताह महाराज की धर्म-सभा में उपस्थित होने वाला है और उस सभा में कालिन्दी, कौशाम्बी, कन्नौज, पाटलीपुत्र, नालन्दा और अन्य स्थानों के विद्वान् उपस्थित होने वाले हैं। तुम भी चलना। पहले चलकर देखो कि वह कितने पानी में है और फिर उससे मिलकर यह पता करो कि वह तुमको अपना शिष्य बनाता भी है अथवा नहीं। तब ही तुम संन्यास ग्रहण कर सकते हो।

"देखो विरोचन! तुम मेरे इकलौते पुत्र हो। तुम्हारे चले जाने से हमारा घर सूना हो जाएगा। तुम्हारी माँ तुम्हारे वियोग में पागल हो जाएगी। तुम्हारी बहन राखी बाँधने के लिए तुम्हारा अभाव अनुभव किया करेगी। इस पर भी यदि तुम्हारे संन्यास लेने से देश और समाज का कल्याण होने की कुछ भी संभावना हो तो मैं तुम्हारे मार्ग में बाधा नहीं बनूँगा। मैं समझता हूँ कि हमारे वैदिक धर्म में यही विशेषता है कि हम मानव-जन्म को यज्ञ-रूप समझते हैं। यज्ञ में आहुति देने वाले का अस्तित्व सर्वथा मिट जाता है; तभी यज्ञ का प्रयोजन सफल होता है। यदि तुम अपना जीवन यज्ञ-रूप करना चाहो तो मैं सहर्ष तुमको स्वीकृति दूँगा। इस पर विचारणीय बात यह है कि यज्ञ में तुम्हारी आहुति स्वीकार होती है अथवा नहीं।"

विरोचन काशिराज की सभा में उपस्थित हो शंकराचार्य का देश के चोटी के विद्वानों से वाद-विवाद, युक्तियाँ और नोक-झोंक सुनने की आशा में अपना संन्यासी होना भूल गया।

इस समय सायंकाल हो गया था। गजानन मिश्र तो संध्या और पूजा-पाठ के लिए उठकर पूजा-गृह में चला गया और दोनों युवक गंगा-तट पर घूमने निकल गए। जब वे घर से निकले तो ऊदल ने अपनी बात आरम्भ कर दी, "विरोचन! तुम मायाविनी से प्रेम करते हो न?"

"हाँ, बहुत।"

"तुम उससे विवाह करना चाहोगे क्या?"

"हाँ, यदि संन्यास न लिया तो।"

"मित्र! छोड़ो इस बात को। काशी में यह नियम है कि तुम्हारी आयु का लड़का बिना अपने माता-पिता की अनुमति के संन्यास नहीं ले सकता। मुझको विश्वास है कि उनकी अनुमति तुम कभी भी प्राप्त नहीं कर सकोगे।"

"पर पिता जी ने तो स्वीकृति दे दी है।"

"पिता जी की स्वीकृति तो गुरु जी की स्वीकृति के बाद होगी। गुरु जी स्वीकृति नहीं देंगे।"

"कैसे जानते हो यह?"

"मैं जानता हूँ। इस विषय पर तुमसे फिर बात करूँगा। मैं अब यह कहना चाहता हूँ कि वर्तमान परिस्थिति में तुम मायाविनी से विवाह करोगे न।"

"हाँ।"

इस समय वे राजघाट पर पहुँच गए थे। एक सीढ़ी पर गंगा की ओर मुख कर वे बैठ गए। ऊदल ने पूछा, "तुम क्यों विवाह करना चाहते हो?"

विरोचन अपनी तत्कालीन मानसिक अवस्था में बार-बार विवाह की बात होती सुन चिढ़ गया। उसने कह दिया, "ऊदल! तुम कुछ मूर्ख बनते जा रहे हो? क्या यह भी कोई पूछने की बात है कि कोई क्यों विवाह करता है? इस पर भी सुनो। मायाविनी सुन्दर लड़की है। उसके माता-पिता वैदिक धर्मानुयायी हैं। वे यज्ञ, धर्म-कर्म और सबसे अधिक परमात्मा में विश्वास रखते हैं। इस कारण मैं समझता हूँ कि तुम्हारी बहन से विवाह करने पर एक भले घर से सम्बन्ध बन जाएगा।

ऊदल हँस पड़ा। जब विरोचन विस्मय से उसका मुख देखने लगा तो ऊदल ने उसकी आँखों में देखते हुए कहा, "ससुराल में जाकर मान पाना ही क्या विवाह का मुख्य उद्देश्य है? विरोचन! क्या सुन्दर पत्नी का भोग मुख्य बात नहीं है?"

विरोचन इस प्रकार की बात से अपने में वासना व्याप्त होती अनुभव करने लगा था। अपने मन को स्थिर करने के लिए वह गंगा के बहते जल की ओर देखने लगा। उसने ऊदल की बात का उत्तर नहीं दिया। इसको अपनी बात कहने का सुअवसर मान ऊदल ने कह दिया, "विरोचन! क्या तुमने महाकवि कालिदास द्वारा लिखित पार्वती की माँ की भावना को पढ़ा नहीं? कवि लिखता है—

'नीलकण्ठपरिभुक्तयौवनां तां विलोक्य जननी समाश्वसत्।

भर्तृवल्लभतया हि मानसीं मातुरस्यति शुचं वधूजनः ॥'

और फिर पार्वती के विषय में भी लिखा है—

वासराणि कतिचित्कथंचन स्थाणुना रतमकारि चनया
ज्ञातमन्मथरसा शनैः शनैः सा मुमोच रतिदुःखशीलताम्
सस्वजे प्रियमुरोनिपीडनं प्रार्थितं मुखमनेन नाहरत्
मेखलाप्रणयलोलतां गतं हस्तमस्य शिथिलं रुरोध सा।'

ऊदल न जाने कब तक शंकर-पार्वती के प्रेम-प्रलाप की कथा कहता रहता, परन्तु विरोचन उठ खड़ा हुआ और अपने मित्र को ताड़ना देते हुए बोला, ''ओ ऊदल के बच्चे! बन्द करो यह बकवास। मैं नहीं सुनना चाहता।''

विरोचन चला जाना चाहता था, परन्तु ऊदल ने विरोचन की बाँह पकड़ ली और उसको जाने नहीं दिया। विरोचन से ऊदल बहुत अधिक बलवान था। इस कारण विरोचन जा नहीं सका। इस पर भी वह अपना हाथ छुड़ाने के लिए छटपटाता रहा। ऊदल कह रहा था, ''विरोचन! मैंने कुछ अनुचित बात नहीं की। मैंने वही कहा है, जो हमारी देववाणी के महाकवि ने हमारे पूज्यदेव महादेव जी के विषय में लिखा है।

''भैया! झगड़ा करना है तो कालिदास से जाकर करना। मैं केवल यह कह रहा था कि विवाह में सास, श्वसुर, साले, सलहज सब गौण होते हैं और मुख्य बात है पत्नी और उसका उपभोग।''

इस समय तक विरोचन शान्त हो चुका था। उसने पुनः घाट की सीढ़ी पर बैठते हुए कहा, ''देखो ऊदल! ऐसी बातें कुमारों को नहीं करनी चाहिए। तुमने आज पाठशाला में भी उच्छृंखलता की थी। अब मैं तुमको कहे देता हूँ कि यदि फिर तुमने मेरी आत्मा की शान्ति भंग की तो मैं सदा के लिए तुम्हारी मैत्री से हाथ खींच लूँगा।''

''मित्र! सुनो तो। मैं क्या जानता था कि तुम उच्च-कोटि के साहित्यकार के वाक्यों को सुनकर भी मूर्ख बन जाओगे। मेरा यह सबकुछ कहने का अभिप्राय था तुमसे अपनी समस्या के विषय पर सम्मति लेना। कृपा कर सुनो और बताओ कि मैं क्या करूँ?

''मैंने तुम्हें देवदासी नीलाम्बरा दिखाई थी। मैं उससे प्रेम करने लगा हूँ। मैं नीलाम्बरा से मिला था और उसने मेरे मनोभावों को जानते हुए मुझको वीणा-वादक माधव के पास भेज दिया। माधव ने मुझे बुरी तरह पीटने की धमकी दी है।

''इसके साथ ही शंकर मामा ने कहा है कि उन सब देवदासियों का मूल्य निर्धारित है। यदि मैं वह मूल्य चुका दूँ तो मुझको मेरा अभिलषित फल मिल

सकता है। शंकर ने रुक्मिणी को पाँच सौ रजत पर पाने का आश्वासन पा लिया है।''

''तो तुम शंकर मामा और रुक्मिणी वारांगल की बात की तुलना महादेव-पार्वती से कर रहे हो? मूर्ख ऊदल कहाँ महादेव-पार्वती और कहाँ मामा शंकर और रुक्मिणी। फिर मैं कहता हूँ कि वह घड़ीभर के लिए भाड़े पर मिली हुई छोकरी, विवाहित पत्नी की तुलना में क्या महिमा रख सकती है?''

ऊदल के मन में पुनः वही विचार उत्पन्न होने लगा, जो शंकर से बातें करते समय हुआ था। यह धन देकर क्रय की हुई पत्नी जीवनभर की साथिन नहीं हो सकती। नीलाम्बरा से कुछ घटिया लड़की भी यदि जीवनभर की संगिनी बन जाए तो दो घड़ी-भर के लिए मिली नीलाम्बरा से शत गुणा अधिक श्रेष्ठ होगी।

ऊदल अभी इस समस्या पर विचार कर ही रहा था कि विरोचन ने पुनः कहा, ''ऊदल दादा! अभी तुम्हारी आयु बहुत कम है। कच्चे फल की भाँति पेड़ से गिर जाने पर जो दुर्गति फल की होती है, वही तुम्हारी हो जाएगी। मैं तुमसे आयु में कम हूँ। इस पर भी मैंने तुमसे अधिक इतिहास और साहित्य पढ़ा है। इस कारण तुमको यह कहने का अधिकार रखता हूँ कि अपने यौवन को व्यर्थ मत गँवाओ। इसे परिपक्व होने दो और फिर उस कृत्रिम सौन्दर्य से विभूषित लड़की से कहीं अधिक सुन्दर लड़की, जो बिना श्रृंगार किए भी उससे अधिक सुन्दर होगी, पा सकोगे।''

''विरोचन भैया! वह नृत्य बहुत सुन्दर करती है।

''उसके नृत्य की मुद्राएँ, उसके हाव-भाव तथा कटाक्ष क्या बनावटी नहीं हैं? क्या वैसा बनाने और करने के लिए उसको सिखाया नहीं गया? ये क्या उसके हृदय के विचारों का ठीक दर्शन कराते हैं?''

''देखो ऊदल! जब वह भगवान् के सम्मुख भक्ति की मुद्रा बनाती है तो क्या वास्तव में उसके मन में भी भक्ति का उफान उठ रहा होता है? क्या वह भक्ति की मुद्रा गुरु द्वारा सिखाई गई और दर्शकों का मन लुभाने के लिए अभ्यास कराई हुई नहीं होती? यह सब कृत्रिम है, झूठ है।''

ऊदल विरोचन की बात सुनकर मुस्कराता हुआ बोला, ''भैया विरोचन! क्या अल्प आयु होने से तुम्हारे विचार अपरिपक्व नहीं हो सकते? इस कारण यदि मैं यह कह दूँ कि तुमको अभी संन्यास नहीं लेना चाहिए तो क्या तुम्हारी ही युक्ति को दुहरा नहीं रहा? तुमको अभी और अधिक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और इस संन्यासरूपी मूर्खता से पृथक् रहते हुए समाज कल्याण के निमित्त वास्तविक कल्याण का दर्शन करना चाहिए।''

विरोचन हँस पड़ा। ऊदल भी हँसने लगा। जब दोनों हँस चुके तो ऊदल

ने कहा, ''विरोचन भैया का प्रेम हो गया है समाज के साथ और विरोचन के दादा ऊदल का प्रेम हो गया है नीलाम्बरा छोकरी से। दोनों अभी बच्चे हैं और इनके मस्तिष्क अभी परिपक्व नहीं हुए। अतः इन दोनों को अपने वृद्धजनों की आज्ञा का पालन करना चाहिए और अपने विचारों और भावों को विकसित होने का अवसर देना चाहिए। ठीक है न भैया?''

:: 8 ::

अगले दिन ऊदल सोकर उठा तो उसको पता चला कि शंकर का पिछली रात किसी से झगड़ा हो गया था और वह बहुत बुरी भाँति घायल हो, अपने आगार में पड़ा है। ऊदल को स्मरण हो आया कि रात्रि के प्रथम प्रहर में उसे मन्दिर के पार्श्व में रुक्मिणी से भेंट करनी थी। वह समझ गया कि शंकर का पीटा जाना इसी भेंट के सम्बन्ध में हो सकता है। इस पर भी वास्तविक बात जानने के लिए वह उससे मिलने के लिए चल पड़ा।

शंकर पुजारी कमलाकर का सबसे बड़ा लड़का था, उसकी पहली पत्नी से केवल एक लड़की थी, जो ऊदल की माँ थी। दूसरी पत्नी से उसके चार बच्चे थे। सबसे बड़ा शंकर था। शंकर से छोटा विष्णु एक और लड़का था। विष्णु से छोटी दो बहनें थीं। नाम था शालिनी और सुहासिनी।

सब सम्बन्धी ज्यों-ज्यों शंकर के घायल होने का समाचार पाते गए, उसका समाचार लेने आते गए। जब ऊदल अपने नाना के घर पहुँचा और शंकर के आगार में गया तो उसने उसको खाट पर लेटे हुए, सिर पर पट्टी बाँधे सचेत देखा। इस पर भी वह न तो गर्दन हिला रहा था और न ही बातचीत कर रहा था। वैद्य तो उसके घर आते ही बुला लिया गया था, जो घावों पर औषध लगा, पट्टी बाँध गया था। उसके माता-पिता चिन्ताग्रस्त उसकी शय्या के पास बैठे थे। शंकर की माँ उसको चम्मच से दूध पिला रही थी। भाई और बहनें शय्या के चारों ओर खड़ी थीं। ऊदल वहाँ पहुँचा तो वह भी उनके पास जा खड़ा हुआ। जब शंकर दूध पी चुका तो ऊदल ने उसके पिता से पूछा, ''बाबा! यह कैसे हुआ है?''

''मध्य रात्रि के समय यह रक्त से लथपथ, लड़खड़ाते पाँवों के साथ आया तो सेवक ने हमको जगाया। इसको शय्या पर लेटाते ही यह अचेत हो गया। वैद्य जी को बुलाया गया और एक घंटे भर के उपचार के बाद इसने आँखें खोलीं। तब से यह ऐसे ही पड़ा है। वैसे यह अचेत नहीं है। बोल भी सकता है, परन्तु यह बताता नहीं कि कहाँ और किससे इसका झगड़ा हुआ है।''

ऊदल ने प्रश्न-भरी दृष्टि से शंकर की ओर देखा, तो उसको कुछ ऐसा

भास हुआ कि वह उसकी ओर रहस्य-भरी दृष्टि से देख रहा है। ऊदल एक चौकी उठा लाया और शंकर की शय्या के समीप रख बैठते हुए बोला, "बाबा! आप सब लोग विश्राम करें। मैं मामा जी के पास बैठता हूँ।"

इस पर पुजारी जी ने कहा, "यह शंकर बता दे कि यह रक्तपात किसने किया है, तो मैं काशिराज के पास जाकर, उसके विरुद्ध आरोप लगा, न्याय की याचना करूँ। यह कुछ बताता ही नहीं। मैं तो इसी कारण परेशान हूँ।"

"बाबा! मामा को बोलने में कष्ट होता होगा। आप इनको कुछ स्वस्थ होने दीजिए। तब वह भी कर लिया जाएगा, जो आप कहते हैं।"

"तब तक अपराधी नगर छोड़कर भाग भी सकता है।"

"यदि उसे भागना होगा तो अब तक भाग चुका होगा।"

कमलाकर की समझ में यह बात आ गई। अत: वह स्नानादि से निवृत्त होने के लिए चला गया।

जब सब चले गए तो शंकर ने संकेत कर ऊदल को समीप बुला कर धीरे से पूछा, "नीलाम्बरा का क्या हुआ?"

"मामा जी! मैंने उसका विचार छोड़ दिया है।"

"अच्छा किया है। मैं समझता हूँ कि मुझको भारी धोखा हुआ है। मैं पाँच सौ रजत लेकर मन्दिर के पार्श्व में नियत समय पर जा पहुँचा। वहाँ पर कोई नहीं आया। मध्य रात्रि के समय मैं रुक्मिणी तथा अन्य देवदासियों के आगार के बाहर जा खड़ा हुआ। सब लड़कियाँ सो रही थीं। नारायण और माधव उस आगार के बाहर सो रहे थे। मेरे वहाँ पहुँचने पर नारायण उठ खड़ा हुआ और मुझको देवदासियों के आगार में झाँकते देख, मुझ पर पिल पड़ा। मैं हल्ला नहीं करना चाहता था। यदि पिता जी अथवा घर वालों की नींद खुल जाती तो मेरी वह भद्द होती कि जीवन-भर किसी के सामने आँखें न उठा सकता और पिता जी इतने बदनाम होते कि मन्दिर का कार्य करने के अयोग्य हो जाते।

"दूसरी ओर नारायण भी लड़ता तो रहा, परन्तु हल्ला नहीं कर रहा था। कदाचित् वह भी अपने मन में डर रहा था कि घर के लोग जाग पड़े तो देवदासियाँ बदनाम हो जाएँगी। परिणाम यह हुआ कि हम घड़ी-भर मल्ल-युद्ध करते रहे। इस समय माधव ने पीछे से लाठी के दो प्रहार मेरे सिर पर किए और मैं घायल हो गिर पड़ा। उसने मुझको चुपचाप उठाया और आश्रय देकर घर के इस ओर लाकर छोड़ दिया।"

ऊदल इस घटना के तारतम्य को समझ नहीं सका। उसने पूछा, "मामा जी! आपको स्मरण है कि रुक्मिणी ने आपको मन्दिर के पार्श्व में मिलने के लिए कहा भी था क्या?"

शंकर बात को स्मरण कर कहने लगा, ''बात इस प्रकार हुई थी। रुक्मिणी से मैंने कहा था, 'मैं तुमसे प्रेम करने लगा हूँ।'

''इस पर वह बोली, 'आप बहुत अच्छे हैं। इस प्रेम के अनुरूप आपको कुछ देना चाहिए।'

''मैंने पूछा, 'क्या दूँ?'

''वह बोली, 'हमको पाँच सौ रजत की आवश्यकता है।'

''प्रायः वेश्याएँ ऐसा ही कहा करती हैं। इस कारण मैंने कहा, 'यह तो कुछ भी नहीं। कहो, कब और कहाँ दूँ?'

''वह कहने लगी, 'माधवजी को दे दीजिए।'

''मेरा कहना था, 'नहीं देवी! रात एक प्रहर गए मन्दिर के पार्श्व में स्वयं आ जाओ तो मैं यह धन तुमको दे दूँगा।'

''उसने उत्तर नहीं दिया। मैंने समझा कि उसने स्वीकार कर लिया है। अतः मैं रुपये का प्रबन्ध करने चला आया। मल्ल-युद्ध के समय वह रुपया मेरी जेब में था। वह उस समय कहीं गिर गया प्रतीत होता है। अब वह मेरे पास नहीं है।''

''तो रुपया भी गया?'' ऊदल ने विस्मय से पूछा।

''अभी तो गया ही मानना चाहिए। तुम तनिक जाकर पता करो। यदि रुपया उनको मिल गया हो तो वापस लेना चाहिए।''

ऊदल शंकर के आगार से निकल घर के उस कक्ष में जा पहुँचा, जिधर देवदासियाँ ठहरी हुई थीं। देवदासियाँ और नारायण तथा उनके रथों के सारथी और सेवक, सब जाने को तैयार खड़े थे। जब ऊदल वहाँ पहुँचा तो माधव ने आगे बढ़कर पूछा, ''कैसे आए हैं? भट्ट जी!''

''आपको विदा करने। पुजारी जी अपने लड़के की लेप-चिकित्सा करा रहे हैं, इस कारण मुझको उन्होंने भेजा है।''

''पर हम तो रात ही उनसे विदा ले चुके थे।''

''इस पर भी वे आपको और इन देवियों को विदा करने के लिए आने वाले थे। कल रात्रि किसी बदमाश से शंकर की लड़ाई हो गई और उस लड़ाई में वह घायल हो गया है। पुजारी जी उसकी सेवा-शुश्रूषा में लगे हैं। इस कारण उन्होंने मुझको आपके पास भेजा है।''

माधव ने विस्मय प्रकट करते हुए पूछा, ''क्या बहुत अधिक चोट आई है?''

''हाँ, वास्तव में शंकर किसी बदमाश से मल्ल-युद्ध कर रहा था और शंकर उसको पछाड़ने ही वाला था कि एक दूसरा बदमाश पीछे से लाठी से प्रहार करने लगा।''

"बहुत दुष्ट था वह!"

"वह झगड़ा गृह के इसी कक्ष में हुआ था।"

"सत्य? हमको तो पता भी नहीं चला।"

"उसके पास कुछ धन था। वह इस मल्ल-युद्ध में यहाँ गिर गया है। कहीं आपको पड़ा मिला हो?"

"हमको यहाँ कोई वस्तु नहीं मिली।"

ऊदल परेशानी अनुभव कर रहा था। इस समय रुक्मिणी भीतर से निकल आई। वह ऊदल के समीप खड़ी होकर पूछने लगी, "भट्ट जी कुछ चिन्तित प्रतीत हो रहे हैं।"

"हाँ," उत्तर माधव ने दिया, "शंकर का कुछ धन गुम हो गया है।"

रुक्मिणी विस्मय में माधव का मुख देखती रह गई। इस पर ऊदल ने कहा, "पुजारी जी ने कहला भेजा है कि यदि आपको यहाँ कुछ कष्ट हुआ हो तो वे क्षमा माँगते हैं। कभी फिर काशी में आना हो तो अवश्य उनके गृह को पवित्र करिएगा।"

इस समय नीलाम्बरा भी ऊदल के पास आकर बोली, "तो आप भी हमारी मण्डली के साथ चल रहे हैं न?"

"नहीं; मेरा विचार बदल गया है।"

"क्यों?"

समीप से देखने पर श्रृंगार-रहित नीलाम्बरा वैसी सुन्दर और कलामय प्रतीत नहीं हुई, जितनी दूर से देखने पर बनी-ठनी दिखाई देती थी।

माधव, जो ऊदल का उत्तर सुन रहा था, हँस पड़ा। उसने कहा, "दाख न मिली तो कड़वी हो गई। घर छोड़ना सुगम नहीं है।"

ऊदल ने बात बदलने के लिए पूछ लिया, "आप देशाटन से लौटते समय काशी से होते जाइएगा क्या?"

"अभी तो यहाँ से अयोध्या जी जाने का निश्चय किया है। आगे के विषय में हम अभी नहीं जानते।"

"अच्छी बात है; यदि लौटते हुए काशी आने का विचार हुआ तो पुजारी जी का कहना है कि अवश्य इस निवास-गृह को पवित्र करिएगा। यदि उनके यहाँ ठहरने का कार्यक्रम हुआ तो कीर्तन का प्रबन्ध हो जाएगा।"

"इसके लिए हम उनके आभारी हैं।"

"चलो।" माधव ने रुक्मिणी और नीलाम्बरा को सम्बोधन कर कहा, "रथ तैयार हैं।"

इस पर नीलाम्बरा ने कहा, "अभी हमारा सारथी तो भीतर भोजन कर

रहा है।'' इस पर माधव सारथियों को देखने के लिए भीतर चला गया। उसके जाने पर रुक्मिणी ने पूछा, ''शंकर जी कैसे हैं?''

''बुरी भाँति घायल हो शय्या पर पड़े हैं।''

''मुझको बहुत दुःख है कि मेरे कारण उनकी यह दशा हुई है। वास्तव में शंकर जी को समझने में भूल हुई थी। मैंने धन माँगा था मण्डली के व्यय के लिए। वह उनके मेरे प्रति प्रेम के अनुरूप था। इसको उन्होंने अपनी वासना तृप्ति के लिए समझ लिया। जब मैं उनसे नियत स्थान पर मिलने के लिए जाने वाली थी, तब नारायण जी ने मुझको वहाँ जाने नहीं दिया। उनका कहना था कि शंकर मुझ पर बलात्कार करेगा। मुझको तो इस बात पर विश्वास नहीं आता था, परन्तु उनका कहना था कि शंकर कामान्ध हो रहा है और वह मुझको ढूँढ़ता हुआ यहाँ आएगा।

''नारायण की बात सत्य सिद्ध हुई और शंकर जी मध्य रात्रि के समय यहाँ आए और पीटे गए।''

''अकेले नारायण से तो वह मार न खाता। जब नारायण से युद्ध हो रहा था तो माधव ने पीछे से उसके सिर पर लाठी से कई प्रहार किए। इसी से वह घायल हो गया था।''

''परन्तु आप तो माधवजी से कह रहे थे,'' नीलाम्बरा ने बात बीच में काटकर कहा, ''कि आप मेरा भोग करना चाहते हैं?''

''हाँ; तुमने क्या समझा था?''

''मैं तो कुछ ऐसा विचार कर रही थी कि हम विवाह कर सकें तो ठीक रहे।''

''चाहता तो मैं भी यही हूँ, परन्तु तुम देवदासी हो न।''

इस बात को सुन नीलाम्बरा ने दीर्घ निःश्वास छोड़ा।

इस समय माधव तथा सारथी घर से निकल आए और माधव ने रुक्मिणी तथा नीलाम्बरा को रथ पर चलकर बैठने का आदेश दे दिया। रुक्मिणी तो तुरन्त रथ की ओर चल पड़ी। नीलाम्बरा धीरे-धीरे ऊदल के साथ अपने रथ की ओर चलती हुई बोली, ''मेरा जी चाहता है कि आप हमारे साथ चलें।''

''क्या करूँगा चल कर?''

''वीणा वादन नहीं सीखना है क्या?''

''वह तो कहीं भी सीखा जा सकता है। माधव वीणा बजाता तो है, परन्तु वह वीणा से भी अधिक लाठी चलाना जानता है।''

नीलाम्बरा हँस पड़ी। उसने रथ पर चढ़ते हुए कहा, ''भगवान् से मेरी प्रार्थना है कि वे आपके मन में उनके प्रति भक्ति का भाव दें, जिससे आप हमारी

मण्डली में आकर सम्मिलित हो जाएँ।''

''मुझको ऐसी भक्ति मिलने से तुमको क्या मिलेगा?''

''आइए। अयोध्या जी में हम एक मास तक रहेंगे। आएँगे तो बताऊँगी कि मुझको क्या मिलेगा?''

इस समय रथ चल पड़े और ऊदल इस निमन्त्रण पर आश्चर्यवत् खड़ा नीलाम्बरा का मुख देखता रह गया।

:: 9 ::

आचार्य निरुपम को भी काशिराज की धर्म-सभा में उपस्थित होने का निमन्त्रण मिला था। अत: पाठशाला में उस दिन अवकाश कर दिया गया।. ऊदल को धर्म-सभा में जाने की रुचि नहीं थी, परन्तु विरोचन को जाने के लिए तत्पर देख वह भी तैयार हो गया। दोनों गजानन मिश्र के साथ धर्म-सभा में जा पहुँचे। अन्यथा उनको भीतर जाने की स्वीकृति मिलनी कठिन थी।

सभा काशिराज के प्रासाद के बाहर एक विशाल आगार में हो रही थी। जब विरोचन और ऊदल मिश्र जी के साथ वहाँ पहुँचे तो सभाभवन अभी रिक्तप्राय: था। पुरोहित जी आमन्त्रित विद्वानों को उचित स्थानों पर बिठाने का प्रबन्ध करने लगे और विरोचन तथा ऊदल भवन के एक छज्जे पर चढ़ कर बैठ गए। विरोचन देख रहा था कि नालन्दा के आचार्य चन्द्रांशु और पाटलिपुत्र के महापण्डित तिवूर पहले ही आकर बैठे हैं। वह उनको पहचानता था। वे कई बार पहले भी काशी पधार कर विरोचन के पिता का आतिथ्य स्वीकार कर चुके थे।

जब तक विरोचन ऊदल को भवन में बैठे हुए विद्वानों का परिचय दे रहा था, अन्य आमन्त्रित लोग आने लगे थे। इनमें बहुत से विरोचन के परिचित ही थे। ये लोग जब भी काशी में आते थे, उसके पिता से मिलने आया करते थे।

ऊदल विरोचन का इतना परिचय जान आश्चर्यचकित था। उसने पूछा भी, ''तो ये सब लोग आज के शास्त्रार्थ में भाग लेंगे क्या?''

''मैं इनकी बातें सुन चुका हूँ। मेरा अनुमान है कि ये सब मिल कर भी गुरु शंकराचार्य जी के मत का प्रतिवाद नहीं कर सकेंगे।''

''विरोचन! तुम इस संन्यासी के सम्मोहन में आ गए प्रतीत होते हो। भला यह उन्नीस-बीस वर्ष का युवक महापण्डित तिवूर का क्या सामना कर सकेगा?''

''तिवूर से पण्डित चन्द्रांशु अधिक योग्य हैं। परन्तु उनका ज्ञान केवल एकांगी है।''

इस समय शंकराचार्य अपने बीस-पच्चीस शिष्यों के साथ सभा-भवन में

आए। सबकी दृष्टि उनकी ओर घूम गई। शंकराचार्य अभी बालक-मात्र प्रतीत होते थे। उन्होंने दाढ़ी-मूँछ मुँड़वाई हुई थीं, इस पर भी यह स्पष्ट था कि मुख पर मुँड़वाने के लिए कुछ अधिक नहीं था। गजानन मिश्र सबको उचित स्थानों पर बैठा रहा था। उसने आचार्य जी को महाराज के आसन के दक्षिण भाग की ओर बैठा दिया। महाराज के वाम भाग की ओर तिमूर, चन्द्रांशु इत्यादि विद्वान् बैठाए गए थे।

देखते-देखते भवन आमन्त्रितों से खचाखच भर गया और सब लोग महाराज की प्रतीक्षा में शान्त हो गए। वाद-विवाद महाराज के आने पर ही आरम्भ हो सकता था।

ऊदल, जो धर्म-सभा को पहली बार ही देखने आया था, विरोचन से पूछने लगा, ''इस सब प्रदर्शन का प्रयोजन क्या है ?''

''श्री शंकराचार्य जी ने श्रुति और स्मृति की एक नवीन व्याख्या की है। उस व्याख्या से बौद्ध कभी सहमत हो नहीं सकते। कारण यह है कि उस व्याख्या से बौद्धमत का पूर्ण रूप से खण्डन हो जाता है। साथ ही वैदिक सम्प्रदाय वालों में भी मतभेद उत्पन्न हो गया है। आज यहाँ यही निर्णय होगा कि आचार्य जी की व्याख्या मान्य है अथवा नहीं।''

''यह सब तुमको किसने बताया है ?''

''उस दिन यही तो सुनने वहाँ गया था। वहाँ पर उपस्थित विद्वान लोग कह रहे थे कि सब वैदिक सम्प्रदाय असत्य सिद्ध हो रहे हैं। इसी से सब मिलकर आचार्य जी की व्याख्या पर घोर विवाद करने आए हैं।''

इस समय काशिराज सभा में पधारे। जब प्रतिहार ने महाराज के आने की घोषणा की तो संन्यासियों के अतिरिक्त सब उपस्थितगण आदर सूचक भाव में उठ खड़े हुए और महाराज, जयघोषों के बीच मंच पर जा पहुँचे। जब वे अपने आसन पर विराजमान हो गए, तो सब लोग अपने-अपने स्थानों पर बैठ गए। महाराज उठकर गुरु शंकराचार्य का परिचय देने लगे। उन्होंने बहुत संक्षेप में कहा—''आचार्य जी केरल देश में पूर्णा नदी के तट पर बसे कालटी गाँव के श्री पण्डित शिवगुरु के सुपुत्र हैं। आप अत्यन्त प्रतिभाशाली और प्रकाण्ड विद्वान् हैं। आपका अध्ययन वेद, दर्शन-शास्त्र और पुराणों में अत्यन्त विशाल और गूढ़ है। इन्होंने भगवद् गोविन्दपाद जी से संन्यास की दीक्षा ली है। गोविन्दपाद जी महर्षि बादरायण जी के सुपुत्र शुकदेव जी के शिष्य हैं।

''श्री शंकराचार्य जी अपने विचार स्वयं ही वर्णन करेंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य जी की मान्यताओं को न केवल लोकायतवाद, अर्हतवाद और तथागतवाद वाले अमान्य करते हैं, प्रत्युत वैदिक धर्मावलम्बी भी संशय की

दृष्टि से देखते हैं। अतः आज की धर्मसभा में श्री स्वामी जी महाराज से जहाँ अवैदिक धर्मावलम्बी समाधान करने का यत्न करेंगे, वहाँ वेदानुयायी भी अपने-अपने संशय उपस्थित करेंगे।

''अब मैं स्वामी जी से निवेदन करूँगा कि वे अपने मत का प्रतिपादन करें।''

इस पर श्री शंकराचार्य जी ने अपने मत की व्याख्या करते हुए कहा, ''जो मत, वेद को प्रमाण नहीं मानते, उनके लिए मैं केवल मुक्ति को ही प्रमाण मान बात करूँगा। उनको मेरा कहना है कि इस पूर्ण चराचर जगत् का मूल कारण आदि प्रकृति तो है ही, परन्तु आदि प्रकृति भी तो परब्रह्म परमेश्वर का रूपान्तर-मात्र है। सबकुछ ब्रह्म ही है।

''अवस्था विशेष में कभी किसी पदार्थ में कुछ गुण सुषुप्ति अवस्था में हो जाते हैं। अतः उस अवस्था में उस पदार्थ में उन गुणों की प्रतीति नहीं रहती। यह अवस्था जब परब्रह्म परमेश्वर की होती है, तो वह सत्-चित्-आनन्द की अपेक्षा केवल एक अथवा दो गुण वाला रह गया प्रतीत होता है। जब यह केवल सत् गुण वाला रह गया प्रतीत होता है, तब इसका नाम प्रकृति रखा गया है। उस अवस्था में इसके अन्य दो गुण सुषुप्ति अवस्था में होते हैं। जब इसके दो गुण अर्थात् सत् और चित् जाग्रत अवस्था में होते हैं, तब यह आत्मा कहाता है। जब इसके तीनों गुण पूर्ण रूप से जाग्रत अवस्था में होते हैं, तब यह परब्रह्म-परमात्मा कहाता है। यह रूप पूर्ण जाग्रत अवस्था का है।

''यह तो सम्भव है कि किसी पदार्थ में कुछ गुण सुषुप्ति अवस्था में हो जाएँ, जैसे अचेत मनुष्य में होते हैं, परन्तु यह तो अयुक्ति-संगत है कि किसी पदार्थ में वे गुण प्रकट हो जाएँ जो उसमें नहीं हैं। अतः सत्-चित्-आनन्दयुक्त एक ही पदार्थ है, जो इस चराचर जगत् का कारण है।''

गुरु शंकराचार्य जी द्वारा 'प्रकृतिवाद' का इतना विशद् खण्डन सुन पूर्ण दक्षिण पक्ष के विद्वान (वाह-वाह) कर उठे।

इस पर महापण्डित तिवूर उठ कर प्रश्न करने लगे, ''इस बात में क्या प्रमाण है कि आदि-पदार्थ, जिसको स्वामी जी सत्-चित्-आनन्दयुक्त कहते हैं, अवश्य ही आनन्दमय है।''

''यदि वह अवस्था आनन्दमय नहीं,'' स्वामी जी की युक्ति थी—''तो फिर भगवान् तथागत भिक्षु बन, सब सांसरिक सुखों का त्याग करके निर्वाण पद के लिए यत्न करने की क्यों प्रेरणा दे गए हैं?''

''यह तो संसार के दुःखों से छुटकारा पाने के लिए है।''

''क्या दुःख-रहित होना आनन्दमय होना नहीं?''

उत्तर देने में इस सतर्कता को देखकर तो नास्तिकवादी भी वाह-वाह करने लगे। दक्षिणपक्षीय विद्वान् तो खिल-खिलाकर हँस पड़े।

पण्डित तिवूर अभी इसका उत्तर विचार ही रहा था कि स्वामी जी ने कहा, ''भगवान् बुद्ध अपने अन्तरात्मा में अवश्य अनुभव करते होंगे कि उन्हें एक परमानन्द की अवस्था प्राप्त करनी है और उसके लिए संसार का त्याग, बुद्ध-धर्म तथा संघ की शरण में जाना एवं पंचशील का पालन करना आवश्यक है, परन्तु जैसे मोह में फँसा व्यक्ति अपने अन्तःकरण को समझ नहीं सकता, उसी प्रकार भगवान् तथागत भी इस विषय पर स्पष्ट-वक्तव्य नहीं दे सके। इसका उत्तर 'भगवती श्रुति' में विद्यमान है। पूर्ण जगत् माया में फँसा हुआ, आनन्द गुण की सुषुप्ति अवस्था होने से दुःखमय हो रहा है। मोह-माया से छुटकारा पाने के लिए वास्तविक ज्ञान प्राप्ति की आवश्यकता है। ज्ञान से परमानन्द की प्राप्ति होती है।

महापण्डित तिवूर ने कहा, ''शंकर की व्याख्या विचित्र है। यह संसार में किसी भी उदाहरण से प्रमाणित नहीं। इस कारण अमान्य है।''

इस पर काशिराज ने अपनी व्यवस्था दे दीं, ''महापण्डित तिवूर शंकर जी की युक्ति का उत्तर नहीं दे सके। अतः हम आचार्य जी से अपना विषय आगे चलाने के लिए कहते हैं।''

:: 10 ::

स्वामी शंकराचार्य जी ने बताया, ''यह चराचर जगत् परब्रह्म परमात्मा का ही रूप है। प्रकृतिवादी यह बताने में असमर्थ हैं कि प्रकृति में चेतनता अथवा आनन्द कैसे उत्पन्न हो गया?''

इस पर काशी के एक पण्डित महीधर उठकर एक वक्तव्य देने लगे। उन्होंने कहा, ''मेरा प्रश्न, आचार्य जी से यह है कि जल मथने की क्या आवश्यकता है? इस जगत् का कारण परब्रह्म-परमात्मा है अथवा जड़ प्रकृति, इसके जानने से क्या होगा? मेरा कहना तो यह है कि संसार जैसा है, उसका उपभोग ही मुख्य है। अतः न तो संन्यास की आवश्यकता है और न सुख-साधना में बाधक त्याग और तपस्या की।''

स्वामी शंकराचार्य का उत्तर था, ''यदि यह सिद्ध हो सके कि संसार का सुख परमानन्द और स्थायी है तो यह मानना होगा कि संन्यास अथवा त्याग-तपस्या की आवश्यकता नहीं। परन्तु ऐसा है नहीं। जो इन्द्रियों का सुख एक काल में प्राप्त होता है, वह कुछ ही काल के बाद नहीं रहता। इसके साथ ही इन्द्रिय-सुखों के लाभ से रोग, जरा और दुःख उत्पन्न होते हैं। अतः ये परमानन्द नहीं

कहे जा सकते। न ही ये इन्द्रिय-सुख स्थायी होते हैं।''

''परन्तु स्थायी कुछ भी नहीं। जिस स्थायी आनन्द की कल्पना की जाती है, वह अनुभव में नहीं आता। अतः वह है नहीं। जो कुछ अनुभव से प्राप्त है, उसका उपभोग क्यों न किया जाए?''

''इन्द्रिय-सुखों को सीमित करने से, उनको दीर्घकाल के लिए और अधिक सुखमय किया जा सकता है। जिस उपचार से सुख दीर्घ किया जा सकता है और अधिक स्वादमय बनाया जा सकता है, उसी उपचार को और परिष्कृत करने से उनको स्थायी किया जा सकता है।''

''इस पर भी प्रश्न यह उठता है कि जीवन में सुखों की प्राप्ति न कर, किस काल के लिए संचित किया जाए? इस जन्म के अतिरिक्त तो कुछ है नहीं।''

''यथार्थ में यही भूल है। यदि इस जीवन के पहले और पीछे कुछ नहीं, तो एक बालक का जन्म से अन्धा, लँगड़ा अथवा अपाहिज होना कैसे समझाया जा सकता है? अपाहिज होने से दुःख होता है। यह दुःख अकारण हो तो अन्याय का सूचक हो जाएगा।

''अन्याय को आकस्मिक घटना-मात्र मानने से मनुष्य का न्याय पर से विश्वास उठ जाएगा और इसका परिणाम होगा, जिसकी लाठी उसकी भैंस।''

चार्वाकीय पण्डित का कहना था, ''क्या परिणाम होगा और क्या नहीं, यह युक्ति नहीं, वितण्डा है।''

''युक्ति इस प्रकार है। मान लो पण्डित महोदय एक सुन्दर स्त्री से भोग-विलास करने जा रहे हैं। उस समय कोई शक्तिशाली इनको बलपूर्वक दूर हटाकर उस स्त्री को हर लेता है, तो पण्डित महोदय को दुःख होगा अथवा नहीं? यह दुःख अकारण है अथवा सकारण? विचारणीय बात यह है कि ऐसी परिस्थिति से मानव के मन में निराशा और अविश्वास उत्पन्न होगा और उसका घोर पतन होगा।

''यदि प्रकृति मनुष्य के पतन का कारण है तो यह प्रकृति हमारी पूज्य नहीं हो सकती।''

''एक शक्तिशाली का मुझको पछाड़ सकना मुझमें पैतृक दौर्बल्य के कारण होगा। अतः मुझको इससे शोक नहीं होना चाहिए।''

''मैं शोक की बात नहीं कह रहा। मैं दुःख की बात कह रहा हूँ। दुःख अकारण हुआ न?''

''हाँ।''

''किसी कार्य का कारण के बिना होना युक्तिसंगत है क्या?''

"कारण है पैतृक दुर्बलता।"

"वह तो दुर्बलता का कारण है, परन्तु दु:ख का क्या कारण है?"

"हम नहीं जानते। न जानने की इच्छा ही रखते हैं।"

"हम कहते हैं कि दु:ख अकारण नहीं। वह पूर्व-जन्मों के कर्मों के ही कारण हो सकता है।"

इस पर काशिराज ने निर्णय दे दिया, "युक्ति सर्वाङ्ग सिद्ध प्रमाण नहीं होती। अत: युक्ति के साथ प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्दादि प्रमाण भी लेने पड़ते हैं। तब ही हम किसी निर्णय पर पहुँच सकते हैं।"

"अत: जब किसी बालक के जन्म से अन्धा अथवा बहरा होने में कारण ढूँढ़ा जाएगा, तो पूर्व-जन्म के कर्मों की उपस्थिति माननी होगी। यह आचार्य जी ने भली-भाँति सिद्ध कर दिया है।"

अब श्री स्वामी शंकराचार्य जी ने अपना वक्तव्य आगे चलाया, "मैं अब उन वादों के विषय में कहना चाहता हूँ, जो श्रुति-भगवती को प्रमाण मानते हैं।

"प्रश्न यह किया जा रहा है कि मैं पूर्ण चराचर जगत् को परब्रह्म का स्वरूप मानता हूँ; इस पर भी देवी-देवताओं की मूर्ति की स्थापना तथा पूजा करने को कहता हूँ। मेरा मत है कि दोनों बातें परस्पर विरोधी नहीं हैं।

"मूर्ति भी परमात्मा का स्वरूप है और पुजारी भी। इस पर भी पूजा पुजारी के चित्त में एकाग्रता उत्पन्न करने का एक साधन है। एकाग्र चित्त में चैतन्यता के गुणों की वृद्धि होती है और पुजारी परमात्मा को अर्थात् अपने को समझने में अधिक योग्य हो जाता है। इस प्रकार अद्वैतवाद में और पूजा-पाठ में परस्पर विरोध नहीं है।

"कोई उन्नत व्यक्ति बिना देव-मूर्ति के भी चित्त की एकाग्रता प्राप्त कर सकता है। उसके लिए मूर्ति-पूजा आवश्यक नहीं।

"इसी प्रकार भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं की पूजा का अर्थ समझ लेना चाहिए।"

वेदानुयायी मत-मतान्तर के मानने वालों के लिए एक ही प्रश्न था कि भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं की प्रतिष्ठा से समाज में अनेकता का प्रचलन हो रहा है, इस कारण यह हानिकारक है। स्वामी शंकराचार्य जी का कहना था—"सबकुछ परब्रह्म परमेश्वर ही है। अत: देवताओं के रूपों में और गुणों में प्रत्यक्ष भेद-भाव कुछ भी अर्थ नहीं रखता। जैसे हम सब भिन्न-भिन्न रूप और आकृति रखते हुए भी हैं, परमात्मा का रूपान्तर ही। इसी प्रकार मूर्तियों को समझना चाहिए।

"श्रुति भगवती को प्रमाण मानने वाले, सब एक हैं। इनके विचारों में भेद

नहीं। सब परमात्मा, आत्मा और प्रकृति को मानने वाले हैं। इनको मान कर, इनका मूल परमात्मा को मानते हैं। जब आधारभूत बात एक है, तो आचरण में भेद नहीं हो सकता।''

इस पर दुर्गा के पुजारी ने उठ कर पूछ लिया, ''महाकाली, जो रक्त-मांस का भोग लेती है और कालभैरव, जो नर-मांस और मदिरा का भोग करता है तथा भगवान् विष्णु, जो क्षीर और मोहन भोग ग्रहण करते हैं, कैसे एक समान हो सकते हैं? इनके उपासक भी वैसा ही खान-पान रखते हैं। उनसे हमारी सहचारिता कैसे हो सकती है?''

इस पर काली के एक भक्त ने उठकर कहा, ''महाराज! दैत्यों के दमन के लिए जिसने अवतार लिया, उसके लिए उपयुक्त भोग देना तो पुण्य ही होगा।''

एक अन्य, भस्म का तिलक लगाए व्यक्ति ने उठ कर कहा, ''जिस देवता का जो भोग है, वह उसको मिलना ही चाहिए।''

स्वामी शंकराचार्य जी इस प्रकार के वाद-विवाद की आशा करते थे। अत: जब शैव और वैष्णव तथा दुर्गा और काली के भक्त अपनी-अपनी बात कह चुके, तो स्वामी जी ने महाकाली के भक्त से पूछा, ''भक्त! बताओ, भगवती ने दैत्यों का दमन क्यों किया था?''

''वे दुष्ट थे इस कारण।''

''क्या दुष्टता करते थे वे?''

''साधुओं और धर्मात्मा-जनों को कष्ट देते थे?''

''वे साधु और धर्मात्मा लोग क्या मांस-मदिरा लेते थे?''

इस पर काली का भक्त विचार करने लगा कि इस प्रश्न से स्वामी जी का क्या प्रयोजन है? जब यह चुप रहा और उत्तर नहीं दे सका तो स्वामी जी ने पुन: पूछा, ''भक्त! देवी ने दैत्यों का विनाश किया था। इसका कारण यह था कि दैत्य लोग देवताओं को कष्ट देते थे, उनको मार डालते थे और उनके यज्ञ-हवन में विघ्न डालते थे। वे धर्मात्मा लोग मांस-मदिरा का प्रयोग नहीं करते थे।

''इसका अभिप्राय यह हुआ कि भगवती महाकाली ने साधुओं के परित्राण के लिए दैत्यों से युद्ध किया। वे मांस इत्यादि खाती थीं, परन्तु साधु लोग निरामिष भोजी थे। यह ठीक है न?''

''हाँ,'' पुजारी ने कहा।

''तो इससे यह सिद्ध हुआ कि काली निरामिष-भोजियों की रक्षा करती थी। इसका अर्थ यह भी हुआ कि निरामिष-भोजियों को उनका कृतज्ञ होना चाहिए।

''देखिए पुजारी जी महाराज! खाना-पहनना अपनी-अपनी रुचि तथा

विचार के अनुसार होता है, परन्तु 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' का हमारा नाता बना हुआ है। इसी धुरी पर आचार-व्यवहार चलता है।

"हम सब वेदानुयायी एक बात में सहमत हैं। हम अपने आचार-व्यवहार को धर्म-संगत रखने में एक मत हैं। धर्म खान-पान से सम्बन्ध नहीं रखता। यह पूज्य देवता के स्वरूप से भी सम्बन्ध नहीं रखता। हमारा धर्म है, धृति, क्षमा, दमोऽस्तेयं....इत्यादि। हम स्वयं जीना चाहते हैं, परन्तु दूसरों को मार-काट कर नहीं। हम उनके मित्र हैं, जो हमारे धर्म का मान करते हैं और उनके शत्रु हैं, जो हमारे धर्म के विरोधी हैं।"

इस पर काशिराज ने प्रश्न पूछ लिया, "स्वामी जी एक प्रश्न हमारा भी है। आपने बताया है कि हमें अपना आचार-व्यवहार धर्म-संगत रखना चाहिए। तो क्या 'योग-दर्शन' में वर्णित यम और नियम आचार-व्यवहार के विषय में नहीं हैं ?"

"हैं।"

"तो यमों में प्रथम यम अहिंसा है। मांस खाने वाला किस भाँति अहिंसा का पालन कर सकता है ?"

"मेरा कहने का आशय यह नहीं कि मांस खाने वाला अहिंसक है। वह जो कुछ है सो है ही। परन्तु जब वह हमारी रक्षा और हमारे धर्म की रक्षा करता है तो हमारे आदर और मान का पात्र है। साथ ही काली के भक्तों को समझ लेना चाहिए कि जब भगवती ने निरामिष-भोजियों की रक्षा के लिए दैत्यों से युद्ध किया था तो उनमें कुछ अच्छी बात देखकर ही ऐसा किया होगा। अत: निरामिष-भोजी ही अधिक मान और आदर के पात्र हो गए।"

इस युक्ति ने बात समाप्त कर दी। इस पर काशीराज ने स्वामी जी का धन्यवाद करते हुए कहा, "हमको बहुत प्रसन्नता है कि परिव्राजकाचार्य श्री108 स्वामी शंकराचार्य जी ने हमारा निमन्त्रण स्वीकार कर और यहाँ आकर अपनी कल्याणमयी वाणी से हमको पवित्र किया है।

"श्री स्वामी जी महाराज के भावों को समझ कर हम यह व्यवस्था देते हैं कि वे सब मत, जो वेदानुयायी हैं, एक हैं। उनमें भेद केवल बाहरी रूप-मात्र का है। वास्तविक तथ्य सबमें एक है।

"हम यह मानते हैं कि परब्रह्म परमात्मा ही सब सच्चाइयों का मूल है। यह संसार भी एक सत्य है। अत: इसका मूल कारण भी परमात्मा है। परमात्मा जब माया से मोहित हो जाता है तो यह जन्म-मरण के बन्धन में फँस जाता है। उस समय बन्धनयुक्त परमात्मा का नाम आत्मा कहाता है। बन्धन को हम प्रकृति कहते हैं।

"अतएव परमात्मा, आत्मा तथा प्रकृति को भिन्न-भिन्न मानने वाले तथा

इन सबको एक मानने वाले वास्तव में एक हैं। वे केवल परमात्मा को भिन्न-भिन्न अवस्थाओं और रूपों में देखने वाले हैं।

"हम स्वामी जी के कृतज्ञ हैं कि उन्होंने हमको एक मार्मिक तत्त्व बताया है। उनका कहना है कि देवी-देवता उस परब्रह्म परमात्मा के भिन्न-भिन्न गुणों और कार्यों को प्रकट करने के लिए हैं। जिसको जिस कार्यसिद्धि की आवश्यकता हो, वह परमात्मा के उसी रूप की उपासना करे और उसको उसका फल मिलेगा। परमात्मा के एक रूप के मानने वाला कैसे उसके किसी दूसरे रूप को मानने वाले की निंदा कर सकता है? यदि कोई कहे कि परमात्मा क्या केवल वही रूप है, जिसकी वह उपासना करता है, तो वह परमात्मा को सीमित करने का अपराधी हो जाएगा।"

:: 11 ::

जब सभा में से काशिराज उठकर जाने लगे तो विद्वान् लोग भी उठ खड़े हुए। स्वामी जी अभी भी अपने आसन पर बैठे थे। वे मार्ग रिक्त हो जाने की प्रतीक्षा कर रहे थे। इस समय विद्वान् लोग उनके समीप आ-आकर नमस्कार और चरण स्पर्श करने लगे।

ऊदल पूर्ण समय सामने के छज्जे में बैठी स्त्रियों को देखता रहा। उनमें सबसे आगे की पंक्ति में एक कुमारी बैठी थी। ऊदल को वह अति सुन्दर लग रही थी। जब सभा विसर्जित हुई तो वे स्त्रियाँ भी उठ खड़ी हुईं। स्त्रियों की पिछली पंक्ति में उसकी बहन मायाविनी भी दिखाई दी। ऊदल ने विरोचन का ध्यान मायाविनी की ओर ले जाने के लिए 'भैया!' कहकर, घूमकर उसको, जो उससे कुछ ही पीछे बैठा हुआ था, बताने लगा, परन्तु विरोचन वहाँ नहीं था। उसका स्थान रिक्त था। उसके वहाँ से चले जाने पर ऊदल को आश्चर्य हुआ। वह उसको भवन के तल पर स्वामी जी की ओर जाते देख उठ खड़ा हुआ और भागकर उसकी ओर चल पड़ा।

ऊदल ने देखा कि विरोचन भीड़ को चीरकर स्वामी जी के सम्मुख खड़ा हो गया है। वह समझ गया कि विरोचन संन्यास की दीक्षा के विषय में बात करने लगा है। अतः वह भी भीड़ को इधर-उधर कर, उसके पीछे जा खड़ा हुआ। इस समय तक विरोचन स्वामी जी के चरणों में जा बैठा। गजानन विरोचन के पीछे खड़ा था। स्वामी जी एक व्यक्ति से वार्तालाप कर रहे थे। ऐसा प्रतीत होता था कि उस व्यक्ति ने कहा है कि काशिराज की व्यवस्था पक्षपातपूर्ण है। स्वामी जी कह रहे थे, "पण्डित जी महाराज का परिचय जान सकता हूँ क्या?"

"पं० फणीन्द्र देव। असी घाट पर विद्यालय में मुख्याध्यापक हैं।

इस पर स्वामी जी ने कहा, ''आचार्य जी महाराज! काशिराज की व्यवस्था आदेश नहीं है। अतः पक्षपातपूर्ण होती हुई भी आप मानने पर बाध्य नहीं हैं। व्यवस्था मनन का विषय है और इस पर मनन करने के लिए मैं सदैव तैयार हूँ। मैं अभी कुछ दिन तक काशीजी में हूँ। अतः आचार्य जी से निवेदन है कि वे किसी दिन भी दुर्गा-कुण्ड पर आ जाएँ और मैं उनका संशय निवारण करने का यत्न करूँगा।''

लोग धीरे-धीरे भवन से बाहर जा रहे थे। इस समय महापण्डित तिवूर स्वामी शंकराचार्य जी के सामने खड़े होकर कहने लगे, ''भगवन्! आपकी यह युक्ति कि दुःखरहित होना आनन्दमय होना ही है, कुछ विलक्षण प्रतीत हुई है। प्रत्यक्ष में यह बात स्वयंसिद्ध प्रतीत होती है, परन्तु क्या दुःखरहित और आनन्दरहित कोई अवस्था नहीं हो सकती?''

''हो सकती है। जब चेतना ही लोप हो जाए अर्थात् परब्रह्म परमात्मा के तीनों गुणों में से दो, चित् और आनन्द, सुषुप्ति अवस्था में हो जाएँ। यदि भगवान् तथागत का संसार त्याग करने से यह अभिप्राय था कि मनुष्य में से चेतना का ही लोप हो जाए तो मैं समझता हूँ कि वे मनुष्य को उन्नति के मार्ग पर नहीं, प्रत्युत अवनति के मार्ग पर ले जाने वाले सिद्ध हो जाएँगे।''

स्वामी जी के इस कथन पर लोग हँसने लगे। महापण्डित ने आगे पूछ लिया, ''क्या आप भगवान् तथागत के पंचशील का विरोध करते हैं?''

''नहीं, मैं केवल यह कहता हूँ कि जीवन का जो आधार भगवान् तथागत ने बताया है, वह असत्य, अस्पष्ट और आनन्द के अनुरूप न होने से पंचशील को भी नहीं रहने देगा। यह ऐतिहासिक सत्य है। अहिंसा के उपदेष्टा हिंसक जन्तुओं से अधिक हिंसक हो गए थे। वे भीरु, देशद्रोही आततायियों के सहायक और साधुओं के घातक बन गए थे।''

''यह कैसे?''

''इस प्रकार कि दुष्ट व्यवहार करने वाला दुष्ट होगा ही। उसका दुष्ट व्यवहार किसी भले सरल-चित्त व्यक्ति के लिए कष्टकारक होगा। उस दुष्ट के साथ पंचशील का व्यवहार करना उस दुष्ट के कर्मों को भूल जाना है। अर्थात् भले पुरुष के साथ किए गए अन्याय और अत्याचार को भूलना होगा। अतः अखण्ड अहिंसा का पालन दुष्टों की सहायता और साधुओं के साथ अन्याय होगा।

''वेद वैसा पंचशील, जैसा भगवान् तथागत और उनके अनुयायी व्यवहार में लाते हैं, स्वीकार नहीं करता। वेदानुयायी अपने व्यवहार को यथायोग्य का नाम देते हैं। पंचशील का प्रत्येक अंग उचित परिस्थितियों में मान्य है और प्रतिकूल परिस्थितियों में अमान्य है?''

इस समय विरोचन स्वामी जी महाराज के चरण स्पर्श कर हाथ जोड़ सामने खड़ा हो गया। स्वामी जी ने पूछा, "क्या चाहते हो युवक?"

"संन्यास की दीक्षा, महाराज!"

"क्यों?"

"मैं भारत के कल्याण के लिए अपना जीवन अर्पण करना चाहता हूँ "

"क्या पढ़े हो?"

"अभी साहित्य, कला और इतिहास पढ़ा हूँ।"

"तो बालक! अभी और पढ़ो। अपने गुरु जी से कहो कि वे तुमको उपनिषद्, दर्शन और वेद-वेदांग का अध्ययन कराएँ। तब ही तुम देश का कल्याण कर सकते हो। राष्ट्र के लिए बलि योग्य और बलिष्ठ होनी चाहिए।"

"महाराज! मैं अपनी शेष शिक्षा आपके चरणों में बैठकर पूर्ण करना चाहता हूँ।"

"यह हो सकता है, यदि तुम्हारे माता-पिता तुमको मेरा शिष्य बनने की अनुमति दें और मेरे पास पढ़ाने के लिए समय हो। इस पर भी तुम अभी संन्यास में प्रवेश के योग्य नहीं हुए।"

ऊदल जो विरोचन के पीछे खड़ा स्वामी जी की बातें सुन रहा था, बोल उठा, "साधु! साधु!!"

इस पर स्वामी जी तथा अन्य श्रोतागण ऊदल की ओर देखने लगे। स्वामी जी ने ऊदल की ओर देखकर पूछा, "युवक! तुम्हारा परिचय?"

"भगवन्!" ऊदल ने शान्त भाव में कहा, "मैं इस युवक का परम मित्र हूँ। हम दोनों एक ही पाठशाला में पढ़ते हैं। मैं नहीं चाहता कि हम अभी बिछुड़ जाएँ। यदि भगवन् इसको दीक्षा देते तो मैं भी संन्यास ग्रहण करने पर विवश हो जाता। मैं अपने मित्र से अगाध प्रेम करता हूँ।"

"ओह!" स्वामी जी ऊदल के गम्भीर मुख को देखकर विस्मय करने लगे।

ऊदल ने सुख का श्वास लेकर कहा, "महाराज! एक और बात भी है। जहाँ मेरा मित्र अपने माता-पिता की स्वीकृति के बिना संन्यास नहीं ले सकता, वहाँ यह अपनी मंगेतर की स्वीकृति के बिना, कैसे उसको छोड़ सकता है? दोनों ने परस्पर वचन दिये हुए हैं कि वे जीवन-भर साथ-साथ रहेंगे। यदि आपने इसको दीक्षा देनी स्वीकार कर ली होती तो उस बेचारी के लिए जलती चिता पर भस्म होने के अतिरिक्त और उपाय नहीं रह जाता। हमारे देश में बाल विधवा नहीं हैं।"

"तो इसका विधिवत् विवाह हो चुका है?"

"भगवन्! वचनबद्ध होना क्या विधिवत् विवाह के तुल्य नहीं है?"

स्वामी जी ने कह दिया, "देखो युवक! तुम्हारी युक्तियों पर तब विचार करने का अवसर आता, जब तुम्हारा मित्र अन्य विचारों से संन्यास लेने के योग्य होता। हम इसको संन्यास की दीक्षा इस कारण नहीं दे रहे कि यह अभी ब्रह्मचर्याश्रम का कार्यक्रम समाप्त नहीं कर सका।

"हम महात्मा बुद्ध नहीं हैं, जो श्रमण पद देने से पूर्व प्रार्थी की योग्यता को न देखें। हमारे धर्म में गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमों में प्रवेश के बिना संन्यास विशेष-अवस्था में ही मिल सकता है। परन्तु ब्रह्मचर्याश्रम को काट-छाँटकर किसी भी अवस्था में संन्यास नहीं दिया जा सकता। संन्यास आश्रम पाठशाला नहीं। यह लोक-सेवा का आश्रम है।"

इस प्रकार बात समाप्त हो गई। विरोचन इस प्रकार अस्वीकार किए जाने पर दुःख से रोने लगा था। जब स्वामी जी ने बात समाप्त की, तो वह तरल नेत्रों से स्वामी जी के चरण स्पर्श कर वहाँ से लौट पड़ा। ऊदल ने उसकी बाँह में अपनी बाँह डाल, साथ-साथ चलते हुए कहा, "जान बची और लाखों पाए। भैया विरोचन! अब यह रोना-धोना छोड़ो और चलो मेरे साथ।"

जब विरोचन दूर निकल गया तो गजानन ने भी झुककर स्वामी जी के चरणस्पर्श किए और भीगी आँखों से उनका धन्यवाद किया। स्वामी जी ने उसको अश्रुपात करते देख पूछा, "आपको क्या दुःख है पुजारी जी!"

गजानन ने आँखें पोंछते हुए कहा, "महाराज! मैं उस बालक का पिता हूँ। वह मेरा इकलौता पुत्र है। आपकी युक्ति और सरलता से मैं गद्‌गद् प्रसन्न हो आनन्दाश्रु बहा रहा हूँ।"

इस समय महाराज का प्रतिहारी एक पत्र स्वामी जी के लिए लाया। स्वामी जी ने वह पढ़ा और विस्मय में प्रतिहारी का मुख देखने लगे। इस पर प्रतिहारी ने कहा, "भगवन्! महारानी जी और राजकुमारी उस झरोखे में बैठी आपका वाद-विवाद सुन रही थीं। वे विदुषी हैं और आपकी युक्ति से अति प्रभावित हुई हैं। अतः उनकी यह याचना है कि भगवन् अपने सब साथियों सहित उनके यहाँ शाक-पात ग्रहण कर उनके गृह को पवित्र करें।"

वह पत्र महारानी जी की ओर से स्वामी जी को भोजन का निमन्त्रण था।

:: 12 ::

विरोचन ने बहुत कठिनाई से अपने आँसू पोंछे और ऊदल की ओर देखकर पूछा, "किधर लिए जा रहे हो मुझको?"

''मायाविनी के पास।''

''क्यों ?''

''तुम उस दिन वचन देकर भी हमारे घर नहीं गए। वह तुम्हारे लिए भोजन तैयार कर मध्य रात्रि तक तुम्हारी प्रतीक्षा करती रही थी।''

''और यदि मैं अब भी न जाऊँ तो ?''

''तो....तो....तो क्या होगा ? मैं नहीं जानता। कदाचित् वह भूखी रह कर प्राणान्त कर लेगी।''

''क्यों ?''

''तभी माता जी तुमको बुद्धू कहती हैं। विरोचन! इस छोटी-सी बात को तुम समझ नहीं सकते। एक पत्नी अपने पति के रूठ जाने पर क्या करती है ? यह तुमने साहित्य में नहीं पड़ा क्या ?''

''पर मैं रूठा हुआ नहीं हूँ। में तो अपने विचारों में व्यस्त हूँ।''

''मैंने उसको यह बताया था, परन्तु उसको मेरी बात पर विश्वास नहीं आया। इसलिए अब अपनी बात का प्रमाण देने के लिए तुमको ले जा रहा हूँ।''

''पर हम तो राज-प्रासाद की ओर जा रहे हैं ?''

''हाँ, मायाविनी और माता जी वहीं हैं। वे अभी गई नहीं।''

विरोचन अभी तक मन में निश्चय नहीं कर सका था कि वह मायाविनी से मिलने जाए अथवा नहीं, परन्तु ऊदल उसकी बाँह-में-बाँह डाले, उसको घसीटता हुआ लिए जा रहा था।

काशिराज के प्रासाद के प्रथम द्वार में से जाने पर प्रतिबन्ध नहीं था। दोनों मित्र उस द्वार को लाँघ कर दूसरे द्वार पर जा पहुँचे। यहाँ सैनिक खड़े थे। ऊदल ने एक सैनिक से कहा, ''राजपुरोहित गजानन जी के लड़के को महारानी जी की सखी शर्मिष्ठादेवी जी ने बुलाया है।''

''क्या काम है ?''

''यह तो शर्मिष्ठादेवी जी जानें। हमें विदित नहीं है।''

सैनिक ने मार्ग छोड़ दिया। शर्मिष्ठा मायाविनी की माता का नाम था। वह महारानी जी की परम सखी थी। इस द्वार तक कोई बाधा नहीं हुई। परन्तु तीसरे द्वार पर इस प्रकार स्वीकृति नहीं मिल सकती थी। यहाँ पहुँच ऊदल मन में विचार कर रहा था कि कैसे भीतर जाया जाए।

इस समय पीछे से बहुत से लोगों के आने का शब्द सुनाई दिया। ऊदल और विरोचन बाँह-में-बाँह डाले एक ओर हट गए। उन्होंने देखा कि स्वामी शंकराचार्य जी अपने शिष्यों के साथ राज-प्रासाद के भीतरी कक्ष की ओर जा रहे हैं। उनको ले जाने वालों में विरोचन के पिता, राजपुरोहित गजानन और राज-

प्रासाद के प्रतिहार थे। ऊदल, इसको अवसर जान, विरोचन को साथ लिए हुए, स्वामी जी की मंडली के साथ-साथ हो गया। गजानन ने उसको देख लिया और यह जानने के लिए कि वे वहाँ क्यों घूम रहे हैं, उसने हाथ के संकेत से विरोचन को अपनी ओर बुला लिया।

इसी समय स्वामी जी गजानन से एक प्रश्न पूछने लगे और गजानन उनको उत्तर देने लगा। विरोचन पिता का संकेत पा उनकी ओर लपका और इसी समय वे तीसरे द्वार में से निकल गए।

जब ये लोग अन्त:पुर के द्वार पर पहुँचे तो गजानन को अवकाश मिला कि विरोचन से वहाँ आने का कारण पूछे। उसने उसकी ओर घूमकर पूछा, ''तुम लोग किधर जा रहे हो?''

ऊदल विरोचन के आगे-आगे था। इस कारण उसने ही उत्तर दिया, ''हम स्वामी जी महाराज को प्रासाद में जाते देख रहे थे और आपने संकेत कर बुला लिया। बताइए, हम क्या सेवा कर सकते हैं?''

गजानन इस वक्तव्य से चकित रह गया। फिर कुछ विचार कर कहने लगा, ''अच्छी बात है। आओ द्वार पर स्वामी जी की चरण-पादुका के समीप खड़े रहो और इनका ध्यान रखो।''

ऊदल इस आदेश से मन में संतोष अनुभव करने लगा। विरोचन की ओर देखकर वह बोला, ''लो हमको भी सेवा-कार्य मिल गया है।''

जब साधु-मंडली अन्त:पुर में चली गई तो गजानन ने वहाँ के प्रतिहारों को सुनाकर विरोचन तथा ऊदल को कहा, ''तुम दोनों स्वामी जी के आने तक यहीं ठहरो।''

विवश विरोचन वहाँ खड़ा हो गया और विस्मय में ऊदल का मुख देखने लगा। ऊदल ने कहा, ''तुमको पिता जी की आज्ञा माननी चाहिए।''

''तुम यहाँ आए किस लिए हो? कहाँ है मायाविनी?''

''तनिक ठहरो। मैं उसको यहाँ बुलाता हूँ।''

ऊदल गम्भीर हो इसके लिए उपाय ढूँढ़ने लगा।

स्वामी जी के अन्त:पुर में भोजन करने के लिए आने का समाचार प्रासाद के सब भागों में प्रसारित हो गया और दासियाँ, जो अन्त:पुर में जा सकती थीं, स्वामी जी के दर्शनार्थ भीतर जाने लगीं। अच्छे शुभ वस्त्रों में भीतर जाने वाली एक दासी को देख ऊदल ने उसका मार्ग रोककर पूछा, ''आप शर्मिष्ठा देवी को जानती हैं क्या?''

''कौन शर्मिष्ठा देवी?''

''वही, जो महारानी जी की सखी हैं और सुरेश्वर भट्ट जी की पत्नी हैं।''

"क्यों ? क्या काम है उनसे ?"

"उन्होंने विरोचन मिश्र को बुलाया है। उनसे कह दो कि हम द्वार पर खड़े हैं। आज्ञा कर दें कि क्या कार्य है ?"

"यदि भीतर हुईं तो कह दूँगी।"

"हमको विदित है कि वे भीतर हैं और महारानी जी की सेवा में हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अवश्य कुछ आवश्यक काम रहा होगा; तभी तो यहाँ बुलाया है।"

वह दासी भीतर चली गई तो ऊदल ने एक अन्य दासी को, जो कुछ कम व्यस्त प्रतीत होती थी, उक्त बात जा कही। उस दासी ने पूछा, "मैं आपका काम क्यों करूँ ?"

"हमारा नहीं देवी! शर्मिष्ठा देवी जी का। कदाचित् महारानी जी का।"

"न बाबा! मैं नहीं कहूँगी। कहीं महारानी जी पूछने लगीं कि विरोचन मेरा क्या लगता है तो क्या उत्तर दूँगी ?"

"कह दीजिएगा कि एक पढ़ा-लिखा सुन्दर युवक है।"

"हटो अपना सौन्दर्य किसी अन्य को दिखाओ।"

"पर देवी! विरोचन मैं नहीं हूँ। वह द्वार के उस ओर खड़ा है।"

दासी ने मुस्कराते हुए विरोचन की ओर देखा और पूछ लिया, "तुम कौन हो ?"

"मैं ऊदल हूँ। मैं....।" यह कहता-कहता ऊदल रुक गया और कुछ सोचने लगा।

इतने में वह दासी भीतर चली गई।

ऊदल किसी अन्य स्त्री की खोज में था, जिससे वह अपना सन्देश भीतर पहुँचाए। इस समय विरोचन उसके समीप आकर पूछने लगा, "क्या कह रहे हो इन स्त्रियों से ?"

"केवल यह कि एक ब्रह्मचारी द्वार पर भिक्षा के लिए खड़ा है।"

"ऊदल! तुम बहुत दुष्ट होते जाते हो। मैं भिक्षा माँगने नहीं आया।"

"वाह विरोचन! तुम समझते हो कि संसार में तुम ही एक ब्रह्मचारी हो ? यह भिक्षा की बात मैं अपने लिए कह रहा हूँ।"

"पर तुम मुझको यहाँ क्यों लाए हो ?"

"श्री स्वामी जी महाराज की चरण-पादुका की रखवाली करने के लिए। यह प्रतिष्ठा बहुत बड़ी है विरोचन!"

विरोचन चुप रहा। इस समय एक अन्य प्रौढ़ा स्त्री को भीतर जाते देख, ऊदल लपककर उसके सम्मुख जा खड़ा हुआ और हाथ जोड़ कर बोला, "माँ!

एक काम करो। महारानी जी के समीप शर्मिष्ठा देवी खड़ी हैं। उनसे कह दो कि विरोचन बाहर खड़ा उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहा है।''

''बेटा! मैं उन देवी जी को नहीं जानती।''

''देखिए, वे महारानी जी के समीप खड़ी होंगी। उन्होंने हरे रंग की साड़ी पहनी हुई है। उनके कानों में हीरक-जड़ित कुण्डल हैं।''

यह स्त्री सिर हिला कर कार्य करना स्वीकार कर भीतर चली गई। ऊदल अब किसी अन्य को भीतर सन्देश भेजने के लिए ढूँढ़ने लगा। इस समय एक स्त्री, जो प्रतिहारिणी प्रतीत होती थी, प्रासाद के बाहर आई और द्वारपाल से बोली, ''विरोचन कुमार को महारानी जी ने भीतर बुलाया है।''

द्वारपाल ने पुकारा, ''विरोचन कुमार हैं ?''

विरोचन अपना नाम सुन आगे चला आया। इस पर प्रतिहारिणी ने कहा, ''चलो, महारानी जी भीतर बुलाती हैं।''

विरोचन यह विचार करने लगा कि पादुकाओं की देखभाल किस को सौंप जाए। इस समय ऊदल ने कह दिया, ''चलो विरोचन! भीतर जाने की स्वीकृति मिल गई।''

''और ये पादुकाएँ ?''

''इनकी देखभाल द्वारपाल कर लेगा।'' इतना कह ऊदल विरोचन की बाँह-में-बाँह डाल, उसको घसीटता हुआ भीतर ले चला। इस पर प्रतिहारिणी ने पूछा, ''विरोचन कौन है ?''

''यह, इसे पकड़ लिये चल रहा हूँ। तुम्हारे कहने मात्र से चलेगा थोड़े ही।''

''क्यों ? इसको क्या हुआ है ?''

''यह महारानी जी के सामने जाने में संकोच करता है।''

''भला क्यों ?''

''इसलिए कि उनके पास इसकी मंगेतर खड़ी है। इसको उसके सम्मुख लज्जा लगती है।''

प्रतिहारिणी हँस पड़ी और वे दोनों उसके पीछे-पीछे चल पड़े। एक संकीर्ण मार्ग में से होते हुए प्रतिहारिणी उनको एक प्रांगण में ले गई। वहाँ वह विरोचन के मुख पर देख, हँसकर बोली, ''यह तो ऐसे जा रहा है, जैसे काली के सम्मुख बलि के लिए बकरा ले जाया जाता है।''

ऊदल भी हँसने लगा। हँसकर बोला, ''देखो जी, इसको कुछ अधिक कहा तो यह मेरे हाथ से छूटकर भाग जाएगा।''

इस समय उस प्रतिहारिणी ने अपने अधरों पर उँगली रख कर चुप रहने

का संकेत करके, फुसफुसाहट में कहा, ''इस आगार में महारानी जी हैं और स्वामी जी को भोजन करा रही हैं। तुम लोग यहीं ठहरो। मैं तुम्हारी सूचना भीतर दे देती हूँ।''

प्रतिहारिणी भीतर गई तो विरोचन ने ऊदल की ओर क्रोध में देखकर कहा, ''ऊदल! तुम स्वयं भी फँसोगे और मुझको भी लज्जित कराओगे।''

वास्तव में महारानी तथा महाराज, स्वयं स्वामी जी की सेवा कर रहे थे। ऊदल की माता तथा अन्य स्त्रियाँ उनको अपने हाथ से भोजन परसते देख रही थीं। ऊदल प्रतिहारिणी के भीतर सन्देश ले जाने पर प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा कर रहा था। भीतर प्रतिहारिणी गई तो उसने शर्मिष्ठा देवी को, जिसने प्रतिहारिणी को महारानी के नाम से विरोचन को बुला लाने को भेजा था, कहा, ''वे बाहर खड़े हैं।''

इस पर शर्मिष्ठा देवी ने समीप खड़ी मायाविनी को कहा, ''माया! बाहर ऊदल और विरोचन खड़े हैं। वे कदाचित् स्वामी जी के दर्शनों के लिए आए हैं। उनको तुम उस छज्जे पर, जहाँ कोई नहीं है, ले जाकर खड़ा कर दो।''

मायाविनी विरोचन का नाम सुनकर लज्जा से लाल हो गई। फिर कुछ विचार कर बोली, ''माँ! तुम स्वयं चली जाओ।''

''पगली-सी! ऊदल साथ है। जाओ वह उस दिन नहीं आया था और उसका उल्हाना भी दे देना।''

मायाविनी इस डाँट की प्रतीक्षा में थी और अपनी विरोचन के पास जाने को इच्छा की पूर्ति के लिए चल पड़ी।

:: 13 ::

बाहर विरोचन ऊदल को कह रहा था, ''यह तुमने अच्छा नहीं किया। अनामन्त्रित यहाँ आ जाना बहुत गड़बड़ कर सकता है।''

''विरोचन भैया! अपनी प्रेमिकाओं से मिलने के लिए सैकड़ों प्रपंच करने पड़ते हैं। तुम कह देना कि स्वामी जी महाराज के दर्शन के लिए आए हैं।''

''मुझसे यह झूठ नहीं कहा जाएगा।''

''तो तुम चुप रहना। मैं निपट लूँगा।''

इस समय मायाविनी उनके सामने आ खड़ी हुई। विरोचन ने उसे देखा तो हाथ जोड़ कर नमस्कार किया और कहा, ''देवी! सुना है आप नाराज हो गई हैं।''

''हाँ, परन्तु यह बात यहाँ नहीं कहूँगी। माता जी ने स्वामी जी के दर्शनों के लिए आपको ऊपर छज्जे पर ले जाने के लिए भेजा है।''

"ठीक है। परन्तु माया!..."

ऊदल ने उसको और आगे कुछ कहने नहीं दिया। उसने कहा, "माया! चलो। कितनी देर से प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

मायाविनी उनको साथ लेकर पुनः एक सँकरे मार्ग में से विशाल सीढ़ियों पर ले गई। सीढ़ियाँ चढ़कर वे छज्जे पर पहुँच गए। इस छज्जे में खड़े हो उन्होंने देखा कि स्वामी जी महाराज अपने शिष्यों के साथ भोजन कर रहे हैं। वे एक विशाल आगार में कुशासनों पर बैठे थे। महारानी जी अपने हाथ से महात्माओं को खीर परोस रही थीं और महाराज पूरी-साग बाँट रहे थे।

विरोचन एक संन्यासी का इतना आदर होते देख आनन्द से पुलकित हो गया था। मायाविनी समीप खड़ी उसके मनोद्‌गारों को देख-समझ रही थी। ऊदल आगार के एक कोने में खड़ी स्त्रियों की ओर देखने लगा था। उसने देखा कि वह लड़की, जिसको उसने धर्म-सभा भवन के छज्जे में बैठे देखा था, नीचे उसकी माँ के समीप ही खड़ी है। इससे वह प्रसन्नता अनुभव करने लगा था।

मायाविनी ने विरोचन से पूछ लिया, "आर्य के आँसू क्यों टपक रहे हैं ? "

विरोचन ने अपने मन की बात बताते हुए कहा, "देखो देवी! हमारे समाज में एक परिव्राजक का कितना मान है! मुझको इस पर गर्व हो रहा है और मेरे आँसू इसी गर्व के प्रतीक हैं। महाराज और महारानी संन्यासी की सेवा करने में भी अपना अपमान नहीं समझते। यह हमारी संस्कृति की महिमा को प्रकट करता है।"

"इसमें विलक्षणता कहाँ है आर्य! ऐसा तो होना ही चाहिए।"

"इसमें विशेषता तो है ही। एक विद्वान् के सामने राज्यसत्ता भी झुक जाती है। यह साधारण बात है क्या ?"

इस समय ऊदल ने बहन का ध्यान आकर्षित कर पूछा, "माया! वह कौन है जो माता जी की दाहिनी ओर लाल साड़ी पहने खड़ी है ?"

"तुम नहीं जानते क्या ?"

"मैंने उसको पहली बार देखा है।"

"वह है राजकुमारी मृणालिनी मेरी सखी बन गई है।"

"ओह!" ऊदल ने दीर्घ निःश्वास छोड़ा।

"क्या हुआ है दादा!"

"कुछ नहीं, अच्छी-खासी सुन्दर लड़की है।"

"लो मैं चली।" इतना कह मायाविनी चली गई। वे उसी छज्जे पर खड़े हुए स्वामी जी को भोजन करते देखते रहे। उस छज्जे पर वे अकेले थे। सामने के छज्जे पर कुछ प्रासाद के कर्मचारी भी खड़े, नीचे महाराज और महारानी जी को

साधुओं को भोजन कराते देख रहे थे।

जब मायाविनी चली गई तो ऊदल ने विरोचन का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर पूछा, ''तुम लड़कियों की भाँति सब स्थानों पर रोने क्यों लगते हो?''

''हाँ दादा! मेरा हृदय इतना कोमल है कि कोई भी श्रेष्ठ बात देख मेरे आँसू निकल आते हैं।''

''अच्छा, देखो वह माता जी के पास खड़ी लड़की कैसी लग रही है?''

''अच्छी है। बहुत भोली-भाली प्रतीत होती है।''

''उसको देख तुम्हारे अश्रु क्यों नहीं बहते? वह भी तो श्रेष्ठ जीव है।''

विरोचन इस प्रश्न से ऊदल के मुख पर विस्मय से देखने लगा। फिर कुछ विचार कर बोला, ''इसलिए कि मेरी दृष्टि में एक उससे भी अधिक श्रेष्ठ लड़की है। यह है मायाविनी। समझे हो? जब मायाविनी से तुम स्नेह करते हो तथा तुम्हारे माता-पिता उसको प्यार करते हैं, तो मैं अपने सौभाग्य पर सन्तुष्ट हो रोने लगता हूँ। जब मायाविनी मुझको कहती है कि वह मुझसे प्रेम करती है, तो मेरे अश्रु बहने लगते हैं।''

''बहुत बुरे हो तुम भैया! देखो! वह लड़की मुझको बहुत सुन्दर लग रही है; परन्तु मेरे अश्रु नहीं बह रहे।''

''दादा! वह राजकुमारी है। हम सबकी पूज्या और आदर तथा मान के योग्य है। उसके विषय में ऐसी बात हमें नहीं कहनी चाहिए।''

ऊदल चुप रहा।

जब संन्यासी लोग भोजन कर चुके तो महाराज तथा महारानी ने अपने हाथों से उनके जूठे पात्र उठाए और उनके हाथ धुलाकर कुल्ला कराया।

जब यह हो चुका तो काशिराज ने गुरु शंकराचार्य जी के सम्मुख खड़े हो, हाथ जोड़कर विनीत भाव में कहा, ''भगवन्! इस दास को आप क्या आज्ञा करते हैं?''

इस पर स्वामी जी ने महाराज और महारानी को, जो हाथ जोड़े सामने खड़े थे, उपदेश दिया। स्वामी जी ने कहा, ''महाराज! दूर विदेश में एक काली आँधी उड़ रही है। वह अज्ञान से उत्पन्न हुई है और पूर्ण संसार को अपने अन्धकार में निगल जाने का प्रयास कर रही है। वह जहाँ-जहाँ भी जाती है, वहाँ धर्मान्धता का अन्धकार फैलाती जाती है। इससे मानव भारी दुःख और कष्ट सहन कर रहा है।

''भारत को इस आँधी से बचाना है। कोटि-कोटि वेद-मतानुयायियों को इस तम-तोम से बचाने का प्रयास करना है।

"इसके लिए राज्य-सत्ता को प्रबल करना तथा राष्ट्र को सुदृढ़ बनाना है।

"अपनी संस्कृति में अगाध निष्ठा ही राष्ट्र तथा राज्य-सत्ता का आधार हो सकती है।

"हमारी संस्कृति अर्थात् हमारे विश्वास, हमारा आचरण और हमारी परम्पराएँ समस्त देश में एक-समान और श्रेष्ठ हों।

"समानता उत्पन्न करने का उपाय खंडन नहीं, प्रत्युत समन्वय है।"

"समन्वय उनमें हो सकता है, जो समन्वय करने के इच्छुक हों। सबको जीवन-दान ही समन्वय का मूल मन्त्र है।

"इस कारण मैं देश में व्याप्त सैकड़ों मत-मतान्तरों को वेद भगवान् के मतानुकूल मानता हूँ।

"पूर्ण जाति में ऐक्य की भावना और कर्मफल तथा पुनर्जन्म पर विश्वास हमको इस आने वाली कठिनाई से मुक्ति दिलवा सकता है।

"इसके लिए भगवती गायत्री का जाप महौषधि है। अतः मेरा अनुरोध है कि आप अपने मन में विश्वास रखकर भगवती गायत्री का जाप करिए।

गायत्र्युपासना करणादात्य शक्तिर्विवर्धते
प्राप्येत क्रमश्योऽज्यस्य सामीप्य परमात्मनः ॥

"यह वेद भगवान् का आदेश है। मेरा यही कहना है कि हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक तथा आसिन्धु सिन्धु-पर्यन्त भारत में भगवती गायत्री की महिमा का जयघोष हो। हम सबका एक राष्ट्र, एक संस्कृति और एक ही धर्म हो।

"महाराज! आपका कल्याण हो।"

:: 14 ::

पण्डित गजानन संन्यासी मंडली को लेकर प्रासाद के बाहर चला गया। महाराज तथा महारानी भी उस आगार से बाहर निकल गए। फिर अन्य लोग भी, जो वहाँ खड़े देख रहे थे, धीरे-धीरे परस्पर बातें करते हुए बाहर निकलने लगे।

शर्मिष्ठा देवी उस ओर चली गई, जिधर महारानी जी गई थीं। राजकुमारी और मायाविनी बाँह-में-बाँह डाले आगार से बाहर निकल गईं।

ऊदल और विरोचन छज्जे पर खड़े उनको देख रहे थे। विरोचन मायाविनी की प्रतीक्षा कर रहा था, जिससे वह उनको प्रासाद के बाहर ले जा सके। ऊदल मन में विचार कर रहा था कि राजकुमारी भी उसके साथ आ जाए तो वह समीप से उसके सौन्दर्य को देख तृप्ति अनुभव कर सकेगा।

एक घड़ी-भर की प्रतीक्षा के बाद मायाविनी अकेली आई तो ऊदल ने

उससे पूछा, ''माया! वह कहाँ गई है?''

''कौन?''

''वह जो लाल साड़ी पहने थी।''

''राजकुमारी? दादा! कहीं जूते खाने हैं, यहाँ पर, जो उस देवी का नाम बार-बार मुख पर ला रहे हो? चलो, आपको बाहर छोड़ आऊँ।''

विरोचन ने पूछा, ''देवी! क्या उस दिन का सौभाग्य प्राप्त करने मैं आज आ सकता हूँ?''

''क्या होगा इससे?''

''देवी के दर्शन होंगे।''

''नहीं; आज नहीं। आज मैं यहाँ राजकुमारी के साथ भोजन कर रही हूँ।''

प्रासाद से निकल विरोचन ने ऊदल को डाँटते हुए कहा, ''ऊदल दादा! तुम बहुत उच्छृंखल होते जाते हो। यदि तुम अपने व्यवहार को ठीक नहीं रख सकते, तो मैं आज से तुम्हारा साथ छोड़ता हूँ। बताओ, क्या चाहते हो?''

''बहुत विचित्र हो भैया! मेरी उच्छृंखलता के कारण ही प्रासाद के भीतर का भव्य दृश्य और महाराज तथा महारानी का सेवा-कार्य देख सके हो। यह विरले भाग्यशालियों को देखना मिलता है। जिसने यह सबकुछ दिखाया है, उसी को कोसते हो?''

विरोचन अपने कठोर व्यवहार पर कुछ झेंप गया, परन्तु अपनी बात का अर्थ समझाने के लिए बोला, ''ऊदल दादा! प्रासाद के भीतर जाने के लिए जो कुछ तुमने किया, वह क्षम्य है, परन्तु राजकुमारी के विषय में मूर्खता ही की थी न?''

''अच्छा भैया! अब राजकुमारी के विषय में एक शब्द भी नहीं कहूँगा।''

पाठशाला में छुट्टी थी, अत: दोनों मित्र शंकर का समाचार लेने के लिए ऊदल के नाना के घर की ओर चल पड़े। मार्ग में विरोचन के पिता मिल गए। वे इन दोनों को जाते देख इनका मार्ग रोक कर खड़े हो गए। उनको स्मरण हो आया था कि वे तो स्वामी जी की पादुका की रखवाली के लिए खड़े किए गए थे और स्वामी जी के बाहर आने के समय वे वहाँ नहीं थे। इस कारण उन्होंने पूछा, ''कहाँ गए थे तुम?''

ऊदल ने सतर्कता से उत्तर दिया, ''हमको कोई पकड़ कर प्रासाद के भीतर ले गया था।''

''पकड़ कर? कौन था वह? और तुमने मेरा नाम क्यों नहीं बताया?''

''बताया था काका! तभी तो छूट आए हैं।''

"अच्छा देखो, सीधे घर चले जाओ। आज रमा के ससुराल की स्त्रियाँ उसको देखने आ रही हैं। उनके जलपान का प्रबन्ध तुम्हें करना है।"

"सच काका!" ऊदल ने प्रसन्न-वदन पूछा।

"देखो, अपनी माँ से पूछ कर प्रबन्ध करो और मैं ऊदल की माँ तथा पिता को लेकर अभी आ रहा हूँ।"

विरोचन और ऊदल शंकर के गृह को जाने की अपेक्षा राजपुरोहित जी के घर की ओर चल पड़े। घर पर पहुँच माता जी से पूछ वे प्रबन्ध करने में लीन हो गए। अभी रमा की ससुराल के लोग आए नहीं थे।

अयोध्या के ज्ञानेन्द्राचार्य उपाध्याय के सुपुत्र अमृत पीयूष से रमा की सगाई का प्रबन्ध हो रहा था। ज्ञानेन्द्राचार्य जी के घर की स्त्रियाँ काशी में आई थीं और उन्होंने लड़की को देखने की इच्छा प्रकट की थी। उनके आने से पूर्व विरोचन, ऊदल तथा पुजारी जी के अन्य सेवक-सेविकाएँ तैयारी करने में लगे थे। उन्होंने घर के प्रांगण में दरी, कालीन, चाँदनी, चौकियाँ तथा अन्य सजावट का सामान लगा दिया था। अभ्यागतों के स्वागत के लिए पेय, मिष्ठान्न, फल, फूल-पत्र तैयार कर दिए गए थे।

घर के भीतर रमा को सुन्दर वस्त्र-भूषण पहना और श्रृंगार करा, सुसज्जित कर एक चौकी पर बैठा दिया गया। बाहर सेवक गृह-द्वार पर अभ्यागतों के स्वागत के लिए जा खड़े हुए। सेविकाएँ गृह के भीतर प्रांगण में अपने-अपने उपयुक्त स्थान पर चली गई थीं।

ऊदल और विरोचन बाहर बैठक में खड़े प्रबन्ध को देख रहे थे। वहाँ स्त्रियों के साथ आने वाले पुरुषों के जलपान का प्रबन्ध हो रहा था। इस समय विरोचन ने कहा, "दादा! यदि पहले पता होता तो मायाविनी को भी यहाँ आने का निमन्त्रण दे देते।"

"हाँ भैया! कहो तो भाग कर निमन्त्रण दे आऊँ!"

"पर यह मौखिक निमन्त्रण कौन स्वीकार करेगा?"

"तो एक पत्रिका लिख डालो। ले जाऊँगा।"

"नहीं, मैं इतनी जल्दी नहीं लिख सकता। मुझको लिखते लज्जा लगती है।"

"फिर क्या किया जाए?"

"यह काम मेरे बस का नहीं।" विरोचन ने खिन्न मुद्रा में मुख दूसरी ओर कर लिया।

एकाएक ऊदल के मन में एक विचार आया और उसने चुटकी बजाकर कहा, "पा गया। मार्ग पा गया।"

"कौन-सा मार्ग पा गए हो?"

"मायाविनी को निमन्त्रण भेजने का।"

"कैसे?"

"चलो अपनी माता जी के पास। उनसे पत्रिका लिखवा लेता हूँ।"

विरोचन के मन में प्रकाश हो गया। वह ऊदल की ओर कृतज्ञता-भरी दृष्टि से देखकर बोला, "धन्यवाद दादा! चलो।"

दोनों गृह के अन्त:पुर में, वहाँ जा पहुँचे, जहाँ रमा सजा-धजा कर बैठाई गई थी और विरोचन की माँ उसके समीप खड़ी सेविकाओं को कार्य समझा रही थी। इनको आया देख, रमा को लज्जा लग गई और उसने माथे पर त्योरी चढ़ा, मुख मोड़ लिया।

रमा की माँ ने प्रश्न-भरी दृष्टि से इनकी ओर देखा तो ऊदल ने अपने वहाँ आने का प्रयोजन बता दिया। उसने कहा, "काकी! आज के इस समारोह में एक व्यक्ति को तो बुलाया ही नहीं?"

"किसको नहीं बुलाया?"

"काकी.. .यह...।" वह मायाविनी को बुलाने के विषय में कहने वाला था, परन्तु कहते समय उसको स्मरण हो आया कि वह उसकी बहन है। वह विचार कर रहा था कि कैसे वह उसको बुलाने के विषय में कहे। एकाएक उसको एक बात सूझी। उसने कहा, "हाँ, काकी! रमा की भाभी को बुलाया ही नहीं। यदि आज्ञा करो तो....।" वह कहता-कहता रुक गया।

विरोचन की माँ ने मुस्कराते हुए पूछा, "यह बात तुम स्वयं कह रहे हो अथवा इस बुद्धू विरोचन के कहने पर?"

इस पर ऊदल विरोचन का मुख देखने लगा। वह यह कहना नहीं चाहता था कि अपनी बहन के लिए कह रहा है। साथ ही वह विरोचन का नाम भी नहीं ले सका। वह चाहता था कि अब बात आरम्भ हो गई है और आगे विरोचन स्वयं कहे।

विरोचन ने चुप रहना ही उचित समझा। बुद्धू तो वह बन ही गया था। इससे अधिक वह कुछ बनने के लिए तैयार नहीं था।

दोनों को एक-दूसरे का मुख देखते पा, रमा की माँ खिलखिला कर हँस पड़ी। इस पर विरोचन लज्जित हो गृह के बाहर की ओर लौट पड़ा। ऊदल उसको जाते देख हँसने लगा। विरोचन की माँ ने उसको निराश लौटते देख पुकारा, "विरोचन!"

विरोचन लौटकर माँ के समीप आ, प्रश्न-भरी दृष्टि से उसका मुख देखने लगा।

माँ ने कहा, ''देखो विरोचन! तुम्हारी बहू को लाने के लिए बहुत कुछ करना पड़ेगा। वह ऐसे क्यों आएगी? अच्छा जाओ, बाहर खड़े रहो। कहीं जाना नहीं। कहीं तुम्हारे पिता जी की अनुपस्थिति में रमा की ससुराल के लोग आ गए तो तुमको ही उनका स्वागत करना होगा। पुरुषों को बाहर बैठाना और स्त्रियों को भीतर भेज देना।''

''अच्छा माँ!''

विरोचन ने ऊदल की ओर देखा तो दोनों बाहर चले गए। बाहर पहुँच वे अभी मायाविनी को बुलाने के विषय में सोच भी नहीं पाए थे कि राज-प्रासाद का रथ उनके द्वार पर आ खड़ा हुआ। उस रथ में से शर्मिष्ठा देवी, मायाविनी और राजकुमारी मृणालिनी उतरीं। ऊदल और विरोचन आश्चर्यचकित रह गए। अब उनको रमा की माँ के मुस्कराने का अर्थ समझ में आया।

ऊदल राजकुमारी को देखता ही रह गया। उसको इस लड़की में एक दैवी सम्मोहन प्रतीत हो रहा था। वह मन्त्र-मुग्ध हुआ उसकी ओर देख रहा था। शर्मिष्ठा देवी ने उसको देखा तो उसका ध्यान आकर्षित करने के लिए कह दिया, ''ऊदल! तुम यहाँ क्या कर रहे हो?''

''काका ने यहाँ सेवा कार्य के लिए नियुक्त कर दिया है।''

''अच्छा देखो; ये हैं राजकुमारी मृणालिनी। इन्होंने मायाविनी को सखी बना लिया है। इससे ये तुम्हारी बहन तुल्य हुईं। नमस्कार करो।''

ऊदल ने हाथ जोड़ नमस्कार कर दी। मृणालिनी ने मुस्कराकर नमस्कार का उत्तर दिया। ऊदल इस परिचय से बहुत प्रसन्न हुआ।

इस समय शर्मिष्ठा देवी ने विरोचन का परिचय करा दिया, ''ये हैं विरोचन कुमार। पुजारी जी के सुपुत्र और मायाविनी के होने वाले पति।''

इस समय गजानन मिश्र आ गए और उनके साथ ही रमा की ससुराल की स्त्रियाँ भी आ पहुँचीं। आने वाली स्त्रियों की संख्या लगभग बीस थी। उनको प्रांगण में ले जाकर बैठा दिया गया। पुरुष बैठक में बैठ गए।

जब पुरुषों को बैठा कर जलपान कराया जा रहा था, पुरोहित जी भीतर आए और आवाज देने लगे, ''ऊदल बेटा! इधर आओ।''

ऊदल सेवा-कार्य छोड़कर गजाननजी के पीछे-पीछे बाहर निकल गया। अभ्यागतों में एक पुरुष ऊदल का नाम सुन, खाना छोड़, ध्यान से ऊदल को देखने लगा। उसके चले जाने के बाद उस आदमी ने विरोचन को समीप बुला कर पूछा, ''यह ऊदल किसका लड़का है?''

''पण्डित सुरेश्वर भट्ट जी का।'' विरोचन ने उत्तर दिया।

''इसका नाम ऊदल ही है अथवा कुछ और?''

"पूरा नाम तो उदयन है, परन्तु हम इसको ऊदल कह कर पुकारते हैं।"

"पण्डित कमलाकर जी का यह क्या लगता है?"

"दौहित्र।"

"ठीक है।"

"क्या बात है, आर्य! क्या मेरे मित्र के लिए सगाई का सन्देश लाए हैं?"

"हाँ, परन्तु वह सन्देश तुमको नहीं दिया जा सकता।"

:: 15 ::

अयोध्या से आई हुई स्त्रियों का स्वागत हो चुका और वे लड़की को देख चुकीं तो लड़की की सास और ननद ने लड़की को आभूषण तथा वस्त्र दिये। रमा की माँ ने भी सास और ससुराल की अन्य स्त्रियों को भेंट में रुपये, वस्त्र और मिठाइयाँ दीं। पश्चात् विदाई हो गई।

सारा समय विरोचन उन रीतियों को देख रहा था, परन्तु ऊदल उसके साथ नहीं था। वह पुरोहित जी के साथ किसी काम में व्यस्त था। जब स्त्रियाँ चली गईं तो पुरुषों को विदा करने के लिए गजानन बैठक में आ गया। वह सबको हाथ जोड़ कर विदा करने लगा। विरोचन इस समय अपने पिता के साथ खड़ा विदा करने में सहायता दे रहा था। इस समय भी ऊदल वहाँ नहीं था।

जब पुरुष गृह से निकल रहे थे तो विरोचन द्वार पर आ गया और उसको यह देख विस्मय हुआ कि वही आदमी, जो उससे ऊदल का परिचय पूछ रहा था, ऊदल से बातें कर रहा है। विरोचन को स्मरण था, कि उस व्यक्ति के कथनानुसार ऊदल की सगाई की बात हो रही थी, जो उसको नहीं बताई जा सकती थी। इस कारण जब तक वे बातें करते रहे, वह दूर खड़ा रहा। जब ऊदल उस व्यक्ति से निपट कर आया तो विरोचन ने पूछा, "यह आदमी क्या कहता था?"

"कुछ विशेष बात नहीं।"

विरोचन समझ गया कि उससे कुछ छिपाया जा रहा है। उस व्यक्ति ने भी नहीं बताया था। इस कारण वह चुप रहा। ऊदल ने बात बदलने के लिए कह दिया, "मायाविनी और माँ भीतर हैं क्या?"

"मालूम नहीं! मैं अभी भीतर गया नहीं।"

"तो चलो पता करें।"

"जब तक बुलाएँगी नहीं, हम नहीं जाएँगे।"

"क्यों?"

"मुहल्ले की स्त्रियाँ आई हुई हैं। स्त्रियों में हम बिना बुलाए नहीं जाएँगे।"

ऊदल मन मसोस कर रह गया। इस पर विरोचन ने कहा, "ऊदल! एक बात तुमसे कहना चाहता हूँ। कान खोल कर सुन लो। तुम सुन्दर लड़कियों के पीछे भागने लगे हो। इस कारण तुम्हारा विवाह हो जाना चाहिए।"

"यही बात वह आदमी भी कह रहा था। पर भैया, विवाह तो माता-पिता के अधीन है न?"

"और उच्छृंखलता तुम्हारे अधीन है।"

इस पर ऊदल झेंप गया। कुछ देर तक विचार कर उसने कहा, "मुझको शंकर से मिलने जाना है।"

"क्या शंकर अभी ठीक नहीं हुआ?"

"अब ठीक है। अपना काम-धन्धा भी देखता है।"

विरोचन ने कह दिया, "अच्छी बात है। तुम जा सकते हो।"

विरोचन बैठक में आया तो उसने देखा कि उसके पिता ऊदल के पिता पण्डित सुरेश्वर जी से बातें कर रहे हैं। गजानन ने विरोचन को आते देखा तो संकेत से अपने समीप बुलाकर कहा, "देखो, मायाविनी के पिता क्या कह रहे हैं।"

विरोचन ने हाथ जोड़ नमस्कार कर पूछ लिया, "क्या आज्ञा है?"

"कहते हैं कि विवाह की तिथि निश्चित हो जानी चाहिए।"

"पिता जी!" विरोचन ने कह दिया, "पहले रमा का विवाह होगा न?"

"मेरा विचार भी यही था, परन्तु ये कह रहे हैं कि पहले मायाविनी का हो। बात ठीक है। इसमें इनकी युक्ति यह है कि माया रमा से डेढ़ वर्ष बड़ी है साथ ही इनका विचार है कि माया के विवाह से हमें रमा के विवाह में सहायता मिल जाएगी।"

"पिता जी! आप भी यही समझते हैं क्या? क्या हम माया के दहेज को छुए बिना रमा का विवाह नहीं कर सकते?"

"ऐसी कोई बात नहीं, बेटा! वास्तविक बात यह है कि हमको तुम्हारे संन्यास लेने की इच्छा सुनकर भय लग गया है।"

"परन्तु श्री स्वामी महाराज ने तो आज्ञा दी नहीं। वे चाहते हैं कि पहले मैं ब्रह्मचर्य आश्रम को पूर्ण करूँ, फिर संन्यास के विषय में विचार किया जा सकता है।"

"ठीक है। परन्तु हम चाहते हैं ब्रह्मचर्य आश्रम पूर्ण करने से पहले ही तुमको गृहस्थ आश्रम में स्थिर कर दें।"

"पिता जी! मैं अभी विवाह नहीं करूँगा। इस समय मेरी आयु सोलह-सत्रह वर्ष की है और मुझे अभी वेद-वेदांग का अध्ययन करना है। अतः अभी आठ वर्ष तक तो विवाह का प्रश्न ही नहीं उठता।"

इस समय मायाविनी के पिता ने कहा, ''इतनी देर तक लड़की को विवाह के बिना रखना उसके साथ भारी अन्याय हो जाएगा।''

''हाँ बेटा!'' गजानन ने कहा, ''यह ठीक है कि विधान के अनुसार ब्रह्मचर्य आश्रम पच्चीस वर्ष तक चलना चाहिए। परन्तु जब से भारत में अनेक प्रजातियों का सम्मिश्रण हुआ है, तब से सम्पुष्ट होने की आयु कम हो गई है। साथ ही बौद्ध श्रमण बनने के लिए आयु पर कोई प्रतिबन्ध न होने से हमारे आचार्य ने विवाह करने की न्यूनातिन्यून सीमा घटा दी है।''

''तो पिता जी ? रमा का विवाह हो जाने दीजिए। उससे पहले मेरे विवाह करने का अभिप्राय यह समझा जाएगा कि हमारे पास रमा को देने के लिए पर्याप्त नहीं था। रमा के विवाह के बाद मेरे विवाह का विचार कर लीजिएगा। कुछ भी हो मायाविनी की आयु सोलह वर्ष की हो ही जानी चाहिए।''

''धन्यवाद बेटा विरोचन!'' माया के पिता ने कहा, ''इसका अर्थ मैं यह समझा हूँ कि अब संन्यास का विचार नहीं है। ठीक है न ?''

''देखिए पिता जी!'' विरोचन ने आँख नीची कर कहा, ''ब्रह्मचर्य से सीधा संन्यास का विचार छोड़ दिया है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि गृहस्थ आश्रम पच्चीस-तीस वर्ष पर्यन्त चलेगा। मैं जीवन के इस सोपान को शीघ्रातिशीघ्र पार करना चाहता हूँ।''

दोनों पिताओं ने विरोचन को आशीर्वाद दिया और उठकर भीतर जा, विरोचन की स्वीकृति और अपना निर्णय सब स्त्रियों को सुना दिया। पण्डित गजानन ने बताया, ''हमने निश्चय किया है कि अगले वर्ष विरोचन का विवाह होगा।''

इस पर उपस्थित स्त्री-पुरुष रमा और विरोचन की माँ को बधाइयाँ देने लगे। मायाविनी और राजकुमारी मृणालिनी रमा के साथ, जो अभी तक भूषण-वस्त्रों से सुसज्जित एक चौंकी पर बैठी बातें कर रही थीं, इस समय इनके कानों में भी बधाइयों की गूँज पहुँची तो तीनों बधाइयाँ देने वालों की ओर देखने लगीं।

मृणालिनी ने बात समझकर कहा, ''लो माया बहन का भी पत्ता कटा।''

''राजकुमारी की बारी भी आने वाली है।'' मायाविनी ने टेढ़ी दृष्टि से उसकी ओर देखकर कहा।

''माया बहन'' बहुत सौभाग्यवती हो।'' रमा ने कहा, ''तुम जानती हो कि कैसे से संयोग जुड़ रहा है और यहाँ पता ही नहीं कि देवता की नाक कितनी लम्बी है ?''

''गरुड़ जी से तो कम ही होगी।'' राजकुमारी ने हँसते हुए कहा। इस पर तीनों हँसने लगीं।

दो

काशिराज की धर्म-सभा में गुरु शंकराचार्य जी की विजय की धूम पहले पूर्ण काशी में और फिर वहाँ से भारत के छोटे-बड़े सभी नगरों में पहुँच गई।

काशी में उसी दिन सायंकाल गंगा के प्रत्येक घाट पर, धर्म-सभा में हुई युक्तियों की चर्चा चल पड़ी। भांग घोटते अथवा शतरंज खेलते, नौका में भ्रमणार्थ बैठे हुए अथवा स्नान करते हुए स्त्री-पुरुष के मुख पर एक ही बात थी—"श्री स्वामी शंकराचार्य जी ने महाराज की धर्म-सभा में वे युक्तियाँ और प्रमाण दिये कि भारत-भर के विद्वान् दाँतों-तले उँगली देने लगे।"

"इतनी छोटी अवस्था में यह ज्ञान, यह तर्क और इतनी विद्वत्ता तो परमात्मा की विशेष कृपा के कारण ही माननी चाहिए।"

"धन्य है वह माँ, जिसने इस प्रतिभाशाली पुत्र को जन्म दिया है।"

"धन्य है वह देश और गाँव, जिसकी मिट्टी में खेल-कूदकर यह बालक बड़ा हुआ है।"

"धन्य है वह पिता और गुरु, जिन्होंने इसके संस्कार ऐसे बनाए हैं, जिससे यह अपना पूर्ण अर्जित ज्ञान और प्रतिमा मानव-समाज के हित में यज्ञ-रूप करने निकल पड़ा है।"

इस प्रकार चर्चा चल पड़ी थी। प्रातः-सायं, जब आचार्य जी और उनके साथी दुर्गा मन्दिर से निकल गंगास्नान के लिए घाट की ओर जाते तो सहस्रों की संख्या में नगर के नर-नारी मार्ग के दोनों ओर खड़े हो जाते और जब आचार्य जी की मंडली गाती हुई निकलती, तो श्रोतागण गद्गद् हो 'धन्य-धन्य' कहने लगते।

स्वामी जी की मण्डली गाती—

"गतं तदैव मे भयं त्वदम्बु वीक्षितं यदा
मृकण्डुसूनुशोनकासुरारिसेवि सर्वदा
पुनर्भवाब्धिजन्मजं भवाब्धिदुःखवर्मदे
त्वदीयपादपंकजं नमामि देवि नर्मदे।
अलक्षलक्षकिन्नरा - मरासुरादिपूजितं
सुलक्षनीरतीर - धीरपक्षिलक्षकूजितं
वशिष्ठाशि टपिप्पलादिकर्दमादिशर्मदे
त्वदीयपादपंकजं नमामि देवि नर्मदे॥"

सायंकाल स्नानोपरान्त स्वामी जी महाराज दशाश्वमेध घाट की सबसे ऊँची सीढ़ी पर खड़े होकर, सीढ़ियों पर बैठे सहस्रों नर-नारियों को यह उपदेश देते थे—

"भारतभूमि परमपावनी, मोक्षदायिनी, सभ्यता और धर्म की जन्म-दात्रि तथा अनेकानेक महापुरुषों की माँ है। यहाँ जन्म लेने वाले परम भाग्यशाली और मानव-सृष्टि में सर्वश्रेष्ठ हैं।

"हम कर्म को प्रधान मानते हुए भी उसको ज्ञान के अधीन मानने वाले हैं। हमारे यहाँ शौर्य की अपार महिमा है। इस पर भी ब्राह्मणत्व की प्रधानता सर्वमान्य है। हम धन-वैभव को जाति की विभूति मानते हैं। इस पर भी ये सबकुछ विद्वत्ता के वरणों पर निछावर कर देते हैं।

"ऐसी हमारी भारतीय संस्कृति है। ये हमारी परम्पराएँ हैं और इन्हीं के बलबूते पर हम संसार में गुरु-पद पाए हुए हैं।

"हम सब एक हैं। हमारे देवी-देवता एक हैं। हमारी पूजा-विधि एक है। हमारे अनुष्ठान एक हैं और हमारा कर्मकाण्ड एक है। बद्रिकाश्रम से लेकर रामेश्वरम् तक हम सब एक हैं, हम भारतीय हैं और हमारे ज्ञान-विज्ञान, कर्म और निष्ठाओं का स्रोत श्रुति भगवती है। वह हम सब की माँ है।"

इस प्रकार देश में राजकीय अव्यवस्थाजन्य अनेकता को एक करने का प्रयास स्वामी शंकराचार्य जी ने आरम्भ कर दिया। इसी को वे अपनी समर-यात्रा मानते थे।

स्वामी जी जहाँ वेद-वेदांग के प्रकाण्ड विद्वान थे, वहाँ वे वाक्-शक्ति के स्वामी भी थे। उनकी वाणी में प्रभाव और ओज था। उनकी युक्तियों में तीव्रता और अजेयपन था। उनके प्रमाण अकाट्य होते थे। इसके अतिरिक्त स्वामी जी की स्मरण-शक्ति अद्वितीय थी। इतिहास और शास्त्रों के प्रमाणों में अद्भुत सत्यता होती थी।

काशी नगरी में स्वामी जी की धूम थी। इस धूम की ध्वनि प्रतिध्वनित होती हुई देश की चारों दिशाओं में फैल रही थी। इस पर भी ऐसे लोग थे जो स्वामी शंकराचार्य जी की ख्याति की प्रतिक्रिया का साकार रूप बन रहे थे। असी घाट पर स्थित पाठशाला के मुख्याध्यापक पण्डित फणीन्द्र देव इस प्रतिक्रिया के नेता बन गए। उन्होंने अपनी पाठशाला में विरोधी पक्ष के कुछ विद्वज्जनों को आमन्त्रित किया और शंकर के सिद्धांतों के विरुद्ध अपना वक्तव्य देकर एकत्रित विद्वानों से मत माँगा।

पण्डित फणीन्द्र देव का कहना था, "महर्षि बादरायण अद्वैतवाद के प्रतिपादन करने वाले थे। महर्षि की तपस्या और योग-शक्ति के कारण उनकी

युक्ति का उत्तर देकर कोई उनका अनादर करना नहीं चाहता था। भारत की विद्वान्-मंडली ने महर्षि की मीमांसा को सुनकर मुस्करा दिया था, परन्तु महर्षि प्रशिष्य स्वामी शंकराचार्य ने उस मत को हमारे गले में बलपूर्वक उतारने का यत्न किया है। हम उसकी बिना परीक्षा किए निगल जाने को तैयार नहीं हैं।

''न्याय-दर्शन का मत है कि संसार में तीन अनादि पदार्थ हैं। परमात्मा, आत्मा और प्रकृति। अद्वैतवाद का मत है, पूर्ण जगत् का आदि स्रोत परमात्मा है। यह विडम्बना है। उपनिषद् का मत भी इसके विपरीत है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते
तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्तयनश्नन्तन्यो अभिचाकशीति।'

''ऐसी अवस्था में अद्वैतवाद अमान्य होना चाहिए।''

इस पर विश्वनाथ मन्दिर के पुजारी ने कह दिया, ''यह देश का दुर्भाग्य है कि यहाँ अनेकों देवी-देवता बन गए हैं और प्रत्येक मत वाला अपने इष्टदेव को ही सर्वश्रेष्ठ मानता है। इस पर यह कहना कि सब इष्टदेव एक समान हैं और उनकी पूजा का एक ही फल है, कहाँ की युक्ति है? हमें इसका घोर विरोध करना चाहिए। जो देवता सबसे बलवान होगा, उसकी मान्यता सर्वसिद्ध होगी।''

इस सभा में गजानन मिश्र और सुरेश्वर भट्ट भी उपस्थित थे। सुरेश्वर भट्ट ने काल-भैरव की महिमा गान करनी आरम्भ कर दी। भट्ट जी ने बताया, ''भूत, भविष्य और वर्तमान का अधिष्ठाता होने के कारण काल-भैरव सब देवताओं से ऊपर है।''

इस पर विश्वनाथ मन्दिर के पुजारी को क्रोध चढ़ आया और उसने कहा, ''इस कारण मेरा प्रस्ताव है कि पहले इस सभा में निश्चय कर लिया जाए कि कौन देवता सर्वपूज्य है। तब उस देवता के आशीर्वाद के अधीन इस नास्तिक शंकर को परास्त किया जाए।''

गजानन मिश्र की नगर में भारी प्रतिष्ठा थी। वह इस गोष्ठी में चुपचाप बैठा था। उसने अपना मत बताना उचित नहीं समझा। वह समझता था कि उसके मत से उपस्थित लोग सहमत नहीं होंगे। उन सबको एकमत कर सकने की क्षमता भी वह अपने में नहीं समझता था।

विश्वनाथ का पुजारी समझता था कि गजानन विश्वनाथ का भक्त होने से अवश्य उसकी महिमा को सर्वोपरि समझता होगा और उसके कहने का समर्थन करेगा। इस कारण उसने राजपुरोहित को अपनी सम्मति देने के लिए कई बार कहा। गजानन चुप रहने की इच्छा प्रकट करता रहा, परन्तु जब चारों ओर से लोग उससे, सम्मति देने के लिए, आग्रह करने लगे, तो वह कहने लगा—''मैं

समझता हूँ कि आपके मन में अभी तक अपनी ही बात स्पष्ट नहीं। पण्डित फणीन्द्र देव जी तो अद्वैतवाद के विरोध में स्वामी जी से विवाद करना चाहते हैं। पुजारी जी विश्वनाथ जी को सर्वोपरि मानते हैं और भट्ट जी काल-भैरव को। इस प्रकार भिन्न-भिन्न विचार लेकर आप एक प्रकाण्ड विद्वान और शास्त्र के ज्ञाता की बात का खण्डन करना चाहते हैं। यह कैसे संभव होगा?

"आरम्भ में मैं भी स्वामी जी की बात को मिथ्या समझता था, परन्तु अब तो मुझको अपने विचारों पर सन्देह हो रहा है। अद्वैतवाद और द्वैतवाद का विवाद जनसाधारण के समझने की बात नहीं है। जनसाधारण को ठीक मार्ग पर आरूढ़ करने के लिए किसी-न-किसी इष्ट-देव का उपासक होना ही पड़ेगा। भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं में विरोध और प्रतिस्पर्धा उत्पन्न करने से जन-जन में विरोध तथा वैमनस्य उत्पन्न हो जाएगा। अतः यह बात माननी पड़ेगी कि परमात्मा एक है और भिन्न-भिन्न देवी-देवता उसी के भिन्न-भिन्न रूप हैं।

"रही अद्वैतवाद की बात। इस विषय पर गुरु शंकराचार्य जी से वार्तालाप किया जा सकता है। यदि आप लोग चाहें तो अपना एक प्रवक्ता नियुक्त कर लें और दुर्गा मन्दिर में अथवा किसी भी अन्य स्थान पर इस विषय पर संवाद किया जा सकता है।"

इस सभा में उपस्थित गण द्वैत तथा अद्वैतवाद के झगड़े में रुचि नहीं रखते थे। वे सब केवल अपने-अपने इष्टदेव की महिमा प्रतिष्ठित करने में रुचि प्रकट कर रहे थे। अतएव उनको गजानन मिश्र के वक्तव्य से सन्तोष नहीं हुआ। जब वे एकमत नहीं हो सके तो परस्पर झगड़ने लगे। द्वैत-अद्वैत विषय पर शास्त्रार्थ करने के लिए कोई भी अपना प्रवक्ता नियुक्त नहीं कर सका। बहुत देर तक वे अपने-अपने देवता के लिए सर्वमान्यता चाहते रहे।

इस समय पण्डित मणिधर, जो नास्तिक थे, कहने लगे, "एक आधारभूत भूल, जो वेदों ने पूर्ण संसार में फैला रखी है, वह परमात्मा के अस्तित्व को मानना है। हम विद्वानों को इस व्यर्थ के पदार्थ को छोड़ देना चाहिए और संसार के सुख की प्राप्ति के लिए योजना बनानी चाहिए।

"विचार्य विषय यह है कि कैसे हम सब सुख और शान्ति के लिए यत्न करें? इस विषय पर ऐसे ढंग से विचार किया जाए कि परमात्मा की आवश्यकता ही न पड़े। मैं समझता हूँ, ऐसा करने से ही हम अपने समय का सदुपयोग करेंगे।"

इस पर गजानन मिश्र ने कहा, "तो पण्डित मणिधरजी हमारी ओर से स्वामी जी से वार्तालाप करें।"

इस प्रस्ताव का सब ओर से विरोध होने लगा। वास्तव में पण्डित मणिधर

के विचारों की विजय का अर्थ था, परमात्मा का अमान्य होना और परमात्मा के अमान्य होने का अर्थ था, सब देवी-देवताओं को निस्तेज किया जाना। यह कोई भी नहीं चाहता था।

अत: यह सभा, बिना किसी निर्णय पर पहुँचे विसर्जित करनी पड़ी।

:: 2 ::

इस सभा से निकलते समय गजानन ने सुरेश्वर भट्ट को अपने रथ पर बैठा लिया, ''आइए भट्ट जी, मैं आपकी ओर ही जा रहा हूँ।''

सुरेश्वर भट्ट जी रथ पर बैठ गए और बोले, ''मैं आपके साथ आपके घर तक चलूँगा। एक बात मैं जानना चाहता हूँ कि आपने यह क्या कहा है कि आपके विचार बदल गए हैं और आपको अपने विचारों पर सन्देह होने लगा है?''

''आप जानते हैं कि मैं विश्वनाथ जी का उपासक हूँ। आचार्य जी से मिलने से पहले मैं समझता था कि अन्य सब देवी-देवता विश्वनाथ जी से छोटे और न्यून शक्ति वाले हैं। अब मेरे विचारों में परिवर्तन हो रहा है। मैं छोटा-बड़ा किसी को नहीं मानता। सब देवी-देवता परमात्मा के भिन्न-भिन्न गुणों के प्रतीक हैं। वास्तव में ये सब परमात्मा का रूप हैं। अत: अब मेरे मन में काल-भैरव के प्रति वह घृणा नहीं रही, जो पहले थी।''

''इस पर भी आपने काल-भैरव के उपासक के घर अपनी लड़के की सगाई कर दी थी?''

''इतना मैं तब भी मानता था कि हम सब अपने-अपने विचारों और मान्यताओं में स्वतंत्र हैं। यदि घृणा थी तो मद्य, मांस भक्षण के कारण थी, परन्तु अब मुझको इस बात पर भी घृणा नहीं रही। यह बात भक्त के विचार करने की है। किसी अन्य के नहीं।''

''तो आपके विचार में यह खान-पान की बात आपत्तिजनक नहीं रही?''

''आचार्य जी ने कहा है कि हम सब भारतीय हैं। हमारा ज्ञान और कर्म का स्रोत भगवती श्रुति है। श्रुति एक अथाह सागर है। कोई नहीं कह सकता कि किसने कितनी थाह इसकी पाई है। अत: भिन्न-भिन्न विचार होने से द्वैत और पृथकत्व की भावना नहीं होनी चाहिए। सबमें अधिकाधिक ज्ञान-प्राप्ति की लालसा बनी रहनी चाहिए। इस खोज में अपने से पीछे रह जाने वाले के प्रति दया का भाव होना चाहिए न कि घृणा का। भट्ट जी! इस कथन पर मनन करने पर मेरे मन से द्वेष और घृणा विलुप्त होती जा रही है।''

''यदि आपकी लड़की हमारे घर में विवाही जाती, तब भी आप ऐसा ही समझते क्या?''

''लड़का और लड़की में मैं अन्तर नहीं मानता। यदि एक से मेरा स्नेह है तो दूसरे के प्रति वात्सल्यता भी उतनी ही गंभीर है।''

इस समय गजानन मिश्र को ऊदल की बात स्मरण हो आई और वे भट्ट जी की ओर देखकर पूछने लगे, ''ऊदल का कुछ समाचार मिला?''

ऊदल को लापता हुए आज दस दिन हो गए हैं। विरोचन से यह पता चला था कि अयोध्या से आए अभ्यागतों में से एक, ऊदल से एकांत में कुछ कह रहा था। उसकी बात सुन ऊदल अपने मामा शंकर से मिलने गया था और फिर वह दिखाई नहीं दिया।''

''शंकर से आपको पता करना चाहिए था?''

''वह दुष्ट व्यक्ति है। कुछ बताता ही नहीं। इतना वह मान गया है कि रमा की सगाई के दिन ऊदल उससे मिलने गया था, परन्तु कुछ विशेष बातचीत नहीं हुई और न ही उसने कहीं जाने की बात बताई थी।''

इस समय गजानन मिश्र का निवास-स्थान आ गया। उन्होंने रथ छोड़ दिया और गृह में चले गए।

घर पर रमा के विवाह की तैयारियाँ वेग से हो रही थीं। अनेकानेक प्रकार के वस्त्र बनवाने के लिए घर की बैठक में दर्जी बैठे हुए थे और आँगन में सुनार भूषण बना रहे थे।

बैठक के एक कोने में बैठा विरोचन पत्र लिख रहा था। विरोचन को देख दोनों वृद्धजन उसके समीप जा खड़े हुए। विरोचन ने पत्र लिखना बन्द कर उसको लपेट अपनी पुस्तक में रख दिया। मिश्रजी ने पूछ लिया, ''विरोचन, यह पत्र किसको लिख रहे हो?''

विरोचन उत्तर देने में झिझक अनुभव करने लगा। इस पर दोनों वृद्धजन उसके समीप बैठ गए। भट्ट जी ने कहा, ''नहीं बताना चाहते तो न सही। हम जानने का आग्रह छोड़ते हैं।''

गजानन को यह बात उचित प्रतीत नहीं हुई। इस कारण उसके मुख पर चिन्ता की रेखाएँ बन गईं। विरोचन ने बात बदलने के लिए अथवा किसी अन्य कारण से कह दिया, ''पिता जी! ऊदल का पत्र आया है।''

दोनों वृद्धजन पहली बात को भूलकर उत्सुकता से पूछने लगे, ''कहाँ से?''

''पत्र अयोध्या जी से आया है, परन्तु उसने लिखा है कि वह पाटलिपुत्र के लिए प्रस्थान कर रहा है। उसने विवाह कर लिया है और जीविकोपार्जन के लिए वहाँ जा रहा है।''

भट्ट जी इस बात को सुन अवाक् हुए विरोचन का मुख देखते रह गए।

गजानन मिश्र ने इस बात पर चिन्ता प्रकट करते हुए पूछा, ''पत्र कौन लाया है?''

''मुझको विदित नहीं। शंकर मामा ने यह बात मायाविनी देवी से कही है और उसने एक पत्र मुझको लिखा है। मायाविनी देवी का पत्र यज्ञदत्त लाया था।''

''तो मायाविनी से तुम्हारा पत्र-व्यवहार चलता है?''

''हाँ, पिता जी!''

''बहुत प्रेम की बातें लिखती होगी?''

यह सुन विरोचन का मुख लज्जा से लाल हो गया। दोनों वृद्ध आश्चर्य में विरोचन का मुख देखने लगे।

''जैसा भाई वैसी बहन होगी। वास्तव में उनमें यह उच्छृंखलता कहाँ से आई है, मैं नहीं जानता। गजानन ने कह दिया।

इस प्रकार दोष एक से दूसरे के कंधे पर बदला जाता देख, विरोचन बोल उठा, ''पिता जी! यह आप अन्याय करने लगे हैं।''

''कैसा अन्याय? किस पर अन्याय?'' गजानन ने क्रोध में पूछा।

''आपने मेरे चरित्र पर संदेह किया है, मायाविनी देवी के चरित्र को भी निन्दनीय बताया है और उसके माता अथवा पिता पर भी लांछन लगाने जा रहे थे। यह अन्याय है।''

''विवाह से पहले तुम क्या पत्र-व्यवहार करते होंगे? इससे कहता हूँ।''

''यों तो कुछ भी ऐसी बात नहीं, जिसके लिए आपको चिंता करनी चाहिए। इस पर भी यदि आप चाहें तो मैं आपको उसका अन्तिम पत्र और अपना लिखा उत्तर अभी दिखा सकता हूँ।''

''दिखाओ।'' गजानन ने हाथ पसारकर कहा। विरोचन ने पुस्तक खोली और उसमें से एक अति सुन्दर सुलेख में लिखा पत्र निकाल कर दिखा दिया। पत्र इस प्रकार था—

''परम पूज्य स्वामी!

''आपने मुझको प्रिया शब्द से सम्बोधन किया है। मुझको इसमें बनावट प्रतीत हुई। प्रिया तो प्यार की जाने वाली को कहते हैं। यही तो अभी तक सिद्ध नहीं हो सका। आप तो ऐसे सुअवसर को दूर और दूरतम करने के लिए उत्सुक प्रतीत होते हैं। कदाचित् यह प्यार केवल विवश होकर कर्तव्य-पालन का सूचक है और तदर्थ आपका प्रिया शब्द भी। ''ऐसी अवस्था में यदि आप मुझको केवल माया नाम से सम्बोधन कर दिया करें तो मैं कृतज्ञ रहूँगी।

"आज के पत्र का एक कारण विशेष है। शंकर मामा आया था और कह गया है कि उसको ऊदल दादा का पत्र मिला है। उसने विवाह कर लिया है और जीविकोपार्जन के लिए पाटलिपुत्र जा रहा है।

"ऊदल दादा के जाने का स्वाभाविक दु:ख है ही। साथ ही उसके जाने के बाद आपके एक बार भी दर्शन नहीं हुए। यह दु:ख को और भी अधिक करने वाली बात हो रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि आपके बनावटी प्यार को ऊदल दादा बलपूर्वक घसीटकर इधर ले आया करते थे। इससे ऊदल दादा का अभाव और भी अधिक खटक रहा है।

"आप शंकर मामा से मिलकर दादा का पता करें तो हम पूर्ण परिवार के लोग आपके कृतज्ञ होंगे

—माया।"

"कब आया था यह पत्र?"

"अभी-अभी। पिता जी! मैं इसका उत्तर लिख रहा था।"

"ओह! तो इस प्यार के उल्हाने का क्या उत्तर दिया है?"

विरोचन का मुख पुनः लाल हो गया। उसने कुछ कहने की अपेक्षा अपना लिखा पत्र भी पिता जी को दे दिया। उस पत्र में लिखा था—

"माया!

"ऊदल दादा का पत्र शंकर को आया है। इससे सिद्ध होता है कि उसको दादा के विषय में सबकुछ ज्ञान था। पिता जी से कहकर दादा के विषय में और अधिक सूचना शंकर से पाई जा सकती है। मैं अपने पिता जी को भी कहूँगा कि इस विषय में उचित कार्रवाई करें।

"यह सत्य है कि ऊदल दादा मुझमें और मेरे स्वर्गलोक के मध्य सेतु का काम करता था। उस सेतु के विलुप्त हो जाने से मैं सागर पार करके अपने मन को छलकर ले जाने वाली तक पहुँच नहीं सकता।

"मुझमें साहस नहीं कि सागर को तैरकर पार कर सकूँ। अब या तो हनुमान जी की भाँति इसे लाँघना पड़ेगा अन्यथा दादा के आकर सेतु बाँधने की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

"बिना इसके अब प्रिये कहने का अधिकार छिन गया, परन्तु 'मेरे हृदय को छलकर ले जाने वाली' कहने का अधिकार मिल गया है।

"सो हे मायाविनी! शंकर जी से कह कर ऊदल की टोह ले लो, जिससे प्रकाश होकर मायाविनी प्रिय—वदना दिखाई देने लगे।"

"यह पत्र तो अभी समाप्त नहीं हुआ।" गजानन ने पुत्र की ओर प्रसन्नता-भरी दृष्टि से देखते हुए कहा।

"बस पिता जी! अब केवल यह लिखना रह गया है—मायाविनी रूपी बादलों से आच्छादित विरोचन।"

:: 3 ::

गजानन मिश्र, सुरेश्वर भट्ट और पुजारी कमलाकर जी के प्रबल आग्रह करने पर शंकर ने ऊदल का पत्र दिखा दिया। ऊदल ने लिखा था—

"प्रिय मामा जी!

"अयोध्या जी से नीलाम्बरा का पता लाने वाले गणपति सारस्वत, रघुनाथ पाठशाला के उपाध्याय हैं। वे रमा के मौसिया श्वसुर हैं। उनका सन्देह था कि यदि नीलाम्बरा की जीवन-रक्षा करनी है तो मैं तुरन्त अयोध्या पहुँच जाऊँ। जब मैंने उनसे और अधिक विवरण पूछा तो उन्होंने बताने से इंकार कर दिया। इस पर मैं आपसे सम्मति लेने चला आया था। आपने मुझको हतोत्साह ही किया था। मैं आपकी युक्ति को समझता था। आपका कहना था कि रुक्मिणी ने आपको पिटवाया था और सम्भावना यह है कि नीलाम्बरा मुझको पिटवा देगी। आपका विचार था कि नारायण और माधव इन देवदासियों को धनी-मानी लोगों के लिए सुरक्षित रखना चाहते हैं।

"मामा जी! मेरा मन कहता है कि अब आप वाली कहानी नहीं है। यदि नीलाम्बरा के मन में किसी प्रकार का मैल होता तो यह हमारे किसी सम्बन्धी के हाथ सन्देश न भेजती। इस कारण आपकी निराशाजनक सम्मति होने पर भी मैं उपाध्याय जी के डेरे पर जा पहुँचा। वे सब लोग स्त्रियों सहित रथों पर सवार हो अयोध्या जी के लिए प्रस्थान करने वाले थे। मुझको देख उन्होंने पूछा, 'क्या विचार है?'

'मैं अध्योध्या जी जा रहा हूँ। आप उसका ठिकाना बता दीजिए।' अयोध्या जी कैसे जाओगे?'

'पैदल ही जाने का विचार है। विचार है कि चार दिन में पहुँच जाऊँगा।'

"कुछ विचार कर उपाध्याय जी ने कहा, 'यदि तुम वचन दो कि मेरा नाम बीच में नहीं आएगा तो मैं तुमको अपने रथ में ले चलने के लिए तैयार हूँ। कल मध्याह्नोत्तर तुम वहाँ पहुँच जाओगे। रघुनाथ जी के मन्दिर में देवदासियाँ ठहरी हैं और वे अभी वहीं पर हैं।'

'परन्तु यह सन्देश कि वह मर रही है, आपको किसने दिया है और

यह किसने बताया है कि मेरे कारण यह दुर्घटना होने वाली है? कैसे आपने यह सब जाना है।'

'हमारी पाठशाला रघुनाथ जी के मन्दिर के एक पार्श्व में है। मैं चिकित्सा-कार्य भी करता हूँ। हमारे काशी जी आने के दो दिन पूर्व, नारायण, जो मृदंग बजाता है, मेरे पास आकर बोला कि, एक ज्वरग्रस्त रोगी है, आप उसको देख लीजिए ।'

'मैं रोगी देखने गया। देवदासी नीलाम्बरा थी। इस पौष मास में उसको लू लगने का-सा ज्वर चढ़ा देख, मुझको अचम्भा हुआ। मैंने एक देवदासी के अतिरिक्त और सबको बाहर निकाल नीलाम्बरा से उसके प्रियतम के विषय में प्रश्न पूछने आरम्भ कर दिये। इस पर दूसरी देवदासी आश्चर्य में मेरा मुख देखने लगी। यह देवदासी रुक्मिणी वारांगल थी। मैंने स्पष्ट कह दिया कि उसकी सखी को काम-ज्वर है और इसकी औषधि इसके प्रियजन से इसको मिलाना है। मेरी बात सुन नीलाम्बरा रोने लगी। रुक्मिणी ने पूछा, कि क्या इसका अन्य कुछ उपचार नहीं?'

'मैंने बता दिया कि कम-से-कम मुझको विदित नहीं।'

'इस पर रुक्मिणी ने बताया कि उसकी सखी सुरेश्वर भट्ट के सुपुत्र ऊदल पर मोहित हो गई है। सुरेश्वर भट्ट काशी के काल-भैरव मन्दिर के पुजारी हैं और पण्डित कमलाकर, वासुदेव मन्दिर के पुजारी, के दामाद हैं।'

''जब मैंने उसको बताया कि मैं काशी जा रहा हूँ और यदि रोगी चाहे तो उसके रोग की औषधि को लाने का यत्न कर सकता हूँ, तब नीलाम्बरा मेरे पाँव पकड़ कर रोने लगी। वह बोली कि मैं उसके पिता तुल्य हूँ। वह ऊदल से विवाह करना चाहती है।'

'परन्तु मेरा प्रश्न था, तुमने देवता के समक्ष वचन दिया है कि तुम आजन्म उसकी सेवा करोगी। उस वचन का क्या होगा?''

''उसने निराशा-भरी सूरत बनाकर कहा, फिर उसकी औषधि नहीं हो सकती?

'मैं इस प्रश्न का उत्तर नहीं जानता था। मुझको चुप देख रुक्मिणी ने कहा—आप ऊदल भट्ट को यहाँ ले आइए। शेष देख लिया जाएगा।'

''मैं इसका अर्थ यह समझा हूँ कि वह तुमको अपनी मण्डली में सम्मिलित करना चाहती है और अपनी सखी की चिकित्सा के लिए तुम दोनों को नरक के मार्ग पर ले जाना चाहती है।'

''मैं उपाध्याय जी की बात सुनकर काँप उठा। इस पर उन्होंने

कहा, 'यदि तुम चलना चाहते हो तो चलो। मैं तुम्हारी भेंट रुक्मिणी से करा दूँगा। शेष विचार करने का काम तुम्हारा है।'

''मैं उपाध्याय जी के रथ में बैठ, अगले दिन मध्याह्नोत्तर अयोध्या जी जा पहुँचा। उस रथ में उपाध्याय जी की पत्नी और साली भी बैठी थीं। उन्होंने भी नीलाम्बरा की कथा सुनी थी और वे मार्ग-भर उसकी ही बात करती रहीं।

''उपाध्याय जी की पत्नी की सम्मति थी कि मैं बिना विवाह के उस लड़की को काशी में ले आऊँ और उसको अपनी व्यावहारिक पत्नी बनाकर रखूँ।

''उपाध्याय जी स्वयं रथ चला रहे थे। वे अपनी पत्नी की इस बात को पसन्द नहीं करते थे। उनका कहना था कि बिना विवाह के किसी स्त्री से सम्बन्ध बनाना पाप है और देवदासी तो विवाह कर ही नहीं सकती।

''ऐसा प्रतीत होता है कि उपाध्याय जी की साली, लोकेश्वरी देवी, अपनी बहन से अधिक समझदार थी। उसने उपाध्याय जी से पूछा, 'भला बताइए कि देवता के समक्ष दिया हुआ वचन तोड़ना अधिक पाप है अथवा जीवन-भर वेश्यावृत्ति करना?'

''उपाध्याय जी इस प्रश्न से गम्भीर विचार में पड़ गए। उनको चुप देख लोकेश्वरी देवी ने पुनः कहा, 'यह मनुष्य-जन्म गुण और दोषों से भरा हुआ है। हमारे कार्य में जहाँ गुण होते हैं, वहाँ दोष भी। पाप-पुण्य दोनों साथ-साथ चलते हैं। हमको अपनी बुद्धि से कम-से-कम पाप का मार्ग स्वीकार करना चाहिए।

''देखो भैया ऊदल!'' उस स्त्री ने मुझको सम्बोधित कर कहा, 'उस लड़की से कहना कि वह वचन-भंग कर तुमसे विवाह कर ले और तुम्हारी धर्मनिष्ठ गृहिणी बन, जीवन व्यतीत करे। यही मार्ग उसके लिए श्रेयस्कर है।'

'परन्तु उससे मेरा विवाह कौन कराएगा?' मेरा प्रश्न था।

'गणपति पण्डित करा देंगे।'

'नहीं बहन! मैं नहीं कराऊँगा।' उपाध्याय जी ने कहा।

'आपको कराना होगा और देवता के समक्ष दिये वचन-भंग का प्रायश्चित्त ढूँढ़कर कराना होगा। देखिए जीजा जी! यदि वह मर गई तो मानव-हत्या का पाप आप पर होगा। वैद्य होते हुए और औषधि जानते हुए आपने उसकी चिकित्सा नहीं की। यदि वह जीती रही और फिर वेश्यावृत्ति करने लगी तो आपके जन्म-जन्मान्तर के पुण्य इस पाप के

प्रभाव में क्षीण हो जाएँगे।'

''उपाध्याय जी की साली की यह युक्ति सफल सिद्ध हुई। अयोध्या जी में पहुँचकर उन्होंने मुझको अपने घर में रखा। और अपना सेवक भेज नीलाम्बरा का समाचार मँगवाया। उसको अभी तक तीव्र ज्वर था। रुक्मिणी वैद्य जी के पास औषधि लेने आई। इस पर वैद्य जी ने पुन: नीलाम्बरा के रोग का निदान कर दिया। उसके रोग की चिकित्सा भी उन्होंने बता दी।

''रुक्मिणी अनिश्चित मन थी, परन्तु जब उसने नीलाम्बरा को मेरे वहाँ पहुँचने का समाचार दिया तो वह उसी सायंकाल ज्वर में ही भागकर चली आई। उसके भागने का रहस्य केवल रुक्मिणी को विदित था। उपाध्याय जी ने उसी रात हमारा विवाह कर दिया और फिर नीलाम्बरा को देवदासियों के शिविर में वापस भेज दिया गया।

''इसके बाद तीन-चार दिन तक प्रति सायंकाल औषधि लेने के बहाने नीलाम्बरा वैद्यजी के घर आती रही और मुझसे मिलती रही। अब वह सर्वथा स्वस्थ है।

''वैद्यजी की साली कल अपने मायके पाटलिपुत्र जा रही है। उसने मुझको और नीलाम्बरा को अपने साथ रथ में ले चलने का वचन दिया है।

''आज रमा के वस्त्रों का नाप लेने के लिए उसके ससुराल से कुछ लोग काशीजी जा रहे हैं और मैंने उनमें से एक के हाथ यह पत्र आपके पास भेजने का प्रबन्ध कर दिया है। जब तक यह पत्र आपको मिलेगा, मैं अपनी पत्नी सहित पाटलिपुत्र के लिए प्रस्थान कर चुका हूँगा।

''पाटलिपुत्र जाकर कोई कार्य कर जीविकोपार्जन करने का विचार है। उसके बाद समाचार भेजूँगा। अब काशीजी लौटने का विचार भी नहीं कर सकता। गणपति उपाध्याय जी के कथनानुसार मैंने देवदासी से विवाह कर घोर पाप किया है और उनको अभी तक इस पाप का प्रायश्चित्त किसी भी शास्त्र में नहीं मिला।

''ऐसी अवस्था में पिता जी और माता जी मुझको क्षमा कर सकेंगे क्या?

—आपका ऊदल।''

इस पत्र को पढ़कर सुरेश्वर, गजानन और कमलाकर विचार करने लगे कि क्या किया जाए। पहले ऊदल के पिता ने क्रोध में कह दिया, ''मैं सदा के लिए ऊदल का त्याग करता हूँ।'' परन्तु कमलाकर जी के कहने पर और ऊदल की विमाता के कहने पर एक मार्ग निकल आया। योजना यह थी कि यदि

ऊदल काशी आ जाए तो गजानन जी काशिराज से कहकर उसके कर्म के प्रायश्चित्त करने की व्यवस्था करवा दें। उस व्यवस्था में लड़की से प्रायश्चित्त करने की बात भी हो जाए।

इस योजना में गजानन ने अपनी ओर से पूर्ण यत्न करना का वचन दे दिया। साथ ही उसने यह भी कह दिया कि यदि प्रायश्चित्त की व्यवस्था अति कठोर हुई तो वह किसी प्रकार भी महाराज की आज्ञा की अवहेलना नहीं कर सकेगा।

कमलाकर जी का कहना था, ''मैं और सुरेश्वर भट्ट जी लड़की को बचाने का पूर्ण यत्न करेंगे।''

इस पर विचार होने लगा कि ऊदल को काशी कैसे लाया जाए। इस कार्य के लिए यह निश्चय कर दिया गया कि कोई व्यक्ति रथ लेकर तुरन्त अयोध्या जी चला जाए और फिर उसका पाटलिपुत्र का पता मालूम कर वहाँ जाए और उसको यहाँ ले आए।

कमलाकर जी का कहना था कि यदि उसके देवदासी से विवाह की बात मगध के राज्याधिकारियों को विदित हो गई तो, सम्भव है दोनों को मृत्यु-दण्ड हो जाए।

इस सम्भावना से भयभीत हो विरोचन को पं० गजानन मिश्र ने अपने रथ में ऊदल के पीछे भेजने का निश्चय कर लिया।

:: 4 ::

अयोध्या से पाटलिपुत्र पहुँचने के लिए गंगा और सरयू पार करनी पड़ती थीं। अधिकांश यात्री रथों पर अथवा पैदल सरयू के किनारे-किनारे गंगा तक जाते थे। दोनों नदियों के संगम के समीप गंगा को नौकाओं से पार करते थे, गंगा के दक्षिण तट के साथ-साथ पाटलिपुत्र तक चले जाते थे।

विरोचन को जब ऊदल को पकड़कर वापस लाने का काम दिया गया तो उसने अयोध्या जी जाने की अपेक्षा सरयू और गंगा के संगम की ओर जाने का विचार कर लिया। उसका विचार था कि इस प्रकार वह ऊदल से पहले वहाँ पहुँच जाएगा।

हुआ भी ऐसा ही। संगम पर ऊदल से वह दो प्रहर पहले पहुँच गया। काशी से चलने के अगले दिन मध्याह्न के समय वह संगम पर पहुँचा और वहाँ पहुँचते ही उसने नाविकों से पता किया। उसको पता चला कि दो दिन से कोई रथ गंगा जी के पार नहीं गया। इससे अनुमान लगा कि ऊदल और उपाध्याय जी की साली अभी नहीं आए, वह अयोध्या जी के पथ पर लौट पड़ा। तीसरे प्रहर

उसको ऊदल, नीलाम्बरा और लोकेश्वरी देवी, रथ पर आते दिखाई दिये। विरोचन अपने रथ से उतरा और पथ के बीचोबीच खड़ा हो, रथ रोकने के लिए हाथ से संकेत करने लगा। ऊदल ने विरोचन को पहचाना और रथ रुकवा लिया।

विरोचन ने बताया, ''ऊदल दादा! बिना बताये भाग आए थे न? परन्तु विरोचन तुमको ऐसा मिला है, जो जन्म-भर छोड़ेगा नहीं।''

''ऐसा प्रतीत होता है कि शंकर मामा ने सब भेद खोल दिया है।''

''शंकर मामा ने अपने मुख से कुछ नहीं कहा। हाँ, तुम्हारा उसके नाम पत्र मिल गया और पता चला कि तुम एक मूर्खता करने के बाद दूसरी और करने जा रहे हो।''

''भैया! अपने विचार से बहुत बुद्धिमत्ता की बात की है। नीलाम्बरा की जान बची। मुझको अपनी प्रियतमा मिली और लोकेश्वरी देवी को हमें विवाह-बन्धन में बाँधने का पुण्य लाभ हुआ।''

''और पाटलिपुत्र में यदि यह पता चल गया कि यह देवदासी है तो तुमको मृत्यु-दण्ड और इनको आजीवन कारावास अथवा गणिका की पदवी मिलेगी। कितनी बुद्धिमत्ता की है?''

''यदि मरना है तो पाटलिपुत्र क्या और काशी क्या? दोनों स्थानों से स्वर्ग अथवा नरक एक समान दूर हैं।''

''नहीं दादा! स्वर्ग तो इस पाप-कर्म से मिलेगा नहीं, हाँ नरक पाटलिपुत्र के समीप है और काशी से दूर।

''देखो दादा! वहाँ काशिराज हैं, जो ऐसे विषयों में धर्म-सभा की सम्मति लेते हैं। धर्मसभा में पिता जी का भारी मान है। तुम्हारे नाना जी और पिता जी भी धर्मसभा में बैठ सकते हैं। फिर एक मायाविनी देवी हैं और उनकी एक सहेली मृणालिनी देवी हैं। एक शर्मिष्ठा देवी हैं और उनकी बात महारानी जी तक पहुँच सकती है।

''अब बताओ, काशी नरक से दूर है अथवा पाटलिपुत्र। पाटलिपुत्र में तुम्हारा कौन है?''

''परन्तु क्या पिता जी मेरे अपराध को क्षमा कर देंगे?''

''क्षमा तो कदाचित् नहीं करेंगे। हाँ, तुमको मृत्यु दण्ड से बचा लेंगे।''

''और मुझको? '' नीलाम्बरा ने पूछ लिया।

''तुम?....तुम? तुमको मैं नहीं जानता। तुम अपनी सास के पाँव पकड़ लेना और फिर देखना कि एक स्त्री दूसरी स्त्री के लिए क्या कुछ कर सकती है।''

लोकेश्वरी भी विरोचन का तर्क सुन रही थी। उसने कहा, ''पाटलिपुत्र में

अभी बौद्धों का प्रभाव है। हम आशा करते थे कि वे देवदासियों के वचन-भंग को अधिक महत्व नहीं देंगे और इस विषय को सरलता से दबाया जा सकेगा।''

''यह ठीक है बहन जी! इस पर भी सम्भावना है कि बौद्ध एक ब्राह्मण अपराधी की रक्षा करने में अपने को बदनाम नहीं होने देंगे। वे यह विषय इनको, ब्राह्मणों के समक्ष उनकी व्यवस्था के लिए छोड़ देंगे, जिससे एक ब्राह्मण को मृत्यु-दण्ड देने का दोष ब्राह्मणों पर ही लग सके और उनका धर्म बदनाम हो।''

विरोचन की युक्ति प्रबल थी। इसके बाद कुछ कहने को नहीं रहा। ऊदल और नीलाम्बरा लोकेश्वरी के रथ से उतर विरोचन के रथ में आ गए और विरोचन वहाँ से संगम से होता हुआ, तीन दिन बाद काशी लौट आया। ऊदल और उसकी पत्नी को आया देख ऊदल के नाना, पिता और गजानन मिश्र विचार-विमर्श करने लगे। समस्या यह थी कि इस विषय में व्यवस्था कैसे प्राप्त की जाए? क्या चिदम्बरम् के पुजारी के आरोप लगाने की प्रतीक्षा की जाए अथवा उसके अभियोग लगाने से पहले ही स्वयं व्यवस्था का आह्वान कर लिया जाए।

तीनों विद्वान् इस विषय पर सहमत नहीं हो सके। पण्डित कमलाकर का कहना था कि यदि ऊदल बिना राज्य-न्यायालय को सूचना दिये इस देवदासी को अपने घर पर रख लेगा, तो भेद खुलने पर न केवल वह दोषी सिद्ध होगा, प्रत्युत उसका पिता और उसके परिवार के अन्य सदस्य भी अपराधी माने जाएँगे।

देवदासी को अपनी पत्नी अथवा दासी के रूप में रख लेना उतना ही अपराध है, जितना किसी चोरी के माल को घर में रख लेना। अतः व्यवस्था तुरन्त लेनी चाहिए और उसका विचार था कि विवाह की बात छिपा ली जाए और नीलाम्बरा स्वयं काशिराज के सामने उपस्थित हो, अपने को भगवान् के सामने दिये वचनों से मुक्ति मिलने की व्यवस्था माँगे।

पण्डित गजानान मिश्र का दोनों विद्वानों से मतभेद था। उसका कहना था कि रमणाचार्य जी द्वारा अभियोग चलने तक चुपचाप बैठे रहने का अर्थ यह लिया जाएगा कि हमने एक देवदासी को देवता की सेवा से पृथक् करने का अपराध मानते हुए भी ऐसा किया है और इसको छिपाया है। अतः सूचना राज्य-सभा के सामने चली ही जानी चाहिए। उस सूचना में कुछ भी असत्य भाषण अथवा लुकाव-छिपाव किया गया तो अपराध सिद्ध हो जाएगा। अपराध छोटा है अथवा बड़ा, यह न्यायालय के निर्णय करने की बात हो जाएगी। अतः पूर्ण वृत्तान्त राज्य के समक्ष रखना चाहिए।

प्रश्न केवल यह रह जाता है कि यह वृत्तान्त कौन पहुँचावे अथवा किस

भाँति पहुँचाया जाए। नीलाम्बरा का राजा के सामने जाकर अपने वचन से मुक्ति माँगने की बात ठीक नहीं होगी। इसका अर्थ यह होगा कि ऊदल अपनी पत्नी की ओट लेकर अपने को बचाना चाहता है।

"मेरी सम्मति यह है," गजानन मिश्र ने कहा, कि "ऊदल और उसकी पत्नी, दोनों को चाहिए कि पूर्ण घटना राजा के सामने वर्णन कर दें। ऊदल के पिता देवदासी को धर्म-सभा से व्यवस्था लेकर वचन से मुक्ति कराने का यत्न करें। जिससे अपने पुत्र को अपने घर में रख सकें।"

इतना विचार कर पूर्ण बात को धर्म-सभा में उपस्थित करने के लिए दबाव डालने की योजना बनने लगी। रात-भर तीनों विद्वान् इस जटिल समस्या के विषय में विचार करते रहे। विरोचन, ऊदल और नीलाम्बरा भी बैठे अपने बड़ों की बातें सुन रहे थे। दिन निकलने पर इस योजना को अन्तिम रूप देने के लिए यह विचार किया गया कि थोड़ा विश्राम कर लिया जाए और फिर योजना को चलाने का यत्न किया जाए। जब वे उठकर चले गए तो नीलाम्बरा ने ऊदल से पूछा, "अब क्या होगा?"

उत्तर विरोचन ने दिया। उसने कहा, "तुम घर के भीतर चली जाओ और मायाविनी और उसकी माँ के पाँव पकड़कर उनका आशीर्वाद प्राप्त करो। इसके बाद आगे की बात पर विचार किया जा सकेगा।"

ऊदल तो, इस साधारण-सी बात के लिए इतनी उलझन उत्पन्न होती देख किंकर्त्तव्यविमूढ़-सा खड़ा रहा। विरोचन हताश नहीं हुआ। उसने रथ में आते हुए और बड़ों की बातें सुनकर, अपने मन में एक योजना बना ली थी।

जब नीलाम्बरा अपनी सास के आगार में चली गई, तो ऊदल ने विरोचन से पूछा, "भैया! अब क्या कहते हो?"

"देखो ऊदल दादा! मैं समझता है कि अधिक पढ़ने और सीमा से अधिक पूजा-पाठ करने से हमारे पूज्य-जनों में व्यावहारिक बुद्धि नहीं रही। इससे वे कोई व्यवहार-योग्य योजना बना नहीं सके। मेरा कहना यह है कि मायाविनी और उसकी माता जी नीलाम्बरा को वचन से मुक्ति दिलवा देंगी। उनको नीलाम्बरा को अपने साथ महारानी जी के पास ले जाकर उन्हें सत्य-सत्य बात बता देनी चाहिए। इससे महारानी जी की सहानुभूति नीलाम्बरा के साथ हो जाएगी और वे महाराज पर प्रभाव डालकर उसको क्षमा दिलवा देंगी।"

ऊदल को विरोचन की योजना पसन्द आई और उसके मन में पुनः आशा बँध गई।

ऐसा ही हुआ। शर्मिष्ठा देवी नीलाम्बरा को लेकर महारानी जी के पास जा

पहुँची और महारानी जी ने पूर्ण वृत्तान्त जानकर महाराज को वहाँ ही बुला लिया। महाराज ने जब बात सुनी तो नीलाम्बरा को राय दी कि वह आज ही अपने पति के साथ राज्य-सभा के सम्मुख उपस्थित हो जाए। लुकाव-छिपाव करने से अपराध बढ़ेगा ही, घटेगा नहीं। महाराज ने यह भी कहा कि उनकी सम्मति में यह विषय धर्म-सभा के विचार करने का है और उसमें शर्मिष्ठा देवी के पति बहुत-कुछ कर सकते हैं।

इस प्रकार एक निश्चित मार्ग मिल गया। जिस समय ऊदल नीलाम्बरा को लेकर राज्य-सभा में उपस्थित होने गया, विरोचन श्री स्वामी शंकराचार्य जी की गोष्ठी में जा पहुँचा। उसका मन कह रहा था कि उनकी भी सम्मति इस विषय में लेनी चाहिए।

:: 5 ::

स्वामी शंकराचार्य जी अपनी पूजा, ध्यानादि से निवृत्त हो नित्य के उपदेश और वाद-विवाद में लीन थे। श्रोतागण संशय निवारणार्थ आए हुए थे। आज पण्डित फणीन्द्र देव प्रश्न करने वालों में उपस्थित थे। उन्होंने प्रश्न पूछा था, "गुरुदेव! कौन-सी पुस्तक परम मान्य हो सकती है?"

"सब सत्य विद्याओं की पुस्तकें मान्य हैं।"

"पुराण, ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद् अथवा वेद, इनमें कौन-सी पुस्तक प्रमाण है?"

"मैंने निवेदन किया है कि सब प्रमाण हैं।"

"तो उनमें परस्पर मतभेद क्यों है?"

"मतभेद कहीं भी नहीं है। यह मतभेद कहने वाले की समझ की भूल है। देखिए पण्डित जी! प्रथम श्रेणी से बालक को पढ़ाया जाता है कि माता-पिता का कहा मानो। फिर उच्च श्रेणी में जाने पर उसको कहा जाता है कि गुरु-जनों का आदेश मानने योग्य है। तदनन्तर शिक्षा समाप्त होने के समय मनुष्य को आप्तपुरुषों की बातों को प्रमाण मानने को कहा जाता है। क्या ये सब बात सत्य नहीं? सत्य होने से प्रामाणिक नहीं है क्या?"

"महाराज! श्रुति, ब्राह्मण-ग्रन्थ, उपनिषद् आदि सब पढ़ाई समाप्त होने पर पढ़े जाते हैं और इस पर भी भिन्न-भिन्न उपदेश देते हैं।"

"पढ़ाई अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति तब ही पूर्ण होती है, जब प्राणी अपनी वास्तविक स्थिति को समझ लेता है। इसको आत्म-निरूपण कहते हैं। इस अवस्था तक पहुँचने के लिए कई सोपान चढ़ने पड़ते हैं। प्रत्येक सोपान पर उसको अगले सोपान तक पहुँचने के लिए एक ढंग बता दिया जाता है और वह

ढंग उससे पहले और पीछे के सोपान पर चढ़ने से भिन्न हो सकता है। सब बातें सत्य हैं, यद्यपि उनमें अन्तर है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में विभिन्नता माननी चाहिए।''

''किन्तु तथ्य क्या है?''

''आत्मैवाधस्तादात्मौ परिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणात् आत्मोत्तरत सर्वमिति।''

''इस तथ्य से अवगत मनुष्य आत्म-दर्शी हो जाता है।''

''आप कैसे कहते हैं कि ऐसा प्राणी उन्नति के अन्तिम सोपान पर पहुँच गया है?''

''जब सबकुछ आत्मा अर्थात् परमात्मा ही दिखाई देने लगता है, तब प्राणी स्वयं भी उसी में घुल-मिल गया अनुभव करता है। उसके आगे और कुछ नहीं हो सकता। यदि है तो आप बताइए?

''देखिए पण्डित जी महाराज! मोटी दृष्टि से संसार विविध वस्तुओं से भरा दिखाई देता है। कतिपय विचार करने पर प्रतीत होता है कि प्रकृति, आत्मा और परमात्मा तीन पदार्थों से पूर्ण संसार बना है। जो ज्ञानी इससे भी आगे जाते हैं, वे इन तीनों को एक रूप में देखते हैं और उनको सर्वत्र आत्मा-ही-आत्मा दिखाई देने लगता है। इसका अर्थ यह नहीं कि जो मनुष्य अन्न, जल, वायु, घोड़ा, गाड़ी, पेड़, पक्षी इत्यादि वस्तुओं तथा उनके गुणों को देखता है, वह असत्य देख रहा है। वस्तुएँ सत्य हैं ओर देखने वाले को भी सत्य दिखाई देती हैं।

''यही मनुष्य यदि कुछ सूक्ष्म दृष्टि से इन वस्तुओं को देखे, तो उसको ये जड़ पदार्थ परमाणुओं से बनी प्रतीत होते हैं। सब परमाणुओं का अन्तिम रूप एक ही है। वह प्रकृति है।

''इससे भी अधिक गम्भीरतापूर्वक देखने वाले को आत्मा, परमात्मा और प्रकृति एक ही प्रतीत होने लगते हैं। उस समय सत्, रज, तम की साम्यावस्था हो जाती है। तब आत्मा परमानन्द को प्राप्त होता है और उसकी यह अवस्था ज्ञान से परिपूर्ण कहाती है। यह अवस्था ही परब्रह्म परमात्मा कहाती है।''

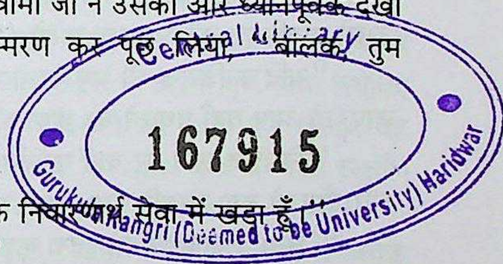
पण्डित फणीन्द्रदेव का संशय निवारण नहीं हुआ। उसने एक प्रश्न और पूछ लिया, ''यदि यह सब जगत् मिथ्या है तो फिर आप पूजा-पाठ गृहस्थ-जीवन इत्यादि के पालन का उपदेश क्यों देते हैं? क्या मिथ्या वस्तुओं के जानने और भोग करने से प्राणी मिथ्या भ्रम में फँस नहीं जाता? क्या संसार का त्याग शेष नहीं रह जाता, जो करने योग्य हो?''

स्वामी जी ने कहा, ''मैंने कब कहा है कि संसार मिथ्या है? जैसे बालक की शिक्षा कि माता-पिता का कहा माने, मिथ्या नहीं और फिर गुरु का आदेश

पालन भी मिथ्या नहीं और तदनन्तर अधिक ज्ञान-प्राप्त विद्यार्थी को आप्त पुरुषों की बात मानने को कहना भी मिथ्या नहीं; इसी प्रकार एक दुकानदार को यह कहना कि माल कम न तोलो, एक न्यायकर्ता को यह कहना है कि निष्पक्ष होकर न्याय करे और एक शिल्पकार को यह कहना कि परिश्रम से काम करे, सब बातें सत्य हैं।'' वैसे ही जितनी-जितनी किसी की दृष्टि में सूक्ष्मता आती जाती है, उतनी ही बात उसको बताना सत्य है। न तो स्थूल दृष्टि से दिखाई देने वाला संसार मिथ्या है, न ही स्थूल व्यवहार करना मिथ्या व्यवहार है।

''देखिए भगवन्! सर्प उतना ही मिथ्या रूप है प्रकृति का, जितना मनुष्य। इस कारण मानव-रूप की सर्प से रक्षा मिथ्या नहीं। दो मिथ्या दृष्टियाँ परस्पर संपर्क में आकर प्रभावहीन हो जाती हैं। यदि एक मिथ्या रूप की रक्षा करना आवश्यक है तो विरोधी मिथ्या रूप का विरोध भी आवश्यक है। अत: सर्प को मार डालना सत्य है।''

इस दिन के वाद-विवाद में फणीन्द्रदेव सर्वथा परास्त होकर घर गए। जब लोग स्वामी जी के चरण-स्पर्श करके जा रहे थे तो विरोचन भी चरण-स्पर्श करने के लिए आगे आया। चरण-स्पर्श कर हाथ जोड़कर वह खड़ा हो गया। जब वह सामने से नहीं हटा, तो स्वामी जी ने उसकी ओर ध्यानपूर्वक देखा और इसकी धर्म-सभा में भेंट को स्मरण कर पूछ लिया, ''बालक, तुम राजपुरोहित जी के पुत्र हो न?''



''हाँ गुरुदेव!''

''क्या चाहते हो?''

''मेरे मन में एक संशय है। उसके निवारणार्थ सेवा में खड़ा हूँ।''

''पूछो, क्या पूछना चाहते हो?''

''मैं यह जानना चाहता हूँ कि एक अद्वैतवादी संन्यासी सांसरिक जीवों के सांसारिक कार्यों में, उनका संरक्षण अथवा पथ-प्रदर्शन कर सकता है अथवा नहीं?''

''मैंने अभी बताया है कि संसार मिथ्या नहीं है। संसार को इस रूप में न समझ सकने वाले की दृष्टि में दोष है। इस पर भी सांसारिक जीवों को, जो मोटी दृष्टि से देखते हैं, संसार जैसा दिखाई देता है, वैसा ही ग्रहण करना चाहिए।''

''ठीक है प्रभु! यदि संसार सांसारिक दृष्टि से भूल कर रहा हो, तो एक अद्वैतवादी संन्यासी को, उनको सांसारिक दृष्टि से मार्ग दिखाना चाहिए अथवा नहीं?''

''मैंने इस प्रश्न का उत्तर दे दिया है। एक पुरुष को सर्प डसने जा रहा है। उस पुरुष की सर्प से रक्षा करना प्रत्येक प्राणी का कर्त्तव्य है।''

"यदि किसी स्थान पर धर्म-व्यवस्था ऐसी बन गई हो, जो मानवता के पनपने में बाधक हो, तो उस धर्म-व्यवस्था के बदलने में यत्नशील होना चाहिए कि नहीं?"

"हाँ, यथासंभव और यथाशक्ति दूषित। धर्म-व्यवस्था में संशोधन करना संन्यासी का उतना ही कर्त्तव्य है, जितना आत्म-ज्ञान प्राप्त करना। वास्तव में लोक-कल्याण भी आत्म-निरूपण में एक सोपान है।"

"एक मानव अपने को भूल से किसी ऐसे कार्य में वचनबद्ध कर बैठा है, जिसका पालन करना वह अनुचित समझने लगा है। उस वचन से वह बाहर कैसे हो सकता है?"

"प्रायश्चित्त करके।"

"प्रायश्चित्त का निश्चय कौन करेगा?"

"धर्मशास्त्री।"

"यदि धर्मशास्त्र में उसका उल्लेख न हो तो? कदाचित् जब धर्म-शास्त्र बना था, तब वैसे वचन में बँधने की प्रथा नहीं थी। उस वचन-भंग का प्रायश्चित्त भी धर्मशास्त्र में नहीं है।"

"तब बुद्धि से देखेंगे कि उस वचन-भंग से किसको कितनी हानि हुई है। उससे प्रायश्चित्त की व्यवस्था करेंगे।"

"यदि काशिराज की धर्म-सभा में किसी विषय पर आपकी सम्मति माँगी जाए, तो आप वहाँ पधारने का कष्ट करेंगे?"

"निमंत्रण आने पर वहाँ पहुँचूँगा अवश्य, परंतु सम्मति दूँगा अथवा नहीं और दूँगा तो क्या सम्मति दूँगा, अभी नहीं बता सकता।"

"धन्य हैं आप! मैं तो इतना कुछ ही जानना चाहता था। मुझको संदेह था कि आप विरक्त जीव हैं और आपको संसारी जीवों के कार्यों से कुछ भी प्रयोजन नहीं। इस कारण आप हम क्षुद्र जीवों की भूलों और त्रुटियों से निर्लेप रहना चाहेंगे। परन्तु आज आपकी संसार के पदार्थों पर जीवों के विषय में विवेचना सुनकर मेरे मन में उक्त प्रश्न उठे थे। इस विषय में आपकी सम्मति जानकर मेरा चित्त बहुत प्रसन्न हुआ है।

"महर्षि बादरायण जी के अद्वैतवाद के विषय में यह भ्रम फैल रहा है कि एक अद्वैतवादी संसार से पृथक् हो, इससे सर्वथा निर्लेप हो जाता है। वह सांसारिक जीवों के मोटी दृष्टि से किए कार्यों से अलिप्त होकर रहता है।

"आपकी विवेचना से मेरे भ्रम का निवारण हो गया है। अतएव मैं आपका अत्यन्त आभारी हूँ।"

:: 6 ::

इसके दो दिन बाद गुरु शंकराचार्य के नाम काशिराज का एक पत्र आया। पत्र का आशय था, ''काशी की धर्म-सभा में एक धर्म-संकट उपस्थित हो गया है। हम धर्म-संकट के सब विषयों का धर्म-सभा की सम्मति के अनुसार निर्णय करते हैं। इस एक विषय में धर्म-सभा किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सकी। अतः यह सुझाव उपस्थित किया गया है कि आपसे इस विषय में सम्मति ली जाए।

''हम और राज्य आपके अत्यन्त आभारी होंगे, यदि आप कल मध्याह्नोत्तर सभा में पधार कर इस विषय में व्यवस्था देंगे। आपने सांसारिक जीवों के कल्याण के लिए अवतार लिया है, अतएव आप धर्म-सभा में पधार कर हम सबको कृतार्थ करें।''

पत्र पढ़कर, स्वामी जी को विरोचन की सूझ-बूझ पर हँसी आ गई। विरोचन की एक बात उनको स्मरण आ रही थी। विरोचन ने कहा था—किसी ने वचन-भंग किया है और उस वचन-भंग का प्रायश्चित्त शास्त्र में नहीं है। कदाचित् शास्त्र बनने के समय वैसा वचन देने की प्रथा थी नहीं। इससे इस विषय में और अधिक जानने की इच्छा स्वामी जी के मन में उत्पन्न हो गई।

घटना इस प्रकार हुई कि ऊदल और नीलाम्बरा महाराज के सुझाव पर स्वयं राज्य-सभा में उपस्थित हो गए और ऊदल ने अपनी पूर्ण कथा यथावत् वर्णन कर दी। उसमें उसने शंकर और रुक्मिणी की बात नहीं बताई। वह समझता था कि उनकी बात उसके विषय के साथ सम्बन्ध नहीं रखती। उपाध्याय गणपति सारस्वत द्वारा उनके विवाह करने की बात आ गई थी।

सब कथा सुनकर काशिराज ने पूछा, ''उपाध्याय गणपति जी ने विवाह से पूर्व क्या किसी प्रकार का प्रायश्चित्त करने को नहीं कहा?''

ऊदल का उत्तर था, ''उपाध्याय जी और उनके सम्बन्धियों ने धर्म-शास्त्र में इस अपराध का प्रायश्चित्त ढूँढ़ने का यत्न किया। न यह कर्म उनके राज्य में प्रचलित है, न ही धर्म-शास्त्र में इसके उल्लंघन का प्रायश्चित्त निर्धारित है।''

काशिराज ने अपने महामात्य से इस विषय में सम्मति माँगी। महामात्य का कहना था, ''यह चोरी है महाराज! जो दण्ड चोर को मिलना चाहिए, वही दंड ऊदल कुमार को मिलना चाहिए। देवता के चरणों में चढ़ाई भेंट ऊदल उठा लाया है।''

काशिराज ने महामात्य से कहा, ''हमारे राज्य में मनुष्य की देवता के समक्ष भेंट वर्जित है। नर-बलि भी एक भेंट होती है। इसको हमने शास्त्र-विपरीत माना है।''

"नर-बलि और देवदासी में अन्तर है महाराज!"

"क्या अन्तर है?"

"नर-बलि चढ़ाने वाला किसी दूसरे नर की बलि देता है, अपनी नहीं। परन्तु देवदासी अपनी इच्छा से बनती है।"

इस पर महाराज ने नीलाम्बरा से पूछ लिया, "क्यों लड़की! देवदासी बनने के समय तुम्हारी क्या आयु थी?"

"मैं बहुत छोटी थी। कदाचित् पाँच-छः वर्ष की रही हूँगी।"

"महामात्य!" महाराज ने पूछा, "इस आयु में किया हुआ कार्य क्या स्वेच्छा से किया हुआ माना जा सकता है?"

"महाराज! इस लड़की ने वेद-मंत्र पढ़कर देवता के चरणों में रहने का व्रत लिया है। वेद-मंत्र पढ़कर लिया हुआ व्रत उल्लंघनीय नहीं हो सकता।"

काशिराज ने इस पर आज्ञा दे दी, "ऊदल और नीलाम्बरा का विषय धर्म-सभा में उपस्थित किया जाए और शास्त्रानुसार इसपर निर्णय दिया जाए।"

अगले दिन ऊदल और नीलाम्बरा को धर्मसभा के सम्मुख उपस्थित किया गया। इस सभा में पचास धर्मशास्त्री उपस्थित थे और महाराज धर्मसभा के सभापति के आसन पर आसीन थे। महाराज ने सभा बुलाने का आशय वर्णन कर दिया। उन्होंने बताया, "नीलाम्बरा जब पाँच वर्ष की बालिका थी चिदम्बरम् के शिव-मंदिर में देवता को भेंट चढ़ा दी गई थी। वहाँ उसको देवदासी बना लिया गया। तबसे इसका कार्य देवता की पूजा-उपासना करना हो गया। इसको बारह वर्ष हो गए हैं। नीलाम्बरा अब सत्रह वर्ष की आयु की युवती हो गई है। यह अपनी मंडली के साथ आचार्य रमण, जो चिदम्बरम् के शिव-मंदिर के पुजारी हैं, के आदेशानुसार देशाटन के लिए निकली और इनकी मंडली काशी में पहुँची। इसकी दृष्टि सुरेश्वर भट्ट के सुपुत्र ऊदल भट्ट पर पड़ी और यह उससे प्रेम करने लगी। ऊदल भी इस लड़की से प्रेम करता था। दोनों की इच्छा विवाह की थी, परन्तु देवदासी होने से विवाह में धर्म-संकट था। इस कारण कुछ नहीं हुआ। नीलाम्बरा अयोध्या जाकर ज्वरग्रस्त हो गई। वहाँ वैद्य गणपति सारस्वत जी की चिकित्सा की गई। वैद्य जी का निदान था कि लड़की काम-ज्वर से पीड़ित है। नीलाम्बरा से पूछा गया तो उसने अपने मन की अवस्था वर्णन कर दी। इस पर ऊदल को काशी से बुलाया गया और दोनों का विवाह कर दिया गया।

"विवाह के पश्चात् ज्वर ठीक हो गया। ऊदल अपनी पत्नी को लेकर काशी आया तो उसके माता-पिता तथा सम्बन्धियों ने उचित समझा कि इस विषय में धर्म-व्यवस्था ली जाए और तब ऊदल और उसकी पत्नी को घर में रहने दिया जाए।

"अतएव ऊदल और नीलाम्बरा कल राज्य-भवन में यह जानने के लिए उपस्थित हुए कि क्या उन्होंने कोई धर्मविपरीत कार्य किया है? यदि किया है तो उसका दण्ड और प्रायश्चित्त क्या है?

"हमने इस विषय को धर्म-सभा की सम्मति के लिए यहाँ उपस्थित किया है।"

महाराज के सभा में उपस्थित विषय की व्याख्या करने के बाद गजानन मिश्र ने लड़के से प्रश्न पूछने आरम्भ कर दिये—

"ऊदल! तुमने नीलाम्बरा को सर्वप्रथम कहाँ देखा था?"

"अपने नाना जी के घर, जहाँ देवदासियाँ आकर ठहरी थीं।"

"तुम्हारी उससे कुछ बातचीत हुई थी?"

"जी हाँ। मैंने उससे कहा था कि वह मुझको बहुत अच्छी प्रतीत होती है। इस पर उसने कहा था कि मैं भी उसको भला लगता हूँ। मैंने कहा कि मैं उनकी मंडली में सम्मिलित होना चाहता हूँ। उसने माधव, जो उनकी मंडली में वीणा बजाता है, से राय करने को कहा। मैं माधवजी से मिला, परन्तु उन्होंने मुझे भला-बुरा कहा।

"नीलाम्बरा को माधव जी के व्यवहार का पता चला तो उसको दुःख हुआ। विवाह के बाद इसने मुझको बताया कि ज्यों-ज्यों माधव मुझको बुरा-भला कहता और मेरी निन्दा करता था, उसका मेरे प्रति अधिकाधिक प्रेम होता जाता था। माधव द्वारा मेरी निन्दा की प्रतिक्रिया में ही उसको ज्वर हुआ था।"

इस पर सभा के एक अन्य सदस्य ने पूछ लिया, "तुमको यह विदित था कि नीलाम्बरा देवदासी है?"

"जी हाँ, विदित था।"

"इस पर भी तुमने उससे विवाह स्वीकार किया?"

"महाराज की दासियाँ भी तो विवाह कर सकती हैं। इस विवाह से मैं भगवान् का दास बन गया हूँ।"

इस पर सभा के लोग हँसने लगे, परन्तु प्रश्नकर्ता के माथे पर त्योरी चढ़ गई। उसने पूछा, "भगवान् की दासी और राजा की दासी में अंतर नहीं समझते तुम?"

"समझता हूँ। एक राजा की दासी उनकी उप-पत्नी भी बन सकती है। इस अवस्था में राजा उसका विवाह किसी अन्य से पसंद नहीं करता परन्तु देवदासी कभी भी भगवान् की उप-पत्नी नहीं बन सकती।"

"यह कैसे कहते हो तुम?"

"नीलाम्बरा ने बताया है, भगवान् किसी से भी सम्भोग नहीं करते।"

इस पर महाराज भी मुस्कराने लगे। पश्चात् उन्होंने इस प्रकार की बात को बंद करने के लिए स्वयं पूछा, ''विवाह कराने वाले पण्डित ने किसी प्रकार का प्रायश्चित्त करने को कहा था क्या?''

''पण्डित जी ने और अयोध्या के अन्य पण्डितों ने इस अपराध का प्रायश्चित्त शास्त्र में ढूँढ़ा था, परन्तु उनको मिला नहीं।''

महाराज ने सभा को सम्बोधित कर कहा, ''प्रश्न यह है कि यह देवदासी भगवान् को भेंट चढ़ाई गई थी, अत: इसको वहाँ से ले जाकर विवाह कर लेना चोरी है क्या? जन-साधारण की चोरी तो दण्ड्य है। क्या भगवान् की चोरी उससे भी अधिक जघन्य कार्य नहीं है? क्या यह पाप है?''

इस पर सुरेश्वर भट्ट ने पूछा, ''महाराज! क्या किसी व्यक्ति का देवता को भेंट चढ़ा देना शास्त्रानुकूल और हमारे राज्य के धर्मानुकूल है?''

महाराज ने कहा, ''भेंट तो भेंट ही है। इसमें शास्त्र को अथवा धर्म को घसीटने की क्या आवश्यकता है?''

''मान लीजिए,'' सुरेश्वर भट्ट ने कहा, ''मैं राजभवन की कोई वस्तु उठाकर किसी को भेंट चढ़ा देता हूँ। क्या वह भेंट उचित है?''

''भेंट होने से पहले तो चोरी हो गई।''

''महाराज! यह बात कुछ वैसी ही है। जिसने नीलाम्बरा को देवता के सामने भेंट चढ़ाया था, उसको वह अधिकार नहीं था।''

''कैसे कहते हैं पण्डित जी?'' महामात्य ने कहा, ''नीलाम्बरा को उसके माता-पिता ने भेंट में दिया था।''

''तो क्या माता-पिता को अपने बच्चे को देवता के लिए भेंट में देने का अधिकार है?''

''हाँ।''

''नहीं महामात्य! हमारे राज्य-धर्म में यह वर्जित है। कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे को बिना उसकी इच्छा के भेंट में नहीं चढ़ा सकता।''

''यह व्यवस्था केवल बलि देने के लिए है।''

''किसी शिशु कन्या को बिना उसकी इच्छा के संन्यास दिया जा सकता हैं क्या?''

''तो देवदासी बनाना क्या संन्यास देने के तुल्य है।''

''उससे भी अधिक दुस्तर है।''

इस पर गजानन ने पूछ लिया, ''दास बनाने की प्रथा काशी में नहीं है न?''

इस समय एक अन्य सदस्य ने कहा, ''महाराज! देवता किसी राजनियम

के बंधन में नहीं आते। देवता के समक्ष भेंट चढ़ाना और जन-साधारण को भेंट देना भिन्न-भिन्न बातें हैं। किसी मनुष्य को भेंट में देते समय वेद-मंत्र नहीं पढ़े जाते। इसके विपरीत देवता के सामने भेंट चढ़ाते समय वेद-मन्त्र पढ़े जाते हैं। इस कारण देवता को दी गई भेंट अति पवित्र और दैवी वस्तु है। इसकी चोरी अति निन्द्य कृत्य है। इसका दंड मृत्यु है।''

इस पर पण्डित फणीन्द्र देव उठकर पूछने लगे, ''जब देवता के समक्ष नर-बलि दी जाती थी, तो वेद-मंत्र पढ़े जाते थे अथवा नहीं? जब वह राज्य-धर्म से वर्जित कर दी गई तो यह भी की जा सकती है। वेद-मन्त्र बोलने वाला तो मनुष्य होता है। उनका उच्चारण देवता नहीं करता। मनुष्य गलत कार्य के लिए और गलत स्थान पर वेद-मंत्र बोल सकता है। मनुष्य भूल कर सकता है।

''इस विषय में अवश्य भूल हुई है। एक पाँच वर्ष की निरीह बालिका को, बिना उसको उचित ज्ञान कराए, देवता के सम्मुख जीवनभर के लिए भेंट चढ़ा दिया गया। इसकी हमारे धर्म-शास्त्र में स्वीकृति भी नहीं। इस समय दो वेद-मंत्र पढ़ देने से यह कृत्य पवित्र कार्य नहीं हो सकता। वेद-मंत्र भूल से पढ़े गए थे। अतः इस धर्म-विरुद्ध कार्य को अमान्य करना किसी प्रकार भी न अपराध है, न पाप।''

फणीन्द्र देव की युक्तियों का सभासदों पर भारी प्रभाव पड़ा। सब 'वाह-वाह' करने लगे। यदि उस समय मत लिया जाता तो निःसंदेह ऊदल मुक्त कर दिया जाता; परन्तु महामात्य ने अपना वक्तव्य देना आरम्भ कर दिया। उसने कहा, ''फणीन्द्र देव नास्तिक हैं। वे श्रुति में विश्वास नहीं करते। इस कारण उनको किसी ऐसे कर्म पर, जिसमें वेद-मंत्र पढ़े गए हों, अपनी सम्मति नहीं देनी चाहिए।''

इस बात ने वेदानुयायी विद्वानों के मन में फणीन्द्र देव की युक्ति पर संदेह उत्पन्न कर दिया और सभा में पुनः मत-भेद उत्पन्न हो गया।

इस समय पण्डित कमलाकर ने कहा, ''वेद को प्रमाणित पुस्तक मानता हूँ। इस कारण कहता हूँ कि वेद में अथवा किसी भी प्रामाणिक ग्रंथ में देवता की दासी बनाने का विधान नहीं है। अतः यह कार्य वेद मतानुकूल नहीं है। इस कारण देवदासी का विवाह कर लेना वेद-विरुद्ध कृत्य नहीं है।

''रहा वेद-मन्त्र उच्चारण, यह कोई युक्ति नहीं। रावण ने वेद-मंत्रों से यज्ञ में नर-रक्त और मांस डालना सिद्ध किया है। तो क्या रावण के कृष्ण यजुर्वेद को मानकर हवन-यज्ञ में नर-रक्त और मांस डालते समय वेद-मन्त्र बोलने से सबकुछ धर्म-युक्त हो जाएगा? इसी प्रकार यदि धर्म शास्त्र से कोई लड़की देवता के आगे नहीं चढ़ाई जा सकती, तो वेद-मन्त्र बोलने मात्र से यह कार्य धर्म-युक्त नहीं हो सकता।''

इस प्रकार युक्ति-प्रतियुक्ति होती रही। धर्मसभा में मतभेद था। जब सब एकमत नहीं हो सके तो सुरेश्वर भट्ट ने यह प्रस्ताव रख दिया कि श्री स्वामी शंकराचार्य जी से, जो अभी इसी नगर में हैं, व्यवस्था ले ली जाए।

विपक्षियों ने आपत्ति की कि वे धर्मशास्त्र नहीं जानते। इस पर गजानन मिश्र ने कहा, ''धर्मशास्त्र तो हम सब जानते हैं। इस पर भी हम उसमें से कोई भी विधान निकाल नहीं सके, जिससे किसी मानव को देवता के सम्मुख चढ़ाया जा सके। न किसी धर्मशास्त्र के अनुकूल हम यह बता सके हैं कि देवदासी विवाह नहीं कर सकती और यदि करे तो उसको अमुक दण्ड दिया जाए। जब कोई कार्य वर्जित नहीं तो वह कार्य करना कैसे दण्ड्य हो सकता है?''

इस पर काशिराज ने कहा, ''यदि आप सब एकमत नहीं हो सकते तो मेरे लिए एक ही उपाय रह जाएगा कि मैं आप सबसे मत ले लूँ। यदि पक्ष अथवा विपक्ष में प्रबल मत न हो सका तो कुछ भी मान्य नहीं हो सकता और उस अवस्था में मुझको व्यवस्था लेनी पड़ेगी। इसके लिए मैं स्वामी जी को उपयुक्त व्यक्ति समझता हूँ। वे सर्वथा निष्पक्ष रहकर अपनी सम्मति देंगे।''

महाराज की इस चुनौती पर सब लोग स्वामी जी को व्यवस्था देने के लिए आमन्त्रित करने को तैयार हो गए। गजानन और ऊदल के विवाह को धर्मयुक्त मानने वाले तो स्वामी जी की व्यवस्था मानने के लिए तैयार थे ही। वे स्वामी जी को निर्लेप और पक्षपातरहित व्यक्ति मानते थे। विपक्ष के लोग इस आशा पर स्वामी जी से व्यवस्था लेने के लिए तैयार थे कि वे दक्षिण के रहने वाले हैं और दक्षिण की प्रथा का पक्ष लेंगे।

इस पर महाराज ने आज्ञा दी कि श्री स्वामी शंकराचार्य जी को धर्मसभा में पधारने का निमन्त्रण दिया जाए और यदि वे मान जाएँ तो उनका मध्यस्थ मानकर दोनों पक्ष, अपनी-अपनी युक्तियाँ और प्रमाण उनके सम्मुख रखें। पश्चात् उनसे व्यवस्था ली जाए।

''तो क्या उनकी व्यवस्था माननीय होगी?'' महामात्य ने पूछा।

''हमारे कहने का यही अर्थ है।''

''तो क्या अब राज्यकार्य बाहरी व्यक्ति की सम्मति से चलेगा?''

''देखिए महामात्य! हमारे राज्य में देवदासियों की प्रथा नहीं है। न हमारे धर्मशास्त्र में इसका उल्लेख है। इस कारण किसी देवदासी का विवाह हमारे राज्य-नियम के विरुद्ध नहीं। यह भारत के धर्म और संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाली बात है। भारत में राज्यों के नियमों से ऊपर धर्म और संस्कृति का प्रचलन है। उनका संचालन धर्म-सभाएँ करती हैं। इसी कारण इस विषय पर मैंने राज्य-सभा में निर्णय करने की अपेक्षा इसको धर्म-सभा के पास भेज दिया था।

धर्म-सभा इस पर एकमत नहीं हो सकी। अतः स्वामी जी महाराज को इस विषय में व्यवस्था देने के लिए कहना और उनका व्यवस्था देना राज्य-कार्य में हस्तक्षेप नहीं कहा जा सकता। स्वामी जी धर्म-सभा द्वारा सम्मानित व्यक्ति हैं।''

:: 7 ::

स्वामी जी को महाराज का पत्र गया तो नगर-भर में ऊदल के विषय की धूम मच गई। धर्मसभा के प्रायः सब सदस्यों की इस विषय पर अपनी-अपनी सम्मति थी। वह सम्मति उन्होंने अपने मित्रों और परिचितों को बताई। उनके मित्रों ने अपने परिचितों को बताई और इस प्रकार बात पूर्ण नगर-भर में फैल गई। यह बात भी नगर में फैला दी गई थी कि स्वामी जी दक्षिण के होने के कारण अपने देश की प्रथा का समर्थन करेंगे। जब यह बात नगर में फैली तो नगर वालों की सहानुभूति स्वाभाविक रूप में ऊदल के साथ, जो काशी के एक प्रसिद्ध पण्डित का पुत्र था, हो गई।

दूसरी ओर वे ऊदल और नीलाम्बरा को पापी समझते थे, आशा कर रहे थे कि स्वामी जी इनको मृत्यु-दण्ड का भागी समझेंगे। सर्व-साधारण इस समस्या पर एक दूसरे ढंग से भी विचार करते थे। लोग कहते थे कि सुरेश्वर भट्ट का लड़का कायर नहीं है। वह यहाँ से कहीं भागकर भी जा सकता था। और वहाँ जाकर नाम बदलकर सुख से रह सकता था। परन्तु वह आया और राज्य के सामने उपस्थित हो गया। वह मरने से नहीं डरता। धन्य है वह, जो अपने प्रेम के लिए जीवन तक देने को तैयार है।

कुछ लोग कहते थे, ''दोष तो लड़की का है। देवता की सेवा का वचन उसने दिया था और विवाह के लिए वह स्वेच्छा से तैयार हुई है।''

ऐसे लोग भी थे,जो कहते थे, ''वचन तब दिया था, जब वह अल्पायु थी। उस समय की कही बात वचन नहीं मानी जानी चाहिए।''

''फिर कोई भी दोषी नहीं है। लड़की देवदासी नहीं, उसका विवाह अनुचित नहीं और ऊदल भी अपराधी नहीं।''

''परन्तु काशी के धर्मशास्त्री क्या इतनी-सी बात का निर्णय नहीं कर सके? बहुत विचित्र बात है।''

''अब देखें स्वामी जी क्या व्यवस्था देते हैं?''

''वे दक्षिण के रहने वाले हैं और देवदासियों की यह प्रथा दक्षिण की ही है। वे कदाचित् इसको सार्थक और न्यायोचित बताएँगे।''

''तो नीलाम्बरा और ऊदल को मृत्यु-दण्ड होना चाहिए? एक ने अपना दासी-धर्म छोड़ा और दूसरे ने पर-स्त्री-गमन किया है?''

"पर-स्त्री" कोई अन्य पूछ लेता, "किसकी स्त्री थी यह ?"

इस प्रकार पूर्ण नगर के नर-नारी दो दिन तक इस विषय में लीन रहे। दूकानों पर, घरों में, गलियों में, बाजारों में, घाटों पर, यहाँ तक कि वेश्याओं के कोठों पर भी इस विषय पर चर्चा होती रही।

अगले दिन श्री स्वामी जी के पास भी इस चर्चा की गूँज पहुँची। चित्सुख प्रातः जंगल-पानी कर लौटा तो मार्ग पर चलते हुए नागरिकों से सबकुछ सुन आया।

मध्याह्न के समय जब स्वामी जी भोजन कर विश्राम कर रहे थे तो चित्सुख स्वामी जी के चरणों के पास बैठकर कहने लगा, "नगर में आपके धर्मसभा में जाने की भारी चर्चा है।"

"क्या चर्चा है ?"

"उस धर्मसभा में एक युवक और युवती के मृत्यु-दण्ड का प्रश्न उपस्थित होने वाला है।"

"क्या कोई बहुत भारी अपराध किया है उन्होंने ?"

"हाँ, भगवन्! एक युवक ने एक देवदासी का हरण किया है।"

"और लोग क्या समझते हैं ?"

"वे आशा करते हैं कि आप लड़की को वेश्यावृत्ति के लिए कटरे में भेज देंगे और लड़के को मृत्यु-दंड की व्यवस्था देंगे।"

"तो यह पाप करने के लिए महाराज ने धर्मसभा में बुलाया है ?"

"गुरुदेव! मेरी सम्मति है कि आप धर्मसभा में न जाएँ।"

"अर्थात् अपना वचन-भंग करें ?"

चित्सुख कुछ काल तक गम्भीर विचार में डूबा रहा। वह विचार कर रहा था कि स्वामी जी को क्या करना चाहिए। बहुत विचार कर उसने कहा, "यदि आप जाएँ भी तो कोई व्यवस्था न दें।"

"क्यों ?"

"इसलिए कि यदि आपने अपराधी को दंड दिया तो लोग कहेंगे कि दक्षिणी होने के कारण आपने ऐसा किया है।"

"चित्सुख! धर्मसभा का निमन्त्रण मिलने पर उसे अस्वीकार करना हमारा काम नहीं। धर्म-विषय ही तो हमारा कार्य है। वहाँ पर किसी विषय के उपस्थित होने पर हम धर्म के अनुकूल अपनी सम्मति देंगे। अन्यथा हमारे धर्मशास्त्र को पढ़ने का लाभ ही क्या हुआ ? हमें अपनी व्यवस्था जन-साधारण को प्रसन्न करने के लिए नहीं, प्रत्युत धर्म-संगत देनी है।"

चित्सुख में यद्यपि इतनी सूझ-बूझ नहीं थी; इस पर भी अनेक विषयों पर

स्वामी जी से मत-भेद होने पर भी, उसको उनकी युक्ति और ज्ञान पर अगाध विश्वास था। अत: उनकी व्यवस्था सुन चुप हो गया। अगले दिन जब स्वामी शंकराचार्य जी अपनी साधु-मंडली के साथ धर्मसभा भवन को गए तो दुर्गाकुण्ड से लेकर धर्मसभा भवन तक मार्ग के दोनों ओर अपार जन-समूह एकत्रित हो गया। जब स्वामी जी जा रहे थे, लोग 'स्वामी जी महाराज की जय' के समाघोष करते थे। कोई-कोई यह भी कह देता था, 'न्यायमूर्ति स्वामी जी महाराज की जय हो।' स्वामी जी समझते थे कि ये लोग उन पर अगाध विश्वास रखते हैं और समझते हैं कि वे धर्म का मस्तक ऊँचा रखेंगे। अत: वे गम्भीर भाव से चले जा रहे थे। उनके साथी संन्यासी अपने-अपने कमण्डलु हाथ में लिए हुए, 'हरि ओं तत् सत्' का उच्चारण करते हुए चल रहे थे।

जब स्वामी जी सभा-भवन के द्वार पर पहुँचे तो द्वारपाल के पास विरोचन को खड़ा देख ठहर गए। विरोचन ने झुककर, हाथ जोड़ प्रणाम किया तो स्वामी जी ने उसको अपने समीप बुला लिया। सभा-भवन के बाहर विशाल जन-समूह गगनभेदी स्वर में स्वामी जी का जयघोष कर रहा था। अत: स्वामी जी विरोचन को अपने साथ चलने का संकेत कर भीतर चल पड़े। विरोचन साधुओं की मंडली के साथ भीतर चला गया। स्वामी जी ने अपने स्थान पर बैठते हुए विरोचन को अपने समीप बिठा लिया। जब सब सभासद, जो स्वामी जी के मान के कारण उठ खड़े हुए थे, बैठ गए, तो स्वामी जी ने विरोचन से पूछा, "उस दिन तुम इसी विषय पर बात कर रहे थे क्या?"

"हाँ, महाराज!"

"लोग क्या चाहते हैं?"

"स्वामी जी की जय-जयकार।"

"और तुम क्या चाहते हो?"

"युक्तियुक्त मानवता के हित में न्याययुक्त व्यवस्था।"

"न्याय क्या है?"

"जो अन्त में मनुष्य को मोक्ष की ओर ले जाने वाला हो।"

स्वामी जी मुस्करा दिये। उनको विरोचन प्रतिभाशाली बालक प्रतीत हुआ। इस समय ऊदल और नीलाम्बरा को लाकर सदस्यों के समक्ष उपस्थित कर दिया गया। ऊदल को देख स्वामी जी ने विस्मय से विरोचन की ओर देखा। विरोचन ऊदल की ओर देख रहा था और ऊदल विरोचन की ओर। स्वामी जी ने विरोचन से पूछा, "यह तो तुम्हारा मित्र है?"

"हाँ महाराज!"

"तुम इसके साथ न्याय चाहते हो, उदारता नहीं?"

"जी! शुद्ध दयापूर्ण न्याय।"

"तो क्या न्याय कभी निर्दयतापूर्ण भी होता है?"

"न्याय निर्दयतापूर्ण हो ही नहीं सकता। मेरे कहने का अभिप्राय मानव-समाज के साथ दया का है। समाज-हित के समक्ष व्यक्ति नगण्य बिन्दु है।"

"तुम तर्क कहाँ पढ़े हो?"

"आप—जैसे उदारचित पण्डित गजानन मिश्रजी से। वे मेरे पिता हैं।"

आज की सभा में एक विशेष बात और हुई। माधव और रुक्मिणी भी महाराज के आसन के समीप आदरयुक्त मुद्रा में खड़े थे। सामने के छज्जे पर महारानी, मृणालिनी, मायाविनी, शर्मिष्ठा देवी बैठी थीं। एक दूसरे छज्जे पर नगर के कुछ प्रसिद्ध धनी-मानी लोग बैठे थे। इस प्रकार आज धर्मसभा में काशी नगर की समस्त विभूतियाँ विद्यमान थीं। प्रतिहारी ने घोषणा की— "महाराज पधार रहे हैं।"

संन्यासी-मंडली के अतिरिक्त सब अपने-अपने आसनों से उठ खड़े हुए। महाराज पधारे और अपने आसन पर बैठ गए। उन्होंने पुनः ऊदल और नीलाम्बरा की पूर्ण कथा वर्णन कर दी। उसके बाद उन्होंने कहा—"आज प्रातःकाल चिदम्बरम् के शिव मन्दिर के प्रतिनिधि माधव और रुक्मिणी वारांगल भी हमारे पास आए हैं। वे नीलाम्बरा को वापस उनको सौंपने को कहते हैं। उनका कहना है कि ऊदल हमारी प्रजा है। उसके दण्ड का विधान हम कर सकते हैं परन्तु नीलाम्बरा पर रमणाचार्यजी का अधिकार है। उसके अपराध का निर्णय वे ही करेंगे। हमको उस पर किसी प्रकार की व्यवस्था देने का अधिकार नहीं।

"नीलाम्बरा किस राज्य की नागरिक है और किस राज्य को उसके अपराध की जाँच करने का अधिकार है, इस पर निर्णय देना इस धर्म-सभा का काम नहीं। इस बात पर हम अपना निर्णय देंगे। पहले तो धर्म के विषय पर व्यवस्था हो जानी चाहिए। धर्मसभा के सम्मुख विचारणीय विषय यह है कि नीलाम्बरा देवदासी है अथवा नहीं? यदि है तो इसको देवता की सेवा छोड़ने का अधिकार है अथवा नहीं? साथ ही क्या कोई देवदासी विवाह करने का अधिकार रखती है? इन प्रश्नों के साथ ऊदल के व्यवहार का घना सम्बन्ध है। तब हम माधव के प्रश्न पर अपना निर्णय देंगे।"

इस प्रकार विषय की सीमा बाँध दी गई। महाराज ने पिछली धर्मसभा की कार्यवाई भी संक्षेप में बता दी। उन्होंने कहा, "इस विषय पर कुछ सीमा तक तीन दिन हुए धर्मसभा में विचार हुआ था। उस दिन धर्मसभा इन प्रश्नों पर एकमत नहीं हो सकी। अतः धर्मसभा ने इस विषय पर व्याख्या देने के लिए श्री स्वामी जी को आमंत्रित किया है। स्वामी जी महाराज से मेरा निवेदन है कि वे सब पक्षों की

बात सुनने के बाद अपनी सम्मति दें। उनकी सम्मति ही व्यवस्था मान ली जाएगी।''

इसके बाद स्वामी जी महाराज ने कहा, ''इस समस्या में कई प्रश्न है। उनमें मुख्य-मुख्य प्रश्न महाराज ने आपके समक्ष रखे हैं। अत: मैं चाहता हूँ कि आप लोग अपना मत इन प्रश्नों की परिधि के भीतर ही रहकर दे। इनके अतिरिक्त किसी अन्य विषय पर बात करने वाले को मैं स्वीकृति नहीं दूँगा।''

अब पण्डित सुरेश्वर ने अपने लड़के को छोड़ दिये जाने के पक्ष में अपनी युक्तियाँ दीं। फिर पण्डित गजानन मिश्र ने नीलाम्बरा को देवदासी बनाने वाले के कार्य को अनियमित सिद्ध करने का यत्न किया। इसके बाद फणीन्द्र देव ने वेद-मन्त्र पढ़कर किए कार्य को स्वयंसिद्ध मानना अयुक्ति-संगत सिद्ध किया।

इन युक्तियों के विपरीत भी वक्तव्य हुए। उनमें कहा गया, ''देवदासी तो देवदासी है। वह नियम से बनी अथवा नियम के बिना। उसकी देवदासी की पदवी पर आपत्ति कैसे की जा सकती है? माता-पिता ने अपनी लड़की देवता को अर्पण कर दी और देवता के पुजारी ने स्वीकार कर ली। इसके बाद उस पर किसी का अधिकार नहीं रहा। अत: उससे विवाह करना एक प्रकार की चोरी है। यह पाप है और इसका दण्ड मृत्यु है।''

इस प्रकार दोनों पक्षों की ओर से युक्तियाँ दी जाती रहीं। अन्त में श्री शंकराचार्य जी ने देवदासी की प्रथा के पक्ष वालों से प्रश्न करने आरम्भ कर दिये—''मैं यह जानना चाहता हूँ कि यदि किसी लड़की को उसके माता-पिता काली की भेंट चढ़ा दें, तो यह क्षम्य है क्या?''

''नर-बलि वर्जित कर दी है। इस कारण कि उसमें नर-हत्या होती है। वह क्षम्य नहीं है।''

''एक मनुष्य की हत्या करना या उसको जीवन-भर अकारण बाँध कर रखना इनमें अधिक कठोर क्या है?''

इस पक्ष पर विपक्षी अवाक् मुख देखते रह गए। उनको चुप देख स्वामी जी ने एक और प्रश्न कर दिया, ''देवता के समक्ष भेंट चढ़ाते समय निर्जीव वस्तु, पुष्प-पत्रादि और मनुष्य में अन्तर मानते हैं अथवा नहीं? यदि है तो क्या है? क्या यह अन्तर एक का निर्जीव होना और दूसरे का जीवधारी होना नहीं है? दास अथवा दासी में क्या वैसी ही संवेदना होती है, जैसी पुष्पादि में है।''

इस प्रश्न का अर्थ सब लोग समझते थे और किसी को यह कहने का साहस नहीं हो सका कि दोनों में अन्तर नहीं। सबको चुप देख स्वामी जी ने पूछा, ''एक दासी का अर्थ पत्नी है क्या? यदि पत्नी नहीं तो वह किसी से विवाह क्यों नहीं कर सकती? उसने संन्यास तो लिया नहीं?''

इस प्रकार प्रश्न पूछे जाने लगे और प्रतिपक्षी निरुत्तर होने लगे। इस पर स्वामी जी ने पूछ लिया, ''देवताओं की दासियाँ किसी से विवाह नहीं कर सकतीं। यह किस धर्मशास्त्र में लिखा है?''

इस समय माधव ने आगे बढ़कर निवेदन किया, ''जिस राज्य के हम रहने वाले हैं, वहाँ की प्रथा है कि माता-पिता के कहने पर लड़कियाँ देवताओं की सेवा के लिए दे दी जाती हैं और स्वीकार कर ली जाती हैं। मेरा निवेदन है कि काशी की धर्मसभा को हम दक्षिण वालों के धर्म में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।''

''वह तुम्हारे देश का धर्म है क्या?''

''हाँ भगवन्!''

''किस धर्मशास्त्र में लिखा है? वह धर्मशास्त्र किन शास्त्रियों ने बनाया है? इस पर भी आज तक काशी की धर्मसभा पूर्ण भारत में मान पाती है। तुम कौन हो, जो काशी की व्यवस्था को चुनौती देने आए हो?''

माधव भयभीत, चुप हो गया। उसने केवल यह कहा, ''मुझको गुरु रमणाचार्यजी ने इस लड़की का संरक्षक नियुक्त किया था और यह बिना मुझको बताए चली आई है।''

''और गुरु रमणाचार्य को इस लड़की का संरक्षक किसने बनाया था? हम यही पूछ रहे हैं कि लड़की को इसके माता-पिता देवता की सेवा के लिए दे आए थे, तो क्या इसका अर्थ यह हुआ कि सज्ञान होने पर भी इसका विवाह करने का अधिकार छिन गया है?''

''हाँ, महाराज!''

''किस धर्मशास्त्र में लिखा है?''

''देवता की सेविका विवाह नहीं कर सकती।''

''देवता का सेवक पुजारी तो विवाह कर सकता है?''

''यह प्रथा है।''

''शास्त्र और मानव-अधिकारों के विपरीत होने से यह प्रथा अमान्य है। देखिए सभ्यगण! मेरा यह प्रश्न था कि क्या माता-पिता को, अपनी सन्तान को जीवन-भर के लिए किसी का दास बना देने का अधिकार है? जब तक सन्तान अल्पायु हो, तब तक के लिए माता-पिता उसका संरक्षक किसी को भी बना सकते हैं, परन्तु उसके सज्ञान होने पर वह सन्तान अपना विवाह करने का अधिकार रखती है, अथवा नहीं?''

अब स्वामी जी ने नीलाम्बरा से प्रश्न पूछने आरम्भ कर दिये, ''लड़की! तुमने ऊदल कुमार से विवाह किया है अथवा नहीं?''

"हाँ महाराज! किया है।"

"तुम्हारी आयु कितनी है?"

"सत्रह वर्ष से ऊपर है।"

"तुम्हारा किसी ने बलपूर्वक हरण किया है क्या?"

"नहीं महाराज!"

"तो हमारी व्यवस्था है कि देवदासी के अर्थ देवता की पत्नी नहीं। देवदासी विधिवत विवाह कर सकती है। इसका विरोध धर्मशास्त्र में नहीं है। नीलाम्बरा सोलह वर्ष से ऊपर है, इस कारण वह अपने लिए पति ढूँढ़ने में समर्थ है।

"मेरी इस व्यवस्था में भारत के समाज का हित निहित है। हम अल्पायु लड़कियों अथवा लड़कों के संन्यास लेने के विरुद्ध हैं और सब वेदमतानुयायी राज्य इस विषय पर एकमत हैं कि संन्यास इतनी छोटी अवस्था में नहीं लिया जा सकता। अत: एक बालिका-मात्र को, जब वह केवल पाँच वर्ष की थी, संन्यास लेने के लिए कहना मानवता के विरुद्ध है।"

स्वामी जी की इस व्यवस्था पर ऊदल को छोड़ देने के पक्ष वालों ने स्वामी जी का जयघोष कर दिया। वैदिक-धर्म का भी जयघोष हुआ। जो लोग ऊदल और नीलाम्बरा के व्यवहार को निन्दनीय मानते थे, उनके मुख युक्ति से बन्द हो गए थे।

जब प्रसन्नता और प्रशंसा का ज्वार सभा में कम हुआ तो महाराज ने आज्ञा सुना दी—

"काशी की धर्मसभा में यह निर्णय हुआ है कि देवदासी विवाह करने में स्वतन्त्र है। देवदासी का अर्थ देवता की पत्नी नहीं है। जैसे देवता का पुजारी गृहस्थ जीवन व्यतीत कर सकता है, वैसे ही देवता की दासी भी कर सकती है।

"अत: हम इस व्यवस्था के अनुसार ऊदल और नीलाम्बरा को धर्मानुकूल पति-पत्नी स्वीकार करते हैं। हम मानते हैं कि उन्होंने यह विवाह कर किसी प्रकार का कोई अपराध अथवा पाप नहीं किया। वे मुक्त हैं, जहाँ चाहें जा सकते हैं।

"जहाँ तक माधव की माँग है, वह हम स्वीकार नहीं कर सकते। नीलाम्बरा अब हमारी बन्दी नहीं है। हम उसको उसके अधिकार में नहीं दे सकते। एक बात और है, नीलाम्बरा अब काशी के नागरिक की पत्नी होने से यहाँ की नागरिका हो गई है और यदि किसी ने उस पर किसी प्रकार का बल प्रयोग किया तो राज्य उसकी रक्षा करेगा।"

इसके बाद सभा विसर्जित हुई। महाराज उठकर गए तो धर्मसभा के

सदस्य भी प्रसन्न-वदन भवन से बाहर निकल आए।

ऊदल इस पूर्ण समय में विरोचन को स्वामी जी के चरणों में बैठा देख आशा से भर रहा था। जब वह मुक्त हुआ तो भागकर आया और विरोचन से गले मिलने लगा। विरोचन ने कहा, ''स्वामी जी का धन्यवाद करो।''

स्वामी जी ने ऊदल को कहा, ''भारतीय धर्मशास्त्र का धन्यवाद करो, जिसके सब विधि-विधान न्यायोचित, दयामय और समयोचित रहते हैं।''

:: 8 ::

नीलाम्बरा ऊदल के पीछे-पीछे स्वामी जी के चरणों में आ खड़ी हुई। स्वामी जी ने आशीर्वाद दिया और सभा-भवन से बाहर निकल गए। उनके साथ संन्यासी मंडली भी थी। ऊदल और नीलाम्बरा के छूट जाने का समाचार सभा-भवन के बाहर जनता के पास पहले ही पहुँच चुका था। अत: स्वामी जी के बाहर आने पर तरंगायित जनसमूह स्वामी जी का बारम्बार जयघोष करने लगा।

सभा-भवन से लेकर दुर्गा मन्दिर तक पूर्ण मार्ग काशी के नागरिकों से खचाखच भरा हुआ था। स्वामी जी के लिए मार्ग बनाना भी कठिन हो रहा था। पुष्प-वर्षा के कारण पूर्ण मार्ग पुष्पों से भर गया था।

सभा-भवन में नीलाम्बरा ने विरोचन को धन्यवाद दिया। उसका कहना था, ''भैया विरोचन! तुमने यह नया जीवन दिलवाया है। बहन का आशीर्वाद लो।''

इस समय रुक्मिणी और माधव नीलाम्बरा के पास आकर खड़े हो गए। माधव ने कहा, ''नीलाम्बरा! अब तुम काशी में ही रहोगी?''

''हाँ दादा! चिदम्बरम् में मेरी कौन रक्षा करेगा! आप तो मुझको शिकारी कुत्तों से मरवा डालेंगे।''

''स्वामी जी की युक्ति के समक्ष कुछ नहीं कहा जा सकता, परन्तु जन-साधारण का मत युक्ति से नहीं बनता। वह भावना से बनता है। हमारे यहाँ की भावना तो स्वामी जी की व्यवस्था को कभी मान्यता नहीं देगी।''

''इसी कारण मैं वहाँ नहीं जाऊँगी। मेरी गुरु-चरणों में अन्तिम नमस्कार कह देना।''

माधव ने घूमकर रुक्मिणी से कहा, ''चलो रुक्मिणी....!''

परन्तु रुक्मिणी वहाँ नहीं थी। माधव ने नीलाम्बरा से पूछा, ''अभी रुक्मिणी यहाँ खड़ी थी?''

नीलाम्बरा ने मुस्कराकर कहा, ''वह शंकर के साथ बातें कर रही थी।''

माधव निस्तब्ध खड़ा रह गया। फिर वह एक ऊँचे स्थान पर खड़ा हो

चारों ओर देखने लगा। उसने देखा कि रुक्मिणी और शंकर भवन-द्वार की ओर जा रहे हैं। वे परस्पर बातें कर रहे थे। माधव उनकी ओर लपका। द्वार से बाहर निकलते-निकलते वह उनके समीप जा खड़ा हुआ। माधव ने पूछा, "रुक्मिणी! तुम बिना बताये चली जा रही हो?"

"इसलिए कि अब तुमको बताने की आवश्यकता नहीं रही। तुम मेरे संरक्षक नहीं रहे। मैं तुम्हारी क्रीत दासी नहीं हूँ।"

"क्या तुम भी हमारी मंडली को छोड़कर जा रही हो?"

"यही निर्णय शंकर जी से कर रही थी। बताइए शंकर जी! मुझसे विधिवत् विवाह करेंगे?"

"पिता जी से पूछकर ही ऐसा कर सकता हूँ।"

"तो चलो पूछ लो। मेरे पास अधिक समय नहीं है।"

"यदि पिता जी घर पर हुए, तभी पूछ सकता हूँ। नहीं तो उनके लौटने की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।"

"सायंकाल से पूर्व मुझको उत्तर मिल जाना चाहिए।"

इस पर माधव ने पुनः पूछ लिया, "यदि शंकर के पिता ने तुम्हारे साथ अपने पुत्र का विवाह स्वीकार न किया तो मेरे साथ चलोगी न?"

"यह उसी समय विचार करूँगी।"

"तो भगवान् करे शंकर के पिता तुमको अपनी पुत्र-वधू बनाना स्वीकार न करें।"

"डोम के कहने पर गाय मरा नहीं करती।"

"यही देखने की बात है रुक्मिणी! मैं भी तुम्हारे साथ-साथ चलता हूँ।"

इस प्रकार तीनों वासुदेव के मन्दिर के पुजारी के घर को चल पड़े। कमलाकर पण्डित, सुरेश्वर और गजानन महाराज काशिराज का धन्यवाद करने राज-प्रासाद को चले गए थे।

इस कारण जब शंकर अपने घर पहुँचा तो वहाँ उसकी माता और भाई-बहन ही थे। शंकर की माँ रुक्मिणी को पहचान गई। उसने भी उसको देवदासियों के साथ, उनके घर में रहते और मन्दिर में नृत्य करते देखा था। उसको विदित था कि रुक्मिणी की एक साथिन के कारण ही ऊदल पर विपत्ति आई है। इस कारण वह उसको शंकर के साथ आते देख अपने मन में भय अनुभव करने लगी। उसने शंकर से पूछा, "क्या ऊदल नहीं छूटा?"

"छूट गया है, माँ! वह नीलाम्बरा को लेकर अपने घर गया है। तुमको उनके घर पर जाकर बधाई देनी चाहिए।"

"पर यह तुम्हारे साथ क्यों आई है?"

"इसको पिता जी से कुछ काम है।"

"वे अभी लौटे नहीं।"

"कब लौट आएँगे?"

"क्या ये लोग फिर काशी जी आने का विचार कर रहे हैं?"

शंकर ने हँसते हुए कहा, "नहीं माँ! ये अब काशी जी में नहीं आएँगे। कहीं भूलकर भी यह मंडली आ गई तो सब देवदासियाँ गृहस्थ-धर्म स्वीकार कर लेंगी।"

"क्यों?"

"स्वामी शंकराचार्य जी महाराज ने यह व्यवस्था दे दी है कि देव-दासी का अर्थ देवता की पत्नी नहीं है। जैसे देवता का पुजारी विवाह कर सकता है, वैसे ही देवदासी भी कर सकती है।"

"ओह! तो ठीक है। ऐसी देवदासियाँ तो हम भी अपने मन्दिर में रख लेंगे।"

"रुक्मिणी इसीलिए पिता जी से मिलना चाहती है।"

शंकर की माँ ने ध्यान से रुक्मिणी के मुख को देखा। फिर कुछ विचार कर पूछा, "परन्तु पहले विवाह कर ले, तभी यह मन्दिर में रखी जा सकती है।"

इस पर माधव ने कह दिया, "एक विवाहित स्त्री नृत्य और संगीत नहीं कर सकेगी।"

"क्यों? जब नाटक में नटियाँ विवाह करके भी नाटक कर सकती हैं तो मन्दिर में ऐसा क्यों नहीं हो सकेगा?"

"नहीं हो सकेगा, माता जी!"

"तुमने युक्ति तो कुछ भी नहीं दी। यह भावना का प्रश्न है।"

"भावना ही सबकुछ है। यह ईश्वर-भक्ति का स्रोत है। इसी भावना के बल पर मनुष्य कठिन-से-कठिन कार्य सफलतापूर्वक कर सकता है। भावना-विहीन पुरुष तो उत्साहहीन और निरुद्देश्य हो जाता है। ऐसे लोग संसार में कुछ भी सम्पन्न नहीं कर सकते।"

"तुम कौन हो?" शंकर की माँ ने माधव से पूछ लिया।

"मैं इन देवदासियों की मंडली में वीणा बजाता हूँ और इनका संरक्षक हूँ। मैं काशी में इस कारण आया था कि यदि नीलाम्बरा को ऊदल से पृथक् किया जाता तो मैं उसको अपने साथ ले आकर गुरु जी से उचित दंड दिलवाने का उपाय करता।"

"अब तुम्हारा यहाँ कुछ भी काम नहीं रहा। तुम जा सकते हो।"

इस पर शंकर ने कहा, "माँ! यह इस लड़की के साथ आया है। यह लड़की इस कारण काशी में आई थी कि नीलाम्बरा को ले जाने में सुगमता रहे, परन्तु अब यह स्वयं भी जाना नहीं चाहती।"

"क्यों?"

"कहती है, वह भी अब विवाह करेगी।"

"पुजारी जी के साथ?" शंकर की माँ ने माथे पर त्योरी चढ़ाकर पूछा।

"यह तो यही बताएगी।"

"क्यों लड़की! किससे विवाह करना चाहती हो?"

"आपके पति देव से नहीं, वे तो मेरे पिता समान हैं।"

"तो फिर किससे विवाह करना चाहती हो?"

"देखिए, मैं ब्राह्मण कन्या हूँ। किसी ब्राह्मण कुमार से विवाह करूँगी।"

"ब्राह्मण कुमार से? कहीं शंकर पर तो डोरे नहीं डाल रहीं?"

"नहीं माँ जी! मैं शंकर पर डोरे नहीं डाल रही। हाँ, एक समय शंकर मुझ पर डोरे डाल रहा था। उस समय देवदासी भगवान् को पति मानती थी; परन्तु अब धर्मसभा ने व्यवस्था दे दी है कि देवदासी का अर्थ पत्नी नहीं है। इस कारण अब हम विवाह करने के लिए स्वतन्त्र हैं। मैं इस व्यवस्था से लाभ उठाना चाहती हूँ। शंकर जी किसी समय मुझसे अनुराग प्रकट करते थे। इस कारण मैंने इनसे पूछा है कि वे मुझसे विवाह करेंगे अथवा नहीं? इन्होंने कहा है कि पिता जी की अनुमति हुई तो कर लेंगे।"

"तो यह तुमसे विवाह नहीं करेगा। तुम जा सकती हो।"

"पर आप शंकरजी के पिता नहीं हैं।"

"मैं इसकी माँ हूँ।"

"परन्तु आपने मुझमें क्या दोष देखा है?"

"युक्ति से अधिक भावना इसमें निर्णय करने के लिए प्रबल है।"

"तो आप भावना के वशीभूत हैं? मैं समझती थी कि काशी में विद्वत्ता और तर्क का साम्राज्य है।"

"पुरुष तर्क करते हैं, परन्तु स्त्रियाँ भावना के आश्रय ही जीवन व्यतीत करती हैं।"

"इसी कारण आपसे स्वीकृति लेने नहीं आई। कहीं धर्मसभा में स्त्रियाँ निर्णायक होतीं तो नीलाम्बरा को मृत्यु-दण्ड हो चुका होता।"

"तुम भूल कर रही हो, लड़की! यदि धर्मसभा में स्त्रियाँ होतीं तो अब से तीन दिन पहले ही ऊदल और नीलाम्बरा छूट चुके होते। नीलाम्बरा का विवाह हो चुकने के बाद हमारी सहानुभूति उसके साथ हो जानी स्वाभाविक है।"

"इसका अर्थ यह हुआ कि यदि मैं शंकरजी से विवाह कर लूँ तो आपकी सहानुभति मेरे साथ हो जाएगी?"

"नहीं रुक्मिणी! तुम नीलाम्बरा नहीं हो। वह ऊदल से प्रेम करती थी। ऊदल के वियोग पर वह रुग्ण हो गई थी। उसको ज्वर रहने लगा था। ज्वर विवाह होने से ही छूटा था। यह उसके उत्कट प्रेम का प्रतीक था। पर तुम शंकर से सौदा करने आई हो। तुम्हारे साथ हमारी सहानुभूति नहीं है।"

"क्या सौदा करने आई हूँ?"

"तुमने शंकर से पूछा कि क्या वह तुमसे विवाह करेगा? यह सौदा ही है। मान लो, वह कह देता कि नहीं करेगा, तो तुम लौट जातीं न? यह प्रेम नहीं, दुकानदारी है।"

रुक्मिणी चुपचाप बैठी रही। वह अपने में और नीलाम्बरा में अंतर समझ गई थी। जब शंकर की माँ और उसके बहन-भाई ऊदल के घर उसकी माँ को बधाई देने चले गए तो रुक्मिणी भी उठ पड़ी। उसने शंकर को कहा, "मैं समझती हूँ कि आपकी माताजी सत्य कहती हैं। मेरा आपसे प्रेम का सम्बन्ध नहीं है। मेरे मन में आपके प्रति कुछ तो वासना और कुछ निर्वाह योग्य आश्रय पाने की भावना थी। मैं समझती हूँ कि यह विवाह के लिए उपयुक्त परिस्थिति नहीं है। साथ ही आप भी मुझसे विवाह के इच्छुक नहीं थे। न ही अब प्रतीत होते हैं। केवल पिता जी से मुझको उत्तर दिलवाने का विचार करते प्रतीत हो रहे हैं।"

शंकर भी माँ के कथन पर विचार कर रहा था। उसको भी कुछ ऐसा ही प्रतीत हुआ, जैसा रुक्मिणी ने वर्णन किया था। इस कारण वह चुप रहा। रुक्मिणी बिना एक भी शब्द और कहे उनके घर से निकल गई।

घर से बाहर आ उसने माधव से कहा, "मेरा विवाह शंकर से नहीं होगा। इस पर भी मैं तुम्हारे साथ नहीं जा रही। तुम जा सकते हो।"

"तो तुम क्या करोगी?"

"यह मैं निश्चिन्त होकर विचार करूँगी। अभी तो किसी पंथागार में जाकर ठहरने का विचार कर रही हूँ।"

"तो तुम मेरे साथ नहीं चल रहीं?"

"नहीं।"

"देखो रुक्मिणी! यह शास्त्र का विधान है कि स्त्री अपने माता, पिता, भाई, गुरु अथवा पति के संरक्षण में रहे। तुम्हारे यहाँ न माता-पिता हैं, न भाई। न तुम्हारा कोई पति है। तुम्हारे गुरु के स्थान पर मैं हूँ। यदि तुम मेरे साथ नहीं चलोगी तो मैं तुमको बलपूर्वक पकड़कर ले जाऊँगा।"

"पर मैंने तुमको अपना गुरु मानना छोड़ दिया है।"

''तो तुम वेश्यावृत्ति करने का विचार कर रही हो? सब प्रकार के संरक्षणों से विहीन नारी वेश्या ही होती है।''

''नहीं माधव! मैं अपने विषय पर स्वयं विचार कर लूँगी। इस पर भी तुम्हारे संरक्षण में नहीं रहूँगी।''

''तो मुझको नगरपालक का द्वार खटखटाना पड़ेगा।''

''खटखटा लो। मैं वेश्यावृत्ति स्वीकार कर लूँगी, परन्तु तुम्हारे साथ नहीं जाऊँगी।''

:: 9 ::

धर्म-सभा में अद्वैतवाद की व्याख्या और उसका तत्प्रचलित देवी-देवताओं की पूजा से सम्बन्ध के वर्णन ने स्वामी शंकराचार्य जी के ज्ञान और युक्ति की धाक तत्कालीन विद्वानों के मन में बिठा दी। इसका धुँधला-सा प्रतिबिम्ब जनसाधारण के मन पर भी पड़ा था, परन्तु ऊदल के विषय में दी गई व्यवस्था का प्रभाव तो जनसाधारण पर सीधा ही हुआ।

अद्वैतवाद का जनसाधारण से दूर का सम्बन्ध था, परन्तु मन्दिरों की व्यवस्था तथा उनमें परस्पर विरोध का निराकरण जनसाधारण से निकट का सम्बन्ध रखता था। इस कारण ऊदल और नीलाम्बरा के व्यवहार पर व्यवस्था देने के पश्चात् स्वामी जी की ख्याति काशी की गलियों से निकलकर देश-भर में फैलने लगी। स्वामी जी को काशी में आए छः मास के लगभग हो चले थे और इस काल में उनके ज्ञान और तर्क की ख्याति देश के कोने-कोने में पहुँच गई थी। अब स्वामी जी ने अपनी दिग्विजय आरम्भ करने का विचार कर लिया।

एक दिन काशी नगरी में सुना गया कि स्वामी जी अपने मत के प्रचार के लिए, देशाटन के लिए जाने वाले हैं। यद्यपि ऐसा प्रायः सब धर्म-प्रचारक करते रहे थे, इस पर भी स्वामी जी का जनसाधारण से सम्पर्क इतना बढ़ गया था कि इस समाचार से एक बार तो काशी-निवासियों के मन में कुछ ऐसा भास हुआ कि वे कुछ खो देने वाले हैं। इससे सबको भारी दुःख हुआ।

इस पर शीघ्र ही जनता के मन में उत्साह बढ़ने लगा। काशी को आदिकाल से देश को प्रचारक, शिक्षक, उपदेशक, आचार्य, शास्त्री और नेता देने का गौरव प्राप्त था। यहाँ सहस्रों लोग प्रति वर्ष आते हैं और यहाँ के गौरव की आभा लेकर जाते हैं।

सहस्रों वर्ष से यह नगरी देश के महान् विद्यालय के रूप में कार्य करती रहती थी। अतः इस नगरी ने गुरु शंकराचार्य को भी अपना सांस्कृतिक कार्य करने के लिए अवसर देने का सौभाग्य प्राप्त किया। इस कारण काशी नगरी ने

स्वामी जी को उनके मान के उपयुक्त विदाई देने का निश्चय कर लिया।

जिस दिन श्री स्वामी जी को काशी से विदा होना था, पूर्ण नगर के बाल-युवा-वृद्ध सब नर-नारी मार्ग के तट पर आ खड़े हुए और मार्ग पर चलती हुई संन्यासी-मण्डली पर काँपते हाथों से पुष्प बरसाते तथा शीश झुका नमस्कार करते। पिछले छः मास तक नित्य ये संन्यासी गंगा घाट पर आकर, स्नान करते तथा अपने पवित्र उपदेशों से जनसाधारण को पुलकित करते रहे थे। इससे लोग इनको अपने नगर का एक अंग ही मान बैठे थे। इस पर श्री स्वामी जी का, जटिल-से-जटिल विषय का अति सरल भाषा में विश्लेषण कर सबको समझाना उनके मन पर अमिट छाप डाल चुका था। इस कारण स्वामी जी के विदा होने पर काशी-निवासियों को दुःख होना स्वाभाविक ही था।

स्वामी जी की मण्डली नगर से निकल गंगा के तट पर चलती हुई, नगर-नगर और ग्राम-ग्राम से अपना संदेश देती हुई चलती जाती थी। चलते हुए वह गाती थी—

''भगवती तव तीरे नीरमात्राशनोऽहं,
विगतविषयतृष्णाः कृष्णमाराधयामि।
सकलकलुषभंगे स्वर्गसोपानसंगे,
तरलतरतरंगे देवि गंगे प्रसीद॥
भगवति भवलीलामौलीमाले तवाम्भः,
कणमणुपरिमाणं प्राणिनो ये स्पृशन्ति।
अमरनगरनारीचामरग्राहिणीनां,
विगतकलिकलंकातंकमंके लुठन्ति॥
ब्रह्माण्ड खण्डयन्ती हरशिरसि जटावल्लिमुल्लासयन्ति,
स्वर्लोकादापतन्ती कनकगिरिगुहागण्डशैलात्स्खलन्ति।
क्षीणी पृष्ठे लुठन्ती दुरितचयचमूर्निर्भरं भर्त्सयन्ती,
पयोधिं पूरयन्ती सुरनगरसरित्पावनी नः पुनातु॥''

इस प्रकार यह पर्यटन चल रहा था। स्वामी जी मानते थे कि यह पूर्ण जगत् ब्रह्म है। स्थान-स्थान पर श्री स्वामी जी महाराज का अद्वैतवाद विचित्र ढंग से सांसारिक समस्याओं को सुलझाने में लगा रहता था।

जब जिज्ञासु पूछते, ''यदि यह सबकुछ ब्रह्म है तो फिर आप देवी-देवताओं की पूजा का उपदेश क्यों देते हैं?''

वे इस जिज्ञासा का समाधान इस प्रकार करते, ''एक बालक को बाण से निशाना लगाना सिखाने के लिए पहले मोटे-मोटे लक्ष्य बींधने को कहा जाता है। तदुपरान्त अभ्यास हो जाने पर, उसमें उत्तरोत्तर सूक्ष्म लक्ष्य बींधने की

सामर्थ्य आती-जाती है। यही बात पूजा-पाठ की है।''

स्वामी जी पंचायतन की पूजा का आदेश देते थे। वे कहते थे कि प्रत्येक मन्दिर में पाँचों देवता ब्रह्मा, विष्णु, शिव, दुर्गा, काली की मूर्ति स्थापित हो। प्रत्येक व्यक्ति अपने इष्टदेव को मध्य में रख सकता है। इस पर भी पूजा पाँचों की हो।

इस व्यवस्था पर बहुसंख्यक लोग प्रसन्न थे। इससे परस्पर द्वेष-भाव समाप्त होकर समानता का भाव उत्पन्न हो रहा था। इस पर भी मन्दिरों में पुजारी अथवा वे लोग, जिनको मन्दिरों से आय होती थी, मन-ही-मन असन्तोष अनुभव करते थे।

एक सायंकाल स्वामी जी की मंडली गंगा-स्नान कर समीप के गाँवों से आए भक्तों को उपदेश दे रही थी। एक गाँव का एक पुजारी उस उपदेश से गम्भीर हो पूछने लगा, ''गुरुदेव! मूर्ति की पूजा और मन्दिरों में अनेकानेक देवताओं की स्थापना से एक ओर तो अद्वैतवाद का खण्डन होता है और दूसरी ओर भिन्न-भिन्न विचारों के मानने वालों के कारण युद्ध-क्षेत्र बन जाएगा।''

स्वामी जी का ऐसे व्यक्तियों के लिए एक ही उत्तर था, ''मुझे देश की कोटि-कोटि जनता में विचार-भेद होने पर भी एकत्रित होकर बैठने का स्वभाव डालना है। मैं नहीं चाहता कि पूज्य देवता में भिन्नता होने पर भक्तों में भी भिन्नता हो जाए।

''देखिए पण्डितजी महाराज! विदेश में एक आँधी उठ रही है। उस आँधी की विशेष बात यह है कि पूजा सम्बन्धी भेद के कारण भाई-भाई में, पिता-पुत्र में, पड़ोसी-पड़ोसी में, एक नागरिक और दूसरे नागरिक में, एक देशवासी और दूसरे देशवासी में, द्वेष, वैर, शत्रुता और युद्ध होने लगे हैं। अपने मत को चलाने के लिए खड्ग चलाए जाने लगे हैं, हत्याएँ होने लगी हैं। स्त्रियों के सतीत्व-हरण तथा चोरी-डकैती और प्रत्येक प्रकार के दुर्व्यवहार को चलन दिया जाने लगा है।

''जो लोग मुहम्मद को रसूल नहीं मानते उनको 'काफिर' अथवा 'ज़िम्मी' मान तलवार के घाट उतारा जाने लगा है।

''मैं यह बात भारत में नहीं चाहता। मैं चाहता हूँ कि पूजा-पाठ विश्वास और विचार में भेद होने पर भी परस्पर प्रेम-भाव, सहयोग तथा सहचारिता बनी रहे। भारत में रहते हुए सब एक हो जाएँ।''

''भगवन्! जो कुछ बाहर देशों में हो रहा है, वह राजनीतिक बात है। एक देश का राजा दूसरे देश पर अपना राज्य स्थापित करने के लिए जनसाधारण में मत के आधार पर संगठन का निर्माण कर, अपने राज्य का प्रसार करता है।''

"यही मैं कह रहा हूँ। जहाँ अरब देश में राजा लोग जनसाधारण को मूर्ख बनाकर रक्त की नदियाँ बहा देते हैं, वहाँ मैं चाहता हूँ कि भारत में ऐसा न हो सके। देखिए, बौद्धों के प्रभुत्व काल में एक विदेशी आक्रमणकारी भारत में इस कारण सफल हो गया था कि वह बौद्ध था। मीनान्दर ने जब कश्मीर में बाधा देखी तो वह बौद्ध हो गया। तब कश्मीर के बौद्ध उसके पक्ष में हो गए। उसका कारण यह था कि वहाँ का तत्कालीन शासक शैव था।

"इस प्रकार मत-मतान्तर में भेद होने के कारण देशद्रोह हो गया। अब ऐसा नहीं होना चाहिए। विदेशीय देश के घटकों में वैमनस्य उत्पन्न न कर सकें, भले ही वह किसी भी मत का उपासक हो।

"इसी कारण मैं कहता हूँ कि सब देवता समान और पूज्य हैं। पूजा भले ही अपने इष्टदेव की करो, परन्तु दूसरों से द्वेष और घृणा करने का कोई कारण नहीं।"

"जब," उसी ब्राह्मण का प्रश्न था, "मतभेद विरोध में कारण नहीं, तो फिर किसी विदेशी पन्थ से विरोध क्यों होना चाहिए? यदि इस्लाम यहाँ आता है तो हमको उसका विरोध क्यों करना चाहिए?"

"मैंने किसी भी मत-मतान्तर अथवा पन्थ के विरोध के लिए नहीं कहा। मेरा कहना यह है कि सब मानव अपने-अपने विचार रखने के लिए स्वतन्त्र-हैं, परन्तु विचार और आचरण में अन्तर है। यदि आचरण से हम किसी दूसरे के विचारों का विरोध करें तो बहुत भयंकर बात हो जाएगी।

"इस्लाम यही कर रहा है। इस्लाम के मानने वालों ने फारस पर आक्रमण किया था। वहाँ अपना राज्य स्थापित होने पर फारसियों के मन्दिर गिरा दिये। उनको अपनी पूजा समाप्त कर इस्लाम की पूजा-विधि पर चलने का आदेश दे दिया। जो लोग मान गए, उनसे अच्छा व्यवहार किया गया और जो नहीं माने, उनका धन-वैभव लूट लिया, उनकी स्त्रियाँ छीन लीं और पुरुषों को गुलाम बना लिया अथवा मौत के घाट उतार दिया।"

"यह अति भयानक है। आप कैसे जानते हैं यह?"

"फारस से भागे हुए कुछ लोग कच्छ, द्वारिका इत्यादि स्थानों पर पहुँचे हैं और उन्होंने वहाँ की बात बताई है। मैं कहता हूँ, इस प्रकार के व्यवहार की बात हम पसन्द नहीं करते। राजनीतिक विजय अथवा पराजय भिन्न बात है। उसमें आक्रमण का विरोध राज्य करेगा, परन्तु जो विजयी के पन्थ को नहीं मानते, उनके साथ लूट-मार तथा अन्य प्रकार के अत्याचार नहीं होने चाहिए। इसका विरोध जनता को स्वयं करना होगा।

"यह तभी हो सकेगा जब जनता में यह भावना होगी कि पूजा-पाठ की

विधि का अन्तर घृणा अथवा द्वेष का कारण नहीं हो सकती। पहले देशवासियों में सहिष्णुता हो। हम इसको मूल्यवान समझें और फिर जो कोई इसके विपरीत व्यवहार करे, उसको हम सहन न करें।''

''स्वामी जी महाराज! यह चल नहीं सकेगा।''

''क्यों? युक्ति से तो बात लाभकारी प्रतीत होती है।''

''ठीक है। परन्तु युक्ति के अतिरिक्त मनुष्य में भावना भी एक वस्तु है। भावना तो विधर्मियों के साथ घृणा उत्पन्न करेगी ही।''

''माना, परन्तु क्या कोई शैव किसी वैष्णव के लिए विधर्मी है? हमारा सबका धर्म एक है।''

''यह कैसे?''

''यह इस प्रकार कि हम सब देश की धर्म-व्यवस्था को मानते हैं। मतभेद पूजा-पाठ की विधि में और देवता के रूप में है। मेरी पंचायतन की पूजा की व्यवस्था इस भेद को मिटाना चाहती है। भगवान् एक है। सब देवी-देवता उसी के भिन्न-भिन्न रूप हैं। वास्तव में हम सब एक हैं।

''यदि कोई विदेशी मतावलम्बी हमारी धर्म-व्यवस्था को माने तो उससे भी हम द्वेष नहीं करेंगे। हमारे देश की धर्म-व्यवस्था को मानने का परिणाम यह होगा कि मुहम्मद साहब को पैगम्बर न मानने वाले का भी मान करना पड़ेगा। ऐसा न करने पर हमारी धर्म-व्यवस्था का उल्लंघन हो जाएगा।''

''महाराज! ऐसा हो नहीं सकेगा। सब देवी-देवताओं में भिन्नता के कारण ऐक्य कभी नहीं हो सकेगा। सब देवी-देवताओं का बहिष्कार हो। एक निराकार, निर्विकल्प, निर्विकार, परमात्मा की पूजा हो। तब ही ऐक्य सम्पन्न हो सकेगा। साथ ही आप सर्वसाधारण को 'अहं ब्रह्मास्मि' की ओर ले जाने में सफल हो सकेंगे।''

''यह भी एक विधि है, परन्तु इसमें दोहरा कार्य है। एक है सब वर्तमान देवी-देवताओं से श्रद्धा को शून्य करना। इसमें पूर्ण देश का विरोध मोल लेना होगा। इतना करने के बाद परब्रह्म परमेश्वर में निष्ठा दूसरा पग होगा।

''मैं समझता हूँ कि इस सबके लिए मेरे पास समय नहीं है। मेरी इच्छा है सब भारतवासियों का एकीकरण तुरन्त हो जाना चाहिए। ऐसा हो जाने के बाद परब्रह्म परमेश्वर में निष्ठा स्वयमेव हो जाएगी और तभी ऐसा राजनीतिक संगठन बन सकेगा, जो विदेशों में उठने वाली आँधी का विरोध कर सके।''

''मेरा विचार है कि आपकी आयु और अनुभव अभी बहुत कम हैं। आप देश के अन्य विद्वानों से मिलकर ठीक और गलत, उपयोगी और अनुपयोगी तथा व्यावहारिक और अव्यावहारिक कर्तव्य का निर्णय कर लें, तभी आप ऐसा पग

उठाएँ। इससे देश में उथल-पुथल मचने की सम्भावना है।''

''मुझको इसमें अति प्रसन्नता होगी। आप बताएँ कि मैं किससे मिलकर विचार-विनिमय करूँ?''

''आप पण्डित श्री कुमारिल भट्ट से मिलिए अथवा मंडन मिश्रजी से। इन दो विद्वानों से परामर्श किए बिना आपका देश में एक नया पन्थ निर्माण करना भारी भूल होगी।''

:: 10 ::

यह बात स्वामी जी को उचित प्रतीत हुई कि देश के अन्य विद्वानों से बातचीत करनी चाहिए। अतः उन्होंने सबसे पहले कुमारिल भट्ट से मिलने का निश्चय किया। वे प्रयाग जा रहे थे और पण्डित कुमारिल भट्ट का निवास-स्थान वहीं था। अतः उन्होंने अपने चलने की गति तीव्र कर दी और शीघ्र ही प्रयागराज जा पहुँचे।

इस समय प्रयाग में कुम्भ का समागम था। लाखों की संख्या में यात्री भारत के दूर-दूर स्थानों से आए थे। स्वामी जी ने अपनी पताका गंगाजी के तट पर गाड़ दी। इनकी पताका पर गंगा का चिह्न था। स्वामी जी ने गंगा को अपने कार्य का प्रतीक बनाया था। वे चाहते थे कि वे भारत के समाज में फैले हुए पूर्ण कूड़े-करकट को आत्मसात् कर भस्म कर दें।

ज्यों ही यह पताका लगी, लोग आकर पूछने लगे कि कौन महात्मा पधारे हैं। श्री शंकराचार्य की विद्वत्ता की ख्याति उनके दर्शन से पहले ही प्रसारित हो रही थी। अतः कानो-कान पूर्ण समागम में यह विख्यात हो गया कि अमर कान्त के महर्षि बादरायण के प्रशिष्य तथा भगवत गोविन्दपाद के शिष्य श्री स्वामी शंकराचार्य जी प्रयाग में पधारे हैं।

अगले दिन से प्रभूत-संख्या में लोग स्वामी जी के डेरे के बाहर पहुँचने लगे। गंगा-स्नान करते समय अथवा गंगा से लौटते समय, आचार्य जी के शिष्यों की मंडली गंगाष्टक के पद गाती मिलती थी। वे गाते थे—

''गंगे त्रैलोक्यसारे सकलसुरवधूधौतविस्तीर्णतोये,
पूर्णब्रह्मस्वरूपे हरिचरणरजोहारिणि स्वर्गमार्गे।
प्रायश्चित्तं यदि स्यात्तवजलकणिका ब्रह्महत्यादि पापे,
कस्त्वां स्तोतुं समर्थस्त्रिजगदघहरे देवि गंगे प्रसीद॥''

ऐसा सुन सब लोग अपना-अपना काम-काज छोड़ अपने आने-जाने का ध्यान भूल, हाथ जोड़ संन्यासी-मंडली को नमस्कार करने लगते। इतनी मधुर और सुन्दर भाषा में उन्होंने गंगा की स्तुति पहले कभी नहीं सुनी थी।

जब यह संन्यासी मंडली गाती—

"मातः शाम्भवि शम्भुसंगमिलिते मौलौ निधायाञ्जलिं,
त्वत्तीरे वपुषोऽवसानसमये नारायणांघ्रिद्वयम्।
सानन्दं स्मरतो भविष्यति ममप्राणप्रयाणोत्सवो,
भूयाद् भक्तिरविच्युता हरिहराद्वैतात्मिका शाश्वती।"

तो अनायास ही शत-शत मुखों से गंगा मैया का जय-घोष निकलने लगता।

इस प्रकार वहाँ प्रति सायंकाल विशाल सभाएँ होने लगीं, जिनमें श्री स्वामी शंकराचार्य जी के प्रवचन होते। सहस्रों नर-नारी मन्त्र-मुग्ध से उनके प्रवचनों को सुनते। इन प्रवचनों में श्री स्वामी जी महाराज अपनी मीमांसा को 'एक ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' की विवेचना इतनी सरल तथा हृदयग्राही भाषा में कहते कि साधारण बुद्धि के लोग भी समझकर और प्रसन्न होकर जाते।

मध्याह्न के समय प्रातः शास्त्र-चर्चा हो जाती। इन गोष्ठियों में आए विद्वान् स्वामी जी के ज्ञान और तर्क के सम्मुख नतमस्तक होकर ही जाते।

एक दिन एक पण्डित अपने एक सौ एक शिष्यों सहित स्वामी जी के निवास-स्थान पर आया और द्वार पर खड़े हो उसने अपनी सूचना भीतर भेज दी। भीतर स्वामी जी काशी से आए कुछ विद्वानों और पूर्व परिचितों से वार्तालाप कर रहे थे। इनमें विरोचन, उसके पिता गजानन मिश्र, सुरेश्वर भट्ट, ऊदल कुमार, नीलाम्बरा तथा शर्मिष्ठा देवी भी थीं। इनके साथ कुछ अन्य लोग भी थे और ये प्रयागराज में कुम्भ-स्नान करने तथा साधु-संत-महात्माओं के प्रवचन सुनने के लिए आए हुए थे। जब इनको स्वामी जी के कुम्भ समागम पर पधारने की बात विदित हुई तो सब-के-सब मध्याह्न के समय उनके डेरे पर दर्शनार्थ आ पहुँचे। स्वामी जी ऊदल और नीलाम्बरा से उनके विवाहित जीवन के सरस चलने के विषय में पूछ रहे थे।

इस समय एक संन्यासी किसी पण्डित का शास्त्रार्थ के लिए पधारने का समाचार लेकर आया। उसने धीरे-से स्वामी जी से कहा, "भगवन्! द्वार पर प्रतिष्ठानपुरी के प्रभाकराचार्य अपने एक सौ एक शिष्यों के साथ आपसे शास्त्रार्थ करने पधारे हैं।"

स्वामी जी ने एक क्षण तक विचार किया और फिर तुरन्त उठ, नंगे पाँव भागे हुए द्वार पर गए और हाथ जोड़ नमस्कार कर प्रभाकराचार्यजी से बोले, "आइए महाराज! पधारिए। मैं आपकी प्रतीक्षा में था।"

एक संन्यासी को और वह भी शंकराचार्य—जैसे विद्वान् को, एक गृहस्थ के स्वागत के लिए द्वार तक जाते देख जहाँ शिष्य-वर्ग को अचंभा हुआ, वहाँ काशी से आई विद्वान्-मंडली भी चकित रह गई। स्वामी जी हाथ-में-हाथ दिये

प्रभाकराचार्य को भीतर लाए और उनको अपने साथ आसन पर बिठाया।

प्रभाकराचार्य के शिष्य अपने गुरु जी की इतनी मान-प्रतिष्ठा देख फूलकर कुप्पा हो रहे थे, परन्तु पण्डितजी स्वयं मलिन मुख हो रहे थे। उन पर इस आदर-सत्कार का प्रभाव शिष्यों की अपेक्षा विपरीत हुआ। वे मन में अनुभव करते थे कि एक संन्यासी से अपना इतना आदर करा कर उन्होंने कुछ उचित नहीं किया। इस कारण पण्डित प्रभाकराचार्य जी लज्जा अनुभव कर रहे थे। वे समझ नहीं पा रहे थे कि अपनी इस धृष्टता के लिए कैसे क्षमा माँगें।

स्वामी जी पण्डित जी के संकोच का अनुमान लगा स्वयं कहने लगे, "आचार्य जी! आपने बहुत कृपा की, जो स्वयं यहाँ आने का कष्ट किया। मैं इस कुम्भ-समागम के बाद आपके नगर में जाकर आपके ज्ञानवृद्ध गुरु श्री कुमारिल भट्ट जी के दर्शन के लिए आने वाला था। ऐसी महानात्माओं के चरणों में बैठ कुछ शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य पाना चाहता था।"

"गुरु जी आजकल विरक्त हो रहे हैं।" पण्डित प्रभाकराचार्य ने कहा, "उनका और मेरा मत है कि उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयुक्त किए जाने वाले साधनों का भी उतना ही महत्व होता है, जितना उद्देश्य का। इसी विषय पर आपसे वार्तालाप करने आया था।"

"मैं चाहता था कि आपके गुरु जी से इस विषय को समझने का यत्न करता। वे पूर्व मीमांसा के प्रकाण्ड विद्वान हैं और पूर्ण-रूप से कर्मकाण्डी हैं। कर्मकाण्ड का अर्थ है विधि-विधान को ही महत्ता देना।"

"परन्तु वे आपसे कदाचित् बात नहीं कर सकेंगे। उनके मन में वैराग्य और पश्चात्ताप की भावना जाग उठी है।

"आपको यह ज्ञात ही होगा कि गुरु जी जब काशी में शिक्षा पाते थे, तब वे बौद्धों के अत्याचार से अति दुखित थे। एक बार वे राजप्रासाद के नीचे से जा रहे थे। प्रातःकाल का समय था और उस समय राजकुमारी बौद्धों द्वारा वेदों की निन्दा सुन व्याकुल होकर सूर्य भगवान् से प्रार्थना कर रही थी—

"किं रुधीहि क्व गच्छामि को वेदानुद्धरिष्यति।"

"गुरु जी इस कुमारी का आर्तनाद सुन व्याकुल हो उठे। उन्होंने नीचे से ही इस दुःख-भरे प्रश्न का उत्तर दे दिया—

"मा रुरोद वरारोहे भट्टाचार्योऽस्मि भूतले।"

"इसके बाद गुरु जी अपने आचार्य जी से आशीर्वाद ले बौद्ध मत का खण्डन करने चल पड़े। अयोध्या, काशी, प्रयाग, पाटलिपुत्र तथा बिहार के अन्य स्थानों पर, घूम-घूमकर बौद्ध मत का खण्डन करने लगे। उनको इस कार्य में भारी सफलता मिली। इस सफलता पर बौद्ध तिलमिला उठे और फिर उनसे

स्थान-स्थान पर वाद-विवाद होने लगे।

"इन वाद-विवादों में गुरु जी को एक कठिनाई अनुभव होती थी। वे बौद्ध मत वालों के कर्मकाण्ड के विषय में कुछ नहीं जानते थे। अतः उन्होंने उनके विधि-विधान का ज्ञान प्राप्त करने के लिए श्रमण धर्म की दीक्षा लेकर एक विहार में प्रवेश पा लिया। कुछ काल तक वे वहाँ रहे और उन्होंने उनके रहन-सहन के ढंग, उनकी पूजा-पाठ की विधि और दिनचर्या का भली-भाँति अध्ययन किया। इस अध्ययन से वे यह जान गए कि जो आरोप बौद्ध-गण वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड पर लगाते थे, वही आरोप बौद्ध-धर्म के कर्मकाण्ड पर भी लगता था।

"इस काल में एक दिन बौद्ध महाप्रभु अपने प्रवचन में वेदों की अनर्गल तथा असत्य निन्दा करने लगे। गुरु जी उनका उत्तर दे सकते थे, परन्तु वे वहाँ छद्मवेश में थे। इस पर वे अपने मन के भावों तथा निन्दा सुनने से होने वाले कष्ट को छिपाने के कारण रो पड़े। उनको रोते देख अन्य बौद्ध-भिक्षु उनसे पूछने लगे कि वे क्यों रो रहे हैं। इससे उनका भेद खुल गया। उनके मुख से अनायास निकल गया कि प्रवचनकर्त्ता अज्ञ तथा मूर्ख है। वह वेदों के विषय में कुछ नहीं जानता। इस पर बौद्ध को सन्देह हो गया कि यह कोई ब्राह्मण है, जो उनके रहस्य को जानने के लिए आया है। अतः बहुत-से भिक्षु उनको मार डालने के लिए लपके। गुरु जी जीवन को भय में समझ वहाँ से भागे। वे बचकर तो निकल आए, परन्तु उनको इस कार्य में अपनी एक आँख भेंट में चढ़ानी पड़ी।

"इसके बाद गुरु जी ने गौड़ राज्य, बिहार राज्य, काशी, अयोध्या और प्रयागराज के क्षेत्रों में बहुत प्रचार किया और बौद्धों को इन क्षेत्रों से निःशेष करने में लगभग सफल हो गए।

"अब कुछ वर्षों से उनको अपने बौद्धों को धोखा देने का पश्चात्ताप हो रहा है। वास्तव में वे हृदय से उद्देश्य-प्राप्ति के साधनों को भी महत्ता देते हैं। अतः जिस साधन से उन्होंने बौद्ध सम्प्रदाय की गुह्य बातों को जाना था, उनको हीन मान, अपने-आपको पतित मानने लगे हैं। जब से उनको यह पछतावा लगने लगा है तब से वे किसी से मिलते-जुलते नहीं, किसी से वाद-विवाद नहीं करते और प्रायः चुपचाप बैठे रहते हैं।"

"तो उनसे मिलने के लिए हमको आज ही प्रस्थान करना चाहिए।"

"पर महाराज! मैं आपसे शास्त्रार्थ करने आया हूँ।"

"अब यह शास्त्रार्थ आपके गुरु जी के सम्मुख ही होगा।"

इतना कह गुरु शंकराचार्य जी ने अपने संन्यासियों के दल को कह दिया, "हम कल यहाँ से प्रस्थान करेंगे।"

:: 11 ::

गजानन मिश्र और उनके साथी श्री स्वामी जी के विनयी स्वभाव को देख जहाँ आश्चर्य करते थे, वहाँ प्रसन्न भी थे। जब इन लोगों ने आने वाले विद्वान् का नाम सुना तो बहुत रुचिकर शास्त्रार्थ सुनने की आशा करने लगे थे, परन्तु यह जान कि शास्त्रार्थ कुमारिल भट्ट जी के निवास स्थान पर होगा कुछ निराश हुए।

प्रभाकराचार्यजी विदा हुए तो स्वामी जी ने काशी से आए लोगों को विदा करने के लिए कहा, ''महाराज से हमारा आशीर्वाद कहिएगा। उनसे कहिएगा कि भारत-भ्रमण के उपरान्त मैं पुनः काशी में आऊँगा और तब भारत को एक सांस्कृतिक सूत्र में बाँधने की अपनी योजना उनके सम्मुख रखूँगा। उसमें महाराज तथा भारत के अन्य नरेशों से सहायता लेनी है।''

जब काशी से आए लोग उठ खड़े हुए तो विरोचन ने अपनी प्रतिष्ठानपुरी जाने की इच्छा प्रकट कर दी। स्वामी जी ने पूछा, ''क्या करोगे जाकर?''

''महाराज! मेरा अनुमान है कि वहाँ पर भारी शास्त्रार्थ होने वाला है। मैं उस शास्त्रार्थ को सुनकर ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ।''

''बालक! जानते हो, कुमारिल भट्ट और मुझमें मतभेद कहाँ पर है?''

''हाँ महाराज! कुछ-कुछ समझता हूँ। शेष समझने के लिए साथ चलने की आज्ञा चाहता हूँ।''

''तो तुम अकेले चलोगे?''

गजानन ने कह दिया, ''यदि विरोचन जाएगा तो मैं और उसकी माताजी भी चलेंगी। हम दोनों चलेंगे तो हमारे अन्य साथी भी चलेंगे।''

सुरेश्वर भट्ट जी ने भी कहा, ''यदि मिश्रजी चलेंगे तो हम सब चलेंगे।''

इस पर स्वामी जी ने कहा, ''तो आप सब प्रभाकराचार्यजी की भाँति पृथक् चलिएगा।''

जब स्वामी जी के डेरे से प्रभाकराचार्य के शिष्य बाहर आए तो उन्होंने यह बात कुम्भ समागम में विख्यात करनी आरम्भ कर दी कि स्वामी जी पण्डितजी के गुरुश्री कुमारिल भट्टजी से बात करने जा रहे हैं। जब जनता को यह ज्ञात हुआ कि प्रतिष्ठानपुरी में शास्त्रार्थ होगा तो सहस्रों विद्वान्, अर्द्ध-शिक्षित और जनसाधारण भी प्रतिष्ठानपुरी को जाने के लिए तैयार हो गए।

स्वामी जी के डेरे से निकल काशी निवासी, गजानन इत्यादि अपने डेरे को जा रहे थे कि एक स्थान पर बहुत-से लोग एकत्रित दिखाई दिये। वे एक घेरे में खड़े थे। ऐसा प्रतीत होता था कि वे कोई तमाशा देख रहे हैं।

काशी के लोग इस ओर ध्यान दिये बिना समीप से निकल जाते, परन्तु नीलाम्बरा उस भीड़ में किसी लड़की के गाने का स्वर सुन ठिठककर खड़ी हो गई। गाने वाली गा रही थी—

"वासुदेव गोवर्धनधारी राखो लाज हमारी,
हम दुष्टन के बीच पड़े हैं दुष्ट संहारन हारी।
जय जय देव हरे, जय जय वासुदेव हरे।

ऊदल नीलाम्बरा को खड़ी होते देख प्रश्न- भरी दृष्टि में उसकी ओर देखने लगा। इस पर नीलाम्बरा ने कहा, "सुनिए, यह कौन गा रहा है ?"

ऊदल खड़ा हो गया और सुनने लगा। इस समय सब लोग जय वासुदेव की धुन में गाने लगे थे।

जब दर्शकगण गा चुके तो गाने वाली ने पुनः गाना आरम्भ कर दिया। वह गाने लगी—

"निर्मल उज्ज्वल श्याम मनोहर गोवर्धन गिरधारी,
ग्वाल बाल राधा सखियन संग सब तुम पर थीं वारी।
जय जय देव हरे, जय जय वासुदेव हरे।

पुनः सब संगत साथ देने लगी और जय जय वासुदेव की धुन गाने लगी।

ऊदल अब भी नहीं समझा कि यह कौन है ? इस कारण उसने नीलाम्बरा से पूछा, "कौन ?"

"रुक्मिणी वारांगल है।"

"रुक्मिणी ?" ऊदल ने भीड़ में प्रवेश किया और पायल बाँधे रुक्मिणी को कीर्तन करते देख विस्मित रह गया। इस समय नीलाम्बरा भीड़ को चीर कर आगे चली गई। रुक्मिणी इनकी ओर नहीं देख रही थी। वह अपने कीर्तन में मस्त थी। अब वह नाचने लगी थी। नाचते हुए भीड़ के बीच खुले स्थल के दो चक्कर लगा, मैदान के बीचोबीच खड़ी हो पुनः गाने लगी—

कंस दुःशासन दुर्योधन ने ऊधम महा मचाया,
शिशुपाल ने गाली देकर शौर्य असीम दिखाया।
सब दुष्टन का नाश किया भू नरक से थी उभारी,
वासुदेव गोवर्धनधारी राखो लाज हमारी।
जय जय देव हरे जय जय वासुदेव हरे।"

इस समय रुक्मिणी की दृष्टि नीलाम्बरा पर पड़ गई। उसने कीर्तन बन्द कर दिया और नीलाम्बरा के समीप आकर खड़ी हो गई। दोनों गले मिलने लगीं। दर्शक जो कीर्तन देखने खड़े थे, एक क्षण तो दोनों को ध्यानपूर्वक देखते रहे, फिर मृदंग बजाने वाले के सामने दान-दक्षिणा फेंक, जाने आरम्भ हो गए। नीलाम्बरा

और रुक्मिणी जब गले मिल चुकीं तो परस्पर एक-दूसरे को आश्चर्य में देखने लगीं। पहले नीलाम्बरा ने पूछा, "रुक्मिणी! यह क्या है?"

"पेट भरने का साधन।"

"कहाँ ठहरी हो?"

नीलाम्बरा ने ऊदल की ओर संकेत कर कह दिया, "इनके डेरे पर। हम परिवार सहित कुम्भ-स्नान के लिए आए हुए हैं। यहाँ से थोड़ी ही दूर पर हमारा डेरा है।"

"मैं साथ चलूँ!"

"और ये लोग?" नीलाम्बरा ने मृदंग, मजीरा बजाने वालों की ओर संकेत कर पूछा।

"ये मेरा भाग मुझको अभी देंगे और कल के विषय में फिर सोच लूँगी।"

ऊदल ने पूछ लिया, "रुक्मिणी! ठहरी कहाँ हो?"

"कहीं भी नहीं। ये लोग मृदंग बजाकर भीख माँग रहे थे। मैंने इनसे प्रस्ताव कर दिया कि यदि ये मेरे गाने और नाचने के साथ मृदंग बजाएँगे तो जो कुछ प्राप्त होगा, उसमें दो भाग मुझे और एक भाग इनको मिलेगा। ये मान गए और प्रातःकाल से अब तक मैंने बीस रजत बना लिए हैं। अब कई दिन के खाने के लिए हो गया है। अब नाचूँगी नहीं।"

इस समय मृदंग बजाने वाला, एकत्रित धन में से रुक्मिणी का भाग गिनकर उसके पास ले आया। रुक्मिणी ने वह लेकर अपनी अंटी में रख कर नीलाम्बरा से कहा, "चलो, अब डेरे पर चल कर बात करूँगी।"

:: 12 ::

डेरे पर पहुँच उसने भोजन माँगा। ऊदल की माँ ने उसको खाने को दिया। भोजन करते हुए उसने अपनी कथा बता दी। उसने बताया, "जब शंकर ने विवाह से इन्कार कर दिया और माधव के साथ जाना मैंने स्वीकार नहीं किया तो मैंने पान्थागार का मार्ग पकड़ा। वहाँ पहुँच मैंने रहने के लिए स्थान माँगा। पान्थागार के रक्षक ने सिर हिलाकर कहा, 'यहाँ वेश्याओं के लिए स्थान नहीं है।'

"मैने कहा, 'मैं वेश्या नहीं हूँ।'

'तुम्हारे साथ कोई पुरुष जो नहीं है?'

'जब किसी स्त्री का कोई पुरुष संरक्षक न हो तो वह वेश्या होती है क्या?'

''पान्थागार का संरक्षक अपनी युक्तिहीन बात पर लज्जित हुआ। वह कुछ देर तक विचार कर बोला, 'आप ठीक कहती हैं। मैं आपको वेश्या कहने का कोई प्रमाण नहीं रखता। अतः क्षमा-याचना करता हूँ। इस पर भी इस पान्थागार का नियम है कि यहाँ कोई स्त्री बिना अपने साथ किसी पुरुष के रह नहीं सकती।'

'तो मैं कहाँ जाऊँ?'

'तुम कहाँ से आई हो?'

'अयोध्या से। मेरे साथ एक पुरुष संरक्षक था, परन्तु जब उसने मुझ पर एक संरक्षक से अधिक अधिकार प्राप्त करने का यत्न किया तो मैंने उसको छोड़ दिया। मैं रात-भर यहाँ ठहरना चाहती हूँ। कल मैं कहीं अन्यत्र ठहरने का प्रबन्ध कर लूँगी।'

'परन्तु तुम अयोध्या से आई किस कारण थीं?'

'मैं धर्मसभा में देवदासी के विवाह पर धर्म-व्यवस्था सुनने आई थी।'

'ओह! पान्थागार का रक्षक अवाक् मुख खड़ा रह गया।'

''जब उसके मुख से कोई शब्द नहीं निकला तो मैंने पूछा, 'क्यों क्या विचार कर रहे हो?'

'तुम एक रात के लिए रह सकती हो। परन्तु एक शर्त है कि बिना स्वीकृति के रात को जा नहीं सकोगी।'

'यह क्यों? क्या मैं बन्दी हो जाऊँगी?'

'मैं तुम्हारे विषय में नगरपाल को लिखूँगा और जब तक वहाँ से उत्तर न आए, तुमको यहीं रहना होगा।'

'तो क्या मेरी कोठरी को ताला लगा दोगे?'

'नहीं! ऐसा नहीं। तुम यहाँ नहीं भी रह सकतीं। परन्तु यहाँ रहने की शर्त है कि तुम बिना बताये जा नहीं सकोगी। मैं तुम्हारे वचन पर विश्वास करूँगा?'

'और यदि नगरपाल की आज्ञा आने के पहले मैं जाना चाहूँ, तब क्या होगा?'

'तुम्हें बताकर जाना होगा। मैं उस समय क्या करूँगा, यह मैं तभी विचार करूँगा।'

''मैंने रात के समय अपरिचित नगर में घूमने की अपेक्षा वहाँ अपने को बन्दी बनाकर रहना स्वीकार कर लिया। पान्थागार के बाहर हलवाई की दुकान से दूध पीकर प्रबन्धक के पास मैंने अपना नाम-धाम लिखा दिया। मैंने वहाँ रहने का कारण यह लिखाया कि मैं किसी मन्दिर में कीर्तन करने का काम पाने की इच्छा से ठहरी हूँ।

''मैं अपने आगार में जाकर विश्राम कर रही थी और अभी रात्रि नहीं हुई थी कि किसी ने आगार का द्वार खटखटाया। मैंने आवाज दी, 'कौन है ?'

''उत्तर मिला, 'नगरपाल का आदेश आया है ?'

'क्या आदेश है ?'

'तुरन्त उनके सामने उपस्थित हो जाओ।'

''मैंने आगार का द्वार खोलकर देखा। पान्थागार का रक्षक हाथ में एक पत्र लिए खड़ा था। उसने वह पत्र मेरे हाथ में दे दिया। उसमें लिखा था, 'काशी न्यायालय की आज्ञा है कि रुक्मिणी वारांगल, जो इस समय सार्वजनिक पान्थागार में ठहरी हुई है, तुरन्त नगरपाल के सामने उपस्थित होकर माधव नाम के एक व्यक्ति द्वारा लगाए आरोपों का उत्तर दे।'

''मैं आश्चर्य में संरक्षक का मुख देखती रह गई। मैं माधव को छोड़ सीधी पान्थागार में पहुँची थी और यह सम्भव नहीं था कि माधव ने मुझसे पहले वहाँ पहुँचकर संरक्षक को कुछ कहा हो। मुझको आश्चर्य इस बात पर था कि पान्थागार के संरक्षक को यह कैसे पता चल गया कि नगरपाल के पास माधव मेरे विरुद्ध आरोप लगाने वाला है।

''मैंने संरक्षक से पूछा, 'आपको विदित था कि मेरे विरुद्ध कोई अभियोग चल रहा है ?'

'नहीं; बात यह है कि मैंने ही तुम्हारे यहाँ पहुँचने की सूचना नगरपाल के पास भेजी थी। यह हमारा काम है। जब भी कोई स्त्री अपने संरक्षक को छोड़कर किसी भी पान्थागार में जाए, तो हम उसकी सूचना नगरपाल के पास भेज देते हैं। हम आपको बन्दी करने का अधिकार नहीं रखते, परन्तु आपसे वचन ले सकते हैं कि आप जाएँगी नहीं। यदि आप वचन न देतीं और कहीं अन्यत्र जाकर ठहरने का यत्न करतीं, तो वहाँ भी यही कुछ होता।'

''विवश, मैंने वह पत्र लिया और स्वयं नगरपाल के कार्यालय में जा पहुँची।

''नगरपाल वृद्ध व्यक्ति था। माधव उसके सम्मुख बैठा था। वहाँ पहुँच मैंने उसका पत्र उसके सामने रखा तो उसने मुझको सिर से पाँव तक देखकर पूछा, 'तुम रुक्मिणी वारांगल हो ?'

'जी हाँ।'

'तुम देवदासी हो ?'

'थी, परन्तु अब नहीं हूँ।'

'यह कैसे हो सकता है ?'

'आज काशी की धर्मसभा ने एक धर्म-व्यवस्था दी है। उसके अनुसार मैं

सज्ञान होने पर अपने माता-पिता द्वारा दिये गए वचन पर स्थिर नहीं रही।'

'यह बात नहीं! तुम न केवल देवदासी थीं, प्रत्युत रमणाचार्यजी की संरक्षा में भी थीं। तुम देवदासी का काम छोड़ सकती हो और यह भी तब, यदि तुम्हारे माता-पिता तुम्हारे संरक्षक बन जाएँ अथवा तुम किसी से विवाह कर लो।'

''मैं इस नई परिस्थिति पर नगरपाल का मुख देखती रह गई। मुझको चुप देख नगरपाल ने कहा, 'अब तुम इस माधव के साथ, जो रमणाचार्यजी का प्रतिनिधि है, जा सकती हो।'

''मैंने कहा, 'श्रीमान्! मैं इसके साथ नहीं जाऊँगी। मैं आपके युक्तिहीन आदेश को नहीं मानूँगी। मेरी समझ में नहीं आता कि काशी, जो तार्किक विद्वानों की नगरी कही जाती है, उसमें आप-जैसे तर्कहीन नगरपाल नियुक्त हैं।

'मैं चाहती हूँ कि मुझको महाराज के समक्ष उपस्थित कर दिया जाए और मुझको उनके सम्मुख अपनी प्रार्थना कहने का अवसर मिले।'

''नगरपाल बोला, 'तुम सब दक्षिण वाले अपने को बहुत विद्वान् मानते हो। धर्मशास्त्र प्रत्येक व्यक्ति की सुविधा के लिए बदला नहीं जा सकता। मुझको अपनी बात सर्वथा धर्मानुकूल प्रतीत होती है।'

'देखिए, यदि मेरे माता-पिता मर गए हों और मेरा विवाह न हुआ हो तो मैं कहाँ जाऊँ?'

'तुम्हारे माता-पिता का देहान्त हो चुका है।'

'जी हाँ।'

'और तुम्हारे कोई भाई-बहन नहीं है?''

'नहीं।'

'कोई अन्य सम्बन्धी भी नहीं है?'

'आप भी तो मेरे सम्बन्धी हैं।'

'कैसे'

'एक मनुष्य के नाते।'

'धर्मशास्त्र में यह सम्बन्ध नहीं माना जाता।'

'तो आप मुझसे विवाह कर लीजिए।'

'मैं? विवाह? नहीं, मैं विवाह नहीं कर सकता।'

'तो मुझे पति ढूँढ़ने को आज्ञा देना अयुक्तिसंगत है न?'

'परन्तु तुम गुरु जी के पास जाना क्यों पसन्द नहीं करतीं?''

'इस कारण कि चिदम्बरम् में यहाँ की धर्मसभा की व्यवस्था माननीय होगी अथवा नहीं, मैं नहीं जानती।'

'तो तुमको मेरा आदेश मानना पड़ेगा।'

'मैं आपके आदेश को अमान्य कराने के लिए महाराज के सामने पुनरावेदन करना चाहती हूँ।'

'इस अवस्था में यह कल हो सकेगा। उस समय तक तुम कहाँ रहोगी?'

'जहाँ आप रखेंगे?'

'तुम माधव के साथ चली जाओ और कल सूर्योदय के दो घड़ी बाद यहाँ आ जाना।'

'आप माधव को मेरे साथ पान्थागार में भेज दीजिए और इसको आदेश दे दीजिए कि यह मेरे साथ यहाँ आ जावे।'

'परन्तु यह अपराधी नहीं। इसको हम आदेश नहीं दे सकते।'

'और मैंने क्या अपराध किया है?'

'हम समझते हैं कि यह तुम्हारा धर्म से संरक्षक है और तुमको इसके संरक्षण में जाना चाहिए।'

'मैं कहती हूँ यह मेरा संरक्षक नहीं है। इसी बात का पुनरावेदन महाराज के समक्ष करना चाहती हूँ। आप उस आवेदन का परिणाम जाने बिना मुझको इसके अधीन कर रहे हैं।'

'नगरपाल मेरी युक्ति सुन गम्भीर हो गया। बहुत देर तक विचार करने के बाद उसने हम दोनों को आज्ञा देते हुए कहा, 'तुम दोनों पान्थागार में चले जाओ और कल निश्चित समय पर यहाँ उपस्थित हो जाना।'

''हम दोनों उस रात पान्थागार में रहे।''

:: 13 ::

''अगले दिन सूर्योदय से पूर्व मैं स्नानादि से निवृत्त हो, माधव के आगार के सामने आ गई। वहाँ पहुँच मैंने देखा कि उसका आगार रिक्त है और वह वहाँ नहीं है। मैं पान्थागार के संरक्षक से पूछने गई। उसने बताया कि माधव नगरपाल के कार्यालय को चला गया है। मुझको यह बात कुछ विचित्र प्रतीत हुई। इस पर मैं भी लम्बे-लम्बे पग उठाती हुई नगरपाल के कार्यालय में जा पहुँची।

''नगरपाल हमारी प्रतीक्षा कर रहा था। माधव वहाँ नहीं था। जब मैंने बताया कि वह पान्थागार के संरक्षक को यह कहकर कि उनके पास आ रहा है, वहाँ से चला आया है, तो नगरपाल क्रोध से उतावला हो गया। उसने आज्ञा दी कि दो सुभट अश्वों पर माधव का पीछा करने के लिए जाएँ और उनको बन्दी बनाकर लाएँ।

''अब वह चिन्तित प्रतीत होता था। मैंने उसको कहा, 'अब चलिए! मैं महाराज के सम्मुख जाने को तैयार हूँ।'

''इस पर उसने कहा, 'अब कोई अभियोग ही नहीं रहा। तुम्हारा संरक्षक बनने वाला ही भाग गया है। बताओ, अब मैं किसके संरक्षण में तुमको भेज सकता हूँ?'

'तो मैं स्वतन्त्र हूँ? जाऊँ?'

''उसने कुछ काल तक विचार किया और कहा, 'मैं तुमको यह आदेश देता हूँ कि तुम दो दिन तक पान्थागार में ही रहो। तब तक माधव भी पकड़ा जाएगा और तुम्हारे विषय में राजाज्ञा भी प्राप्त हो जाएगी।'

'और यदि मैं भी भाग जाऊँ?'

'नहीं, तुम नहीं भाग सकोगी। माधव भी पकड़ा जाएगा।'

'तो फिर मैं कब आऊँ?'

'तीसरे दिन इसी समय।'

'यदि तब तक मेरा विवाह हो जाए तो?'

'तो तुम अपने पति को भी साथ लेती आना।'

''मैं हँस पड़ी और नमस्कार कर वहाँ से चली आई। मेरे हँसने का कारण यह था कि नगरपाल को मैंने युक्ति से परास्त कर दिया था।

''मैं पान्थागार में आ गई। वहाँ आकर मैं विचार करने लगी कि किस प्रकार इस नगरपाल के झगड़े से छुटकारा पाऊँ। मैं दिन-भर मन्दिरों में घूमती रही, परन्तु किसी भी मन्दिर में कीर्तन करने के लिए काम नहीं पा सकी। यदि कहीं स्थान मिल जाता तो मैं उस मन्दिर के पुजारी को अपना संरक्षक मानकर नगरपाल से अपना छुटकारा पा जाती।

''सायंकाल मैं पान्थागार में पहुँची तो माधव को एक आगार में बन्दी किए जाने का समाचार मिला। मैं उस आगार के बाहर खड़ी हो उससे पूछने लगी, 'क्यों माधवजी! स्वास्थ्य कैसा है?'

''माधव ने अपना मुख दीवार की ओर कर लिया और मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। मैं हँसकर चली आई।

''दो दिन बाद मैं स्वयं नगरपाल के कार्यालय में जा पहुँची। माधव दो सुभटों के बीच बंदी के रूप में खड़ा था। मुझको देखकर नगरपाल ने कहा, देखो रुक्मिणी वारांगल! तुम जहाँ चाहो जाने के लिए स्वतंत्र हो। मैंने तुम्हारे विषय में राज्यसभा से सम्मति ले ली है। राज्यसभा का यह निर्णय है कि यदि वेश्याओं को स्वतन्त्रता है तो एक भद्र स्त्री को क्यों नहीं हो सकती?'

''नगरपाल ने यह भी बताया कि राज्यसभा का मत है कि जैसे कोई भी स्त्री अपनी इच्छा से पतित हो वेश्या बन सकती है, उसी प्रकार यदि मैं अपने को शुद्ध और पवित्र नहीं रख सकूँगी तो मैं भी वेश्या बन जाऊँगी। यदि किसी

पुरुष से बलात्कार किए जाने पर मैं पतित होती हूँ तो अपराधी पुरुष को दंड मिलना चाहिए। इस बात में कोई युक्ति नहीं मानी गई कि किसी अज्ञात पुरुष द्वारा पतित किए जाने की सम्भावना मात्र पर, पहले ही मेरी स्वतन्त्रता हरण कर ली जाए। मैं मुक्त हूँ और जहाँ चाहूँ जा सकती हूँ।

''मैंने माधव की ओर देखकर पूछा, 'और इसका क्या होगा?'

'इसका तुम्हारा संरक्षक बनना अपराध नहीं माना गया। यह इसके भ्रम के कारण समझा गया है, परन्तु इसने एक और भारी अपराध किया है। मैंने इसको आदेश दिया था कि वह मेरे समक्ष उपस्थित होवे। इसने इस आदेश को सुना और समझकर भी उसकी अवहेलना करने का यत्न किया। इसने विश्वासघात किया है। इस अपराध का दंड पाँच वर्ष का कारावास है। मैंने इसको दंड दे दिया है और यह यदि चाहे तो काशिराज के समक्ष पुनरावेदन कर सकता है।'

''मुझको माधव में रुचि नहीं थी। अत: मैं वहाँ से चली आई। इस पर भी संसार में निर्वाह करना सुगम नहीं था। मेरे लिए यह एक भारी समस्या थी। मेरे पास कुछ रजत थे। मैंने उनसे अपने लिए पायल खरीदीं और कुछ दिन के लिए रसद-पानी खरीदा। मैं पान्थागार में रहने लगी और नृत्य तथा संगीत का कार्य पाने की आशा में इधर-उधर घूमने लगी।

''एक दिन पान्थागार में कुछ नट-नटियाँ अपने करतब दिखा रही थीं। उनको देख मुझको भी अपना नृत्य दिखाने की लालसा जाग पड़ी। मैंने नटों के पास जाकर प्रस्ताव किया। वे विस्मय में मेरा मुख देखते रह गए। जब मैंने मुस्कराकर उनसे आग्रह किया तो वे तैयार हो गए। उनके पास ढोलक और मजीरे थे। मैंने पायल बाँधे तो दर्शकों के मन में कौतूहल उत्पन्न हो गया। पान्थागार के सब निवासी देखने चले आए।

''ढोलक और मजीरे की संगत पर मैंने नाच किया। यह देख कि दर्शकों ने मेरे नृत्य को पसन्द किया है, मेरा साहस बढ़ गया। मैंने तीन-चार नृत्य और दिखाए और जब झोली फैलाकर पारिश्रमिक माँगने लगी तो मेरे विस्मय का ठिकाना नहीं रहा, जब मुझको बीस रजत से अधिक प्राप्त हुए। उनमें से पाँच रजत नटों कां दे दिये। इस पर वे मुझको अपनी मंडली में सम्मिलित करने के लिए आग्रह करने लगे। मैंने स्वीकार कर लिया। उनसे यह निश्चय हो गया कि जो कुछ मुझको मिलेगा, उसका तीसरा भाग उनको दे दिया करूँगी और उनको वीणा और मृदंग बजाने वालों का प्रबन्ध करना होगा।

''मैं कई दिन तक उनके ढोलक और मजीरे की संगत में नृत्य और संगीत करती रही। हम काशी के मार्गों पर घूम-घूम कर यह तमाशा करते थे। मेरे पास सौ से अधिक रजत एकत्रित हो गए। उनको भी तीस से अधिक रजत मिले थे।

इस पर भी वे मृदंग और वीणा बजाने वाले का प्रबन्ध नहीं कर सके।

''इन दिनों प्रयाग में कुम्भ के दिन आ गए। यह सुन मेरे मन में विचार आया कि कुम्भ-स्नान पर चलना चाहिए। सो मैं नटों का साथ छोड़कर इधर चली आई।

''मैं कई दिन से यहाँ हूँ। कल मेरा सब धन समाप्त हो गया था। अकस्मात् मुझको ये भिखारी मिल गए। मैंने तीन-चार स्थानों पर इनके साथ नृत्य और संगीत किया और मेरे पास लगभग पच्चीस रजत एकत्रित हो गए हैं।''

''अब किधर जाने का विचार है?'' नीलाम्बरा ने पूछा।

''मैं लक्ष्यहीन संसार में घूम रही हूँ। जब तक कोई अच्छा मृदंग बजाने वाला नहीं मिल जाता, तब तक ऐसे ही काम चलेगा। इन साधनों के मिल जाने पर मेरा व्यवसाय चल पड़ेगा। तब मैं कौशाम्बी, इन्द्रप्रस्थ, उज्जयिनी अथवा कन्नौज में जाकर कार्य आरम्भ करूँगी।''

गजानन समीप बैठा रुक्मिणी का वृत्तान्त सुन रहा था। उसने कह दिया, ''यही मार्ग है वेश्यावृत्ति की ओर जाने का।''

''तो क्या करूँ? मैं ब्राह्मण-कन्या हूँ। इस परिस्थिति में मुझसे कोई विवाह नहीं करता। इस पर भी पेट तो भरना है। जब मैं नटों के गोल में कार्य करती थी तो एक युवक नट मुझसे विवाह करने की इच्छा करने लगा था, परन्तु मेरा मन नहीं माना। मेरी महत्वाकांक्षा उससे बहुत ऊँची है।''

''तुम एक बात कर सकती हो,'' गजानन ने गम्भीर होकर कहा, ''तुम विरोचन की माँ से बात कर लो। यदि वह स्वीकार करे तो जब तक तुम्हारा विवाह नहीं हो जाता, तुम हमारे परिवार में सम्मिलित हो सकती हो। एक बात तुमको समझ लेनी होगी। तुम्हें सुशील कन्या की भाँति रहना होगा।''

रुक्मिणी इस प्रस्ताव को अपना सौभाग्य मानती थी।

:: 14 ::

ऊदल और नीलाम्बरा को भी रुक्मिणी वारांगल के विरोचन के परिवार में सम्मिलित हो जाने पर भारी प्रसन्नता हुई। विरोचन तो प्रसन्न था ही। उसका कहना था, ''एक बहन घर में रहनी ही चाहिए अन्यथा घर शोभाहीन हो जाता है।''

अगले दिन सब प्रतिष्ठानपुरी की ओर चल पड़े। उनको यह देखकर आश्चर्य हुआ कि सहस्त्रों अन्य लोग भी उधर को ही जा रहे हैं। उनके उस ओर जाने का कारण जानने के लिए विरोचन ने एक से पूछा, ''आर्य! किधर जा रहे हैं?''

''प्रतिष्ठानपुरी को।''

''क्या है वहाँ?''

''हम श्री कुमारिल भट्ट और श्री स्वामी शंकराचार्य जी का शास्त्रार्थ सुनने जा रहे हैं।''

''दोनों आर्य हैं, दोनों वेदमतानुयायी हैं, फिर शास्त्रार्थ किस बात पर है?''

''देखो बालक!'' चलते हुए एक अन्य यात्री ने कह दिया, ''बौद्धमत के ह्रास हो जाने पर वेदमत पुनः प्रचार पा रहा है। इस पर भी जैन, बौद्ध और कुछ विदेशी मतों के प्रभाव में वेदमत वाले अपनी मूर्तियाँ बना बैठे हैं और उनकी पूजा-पाठ करने लगे हैं। अब भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं के पुजारी परस्पर द्वेष और ईर्ष्या करने लगे हैं। यही नहीं, प्रत्येक पुजारी ने अपने-अपने देवता की पूजा का विधान भिन्न-भिन्न बना लिया है। प्रत्येक मत वाला यह देखने लगा है कि उसे तिलक किस ढंग से लगाना है, उसे वस्त्र किस प्रकार के पहनने हैं, उसे व्रत कब रखना है और फिर व्रत को तोड़ने के समय कौन-से मन्त्र पढ़ने हैं? इस प्रकार भिन्न-भिन्न देवताओं के मानने वालों के रहन-सहन में और पूजा-पाठ के ढंग में अन्तर आने पर वेदमतानुयायियों में फूट पड़ गई है।

''ये कर्मकाडी अब भी कह रहे हैं कि तिलक, छाप, धोती, कुरता, पूजा के विधि-विधान इत्यादि बातों में अन्तर पड़ जाने से धर्म भ्रष्ट हो जाता है, पूजा असफल हो जाती है और वेदमत का उल्लंघन हो जाता है। परिणाम यह होने लगा है कि एक प्रकार का तिलक लगाने वाले दूसरे प्रकार से तिलक लगाने वाले को विधर्मी कहने लगे हैं।

''स्वामी जी इन कर्मकांडियों के व्यवहार को धर्म-विपरीत बताते हैं। धर्म यज्ञ करने में है न कि स्रुवा को दाहिने अथवा बाएँ हाथ में पकड़ने में। पूजा भगवान् में चित्त लगाने में होती है न कि शिव-नाम अथवा राम-नाम की ओढ़नी ओढ़ने में।

''जो लोग इन कर्मकाण्डियों से ऊब गए हैं, वे देखना चाहते हैं कि वास्तव में धर्म क्या है? इस कारण सहस्रों लोग इस शास्त्रार्थ को सुनने के लिए प्रतिष्ठानपुरी को जा रहे हैं।''

विरोचन स्थिति के इस विश्लेषण को सुन विवाद का विषय समझ गया। उसको स्मरण हो आया कि एक बार वह विश्वनाथ जी के मंदिर में देवता की प्रदक्षिणा कर रहा था कि वह आधी प्रदक्षिणा कर लौट पड़ा। इस प्रकार उसके दाएँ हाथ के स्थान पर बायाँ हाथ देव-मूर्ति की ओर हो गया। उसी समय सब भक्त और पुजारी उसकी निन्दा करने लगे थे। एक तो उसको पीटने को तैयार हो गया था।

आज इस सह-यात्री की विवेचना सुन, उसको कर्मकाण्डी और वेदान्ती में अन्तर स्पष्ट हो गया। उसने उस यात्री का परिचय प्राप्त करना चाहा। उसने पूछा, "भगवन्! मैं आपका शुभ नाम जान सकता हूँ।"

"मैं पण्डित प्रभाकराचार्य का श्वसुर उदयेश्वर भट्ट हूँ। मैं प्रतिष्ठानपुरी से कुछ अन्तर पर बाकुल गाँव में एक पाठशाला का अध्यापक था। किसी कर्म के विधि-विधान में अतिक्रमण हो जाने पर कर्मकाण्डियों ने मेरा बहिष्कार कर दिया। इन कर्मकाण्डियों का नेता मेरा जमाई प्रभाकराचार्य ही है।

"परिणामस्वरूप मैंने अध्यापन-कार्य तथा पुरोहित का कार्य छोड़ दिया है और कृषि पर निर्वाह करने लगा हूँ। अर्थात् मैं ब्राह्मण वर्ण से पतित होकर वैश्य वर्ण में चला आया हूँ।

"मेरी लड़की जिसका विवाह प्रभाकराचार्य से हुआ था, हमारे परिवार का पतन देख बहुत दुःखी हुई और एक दिन उसने गंगाजी में प्रवाह ले लिया। उस समय पृथ्वीधर, मेरा दोहता अल्पायु का था। इस पर भी उसके मन पर उसकी माँ की मृत्यु का गहरा प्रभाव पड़ा और ज्यों-ज्यों वह सज्ञान होता गया, वह मौन होता गया। प्रभाकर मानता है कि उसको चित्त-भ्रम हो गया है, और अब तो वह विद्यालय के प्रांगण के एक कोने में चुपचाप बैठा रहता है। वहाँ पर उसको भोजन दे दिया जाता है।"

विरोचन इस इतिहास से अत्यन्त दुःख अनुभव करता था। वह समझता था कि काशी में तर्क-प्रधान समाज होने से बहुत-से ऐसे अनाचार होने से रुक जाते हैं। दो दिन की यात्रा पर स्वामी जी प्रतिष्ठानपुरी पहुँच गए। उनके साथ सहस्रों श्रोतागण होने वाले शास्त्रार्थ को सुनने के लिए थे। इस समय तक प्रभाकराचार्य भी अपनी शिष्य-मण्डली के साथ वहाँ पहुँच चुका था। स्वामी जी ने गुरु कुमारिल भट्ट जी का पता किया तो उनको बताया गया कि वे वहाँ से पाँच कोस के अन्तर पर एक आश्रम में रहते हैं। स्वामी जी समय व्यर्थ न गँवाने के विचार से प्रतिष्ठानपुरी में पहुँचते ही, गुरु जी के आश्रम को जाने के लिए तैयार हो गए। अभी स्वामी जी जाने की तैयारी ही कर रहे थे कि एक व्यक्ति आश्रम से दौड़ता हुआ आया और प्रभाकराचार्यजी को एक सन्देश दे गया। वह कह गया कि गुरु कुमारिल भट्ट जी अपने पाप-कर्मों का प्रायश्चित्त करने के लिए धान की भूसी की अग्नि में बैठ, अपना प्राणान्त करने जा रहे हैं।

प्रभाकराचार्य भागा-भागा स्वामी जी के पास आया और उनको चलकर गुरु जी का जीवन बचाने के लिए कहने लगा।

स्वामी जी ने जब यह समाचार सुना तो वे जैसे खड़े थे, वैसे ही आश्रम की ओर चल पड़े।

कुमारिल भट्ट के प्रायश्चित्त की बात सुन सहस्रों लोग, जो वाद-विवाद सुनने आए थे, स्वामी जी के साथ आश्रम को चल पड़े।

सूर्यास्त से एक घड़ी पूर्व ये सब वहाँ पहुँचे। धान की भूसी का ढेर लगा हुआ था। ढेर के सामने कुमारिल भट्ट स्नानादि से निवृत्त हो, श्वेत परिधान में मस्तक, हाथ तथा भुजाओं पर चन्दन-चर्चित, सूर्याभिमुख हाथ जोड़े, आँखें मूँदे खड़े थे। जब स्वामी जी और प्रभाकराचार्य वहाँ पहुँचे तो सब लोग, जो उनके साथ प्रयाग से आए थे, एक चक्राकार पंक्ति में चारों ओर खड़े हो गए। सभी इस भयंकर दृश्य को देखकर रो उठे थे और त्राहि-त्राहि कर रहे थे।

शंकराचार्य और प्रभाकर मिश्र आगे बढ़कर भट्ट जी के सामने खड़े हो गए।

जब भट्ट जी ने आँखें खोलीं तो प्रभाकराचार्य उनके पाँव पकड़ कर रुदन करने लगा।

कुमारिल भट्ट ने उसकी अधीरता देख पूछा, ''क्या हुआ प्रभाकर? क्या मेरी सब शिक्षा भूल गए हो?''

प्रभाकराचार्य का गला रुँध गया और उससे बोला नहीं जाता था। इस पर शंकराचार्य जी ने कहा, ''आर्य! यह क्या कर रहे हैं?''

''अपने पाप-कर्म का प्रायश्चित्त।''

''क्या पाप किया है आपने?''

''आचार्य! यह समय शास्त्रार्थ का नहीं। मेरे पापों का वृत्तान्त आप इन भिक्षुओं से जान जाएँगे। मैंने मन में निश्चय किया है कि सूर्यास्त होते ही मैं यह शरीर छोड़ दूँगा। अब वह देखिए, सूर्य भगवान् क्षितिज को छूने लग गया है। वाद-विवाद प्रभाकराचार्य कर लेगा। मैं आप सबसे विदा माँगता हूँ।'' इतना कह भट्ट जी ने शान्ति पाठ पढ़ा। उन्होंने मन्त्र पढ़ना आरम्भ कर दिया—

''ओं शन्नो वातः पवताꣳ शन्नस्तपतु सूर्य्यः। शन्नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्योऽ अभि वर्षतु। ओं शन्नो देवीरभिष्टयऽआपो भवन्तु पीतये। शँयोरभिस्रवन्तु नः। ओं द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।''

इतना कह वे धान की भूसी की चिता पर चढ़ गए और स्वयं उस पर अग्नि प्रज्वलित कर उसमें समाधि लगा बैठ गए।

दो घड़ी-भर में सबकुछ स्वाहा हो गया। इस समय स्वामी शंकराचार्य जी ने उन भिक्षुओं से पूछा—

'' भन्ते! क्या हुआ था?''

''महाराज! कुछ विशेष बात नहीं हुई। आज हम भट्ट जी से वार्तालाप में

यह पूछ बैठे कि यदि कोई अपने गुरु से छल करे तो उसका क्या दंड? इस पर इन्होंने कहा कि अपने गुरु से छल करने वाले को धान की भूसी की चिता पर जीवित जल जाना चाहिए। इस पर मैंने कहा, 'भट्ट जी आपने भी तो अपने गुरु से छल किया था?''

''इस पर वे गम्भीर हो गए और बोले, 'तुम सत्य कहते हो। मैं आज ही प्रायश्चित्त करूँगा।' इतना कह इन्होंने धान की भूसी का ढेर लगवा लिया और प्रायश्चित्त करने के लिए तैयार हो गए।''

''इन्होंने कब और किस गुरु से छल किया था?''

भिक्षुओं ने बताया, ''पाटलीपुत्र में ये महापण्डित महाप्रभु श्रुत भदन्त से बौद्ध कर्मकांड सीखते रहे थे। वहाँ इनका भेद खुल गया तो ये वहाँ से भाग आए थे।''

स्वामी शंकराचार्य जी ने उन बौद्धों से कहा, ''यहाँ से भाग जाओ, अन्यथा तुम्हारे जीवन का भय है। यदि इनके भक्तों को यह कथा विदित हो गई तो ये तुमको जीवित नहीं छोड़ेंगे।''

बौद्ध-भिक्षु चले गए। प्रभाकराचार्य आदि रात-भर वहीं रहे। अगले दिन प्रातः काल गुरु जी की अस्थियाँ एकत्रित कर गंगाजी में विसर्जन करने के लिए चले गए।

:: 15 ::

कुमारिल भट्ट जी का क्रिया-कर्म हो चुकने तक स्वामी शंकराचार्य जी वहाँ रहे और इन दिनों प्रति सायंकाल जन-साधारण के लिए प्रवचन करते रहे। ये प्रवचन प्रभाकराचार्यजी की पाठशाला के प्रांगण में होते थे। प्रवचनों का विषय प्रायः कर्मकाण्ड होता था। स्वामी शंकराचार्य का मत था कि कर्मकाण्ड उद्देश्य-प्राप्ति के सुगम उपाय को कहते हैं। वे बताते थे कि हवन करते समय स्रुवा दाएँ हाथ में पकड़ना चाहिए। यह इस कारण कि दाएँ हाथ में आहुति देने में सुगमता रहती है। इस पर भी आहुति देना मुख्य है और स्रुवे का दाएँ हाथ में पकड़े जाना गौण है। एक यजमान, जिसका दाहिना हाथ काम नहीं कर सकता और जो बाएँ हाथ से कार्य करता है, वह बाएँ हाथ से ही सुगमता से आहुति दे सकता है। ऐसा करने से आहुति का महत्व कम नहीं हो जाता।

इस प्रकार उदाहरण-पर-उदाहरण दिये जाते रहे। श्रोतागण पर कर्मकाण्डियों के हठ का थोथापन प्रकट होता जाता था। इस सम्बन्ध में एक श्रोतागण ने पूछ लिया, ''गुरु कुमारिल भट्ट के स्वयं को जलाकर भस्म करने के विषय में आपका क्या मत है?''

स्वामी जी का उत्तर था, ''उनका यह कर्म महान् भ्रम के कारण था। वास्तव में भट्ट जी का यह कृत्य उनकी कर्मकाण्डी प्रवृत्ति का अंग ही है। गुरु के प्रति भक्ति, व्यवहार में एक आवश्यक बात है, परन्तु श्रुतभदन्त जी भट्ट जी के गुरु नहीं थे। उनको गुरु-पदवी कभी प्राप्त नहीं थी। अतएव उनके साथ किया हुआ छल गुरु को छलना नहीं था।

''इसके अतिरिक्त यह छलना एक शुभ उद्देश्य के लिए थी। धर्म के विषय में लुकाव-छिपाव करने वाला छली है, न कि उस छलना को प्रकट करने वाला।

''मेरा यह स्पष्ट मत है कि जब मनुष्य वास्तविक तत्त्व की बात को छोड़कर आडम्बर करने का स्वभाव बना लेता है तो ऐसे भ्रम में फँस जाता है, जैसे भ्रम में भट्ट जी फँसे हुए थे।''

पाठशाला के एक कोने में एक युवक, अन्यमनस्क भाव में पड़ा दिखाई देता था। पहले वह दूसरों की बातों को सुनता तो नाक चढ़ाकर मुख मोड़ लिया करता था। कोई उससे इसका कारण पूछता तो वह उत्तर न देने के लिए आँखें मूँद लेता था।

कई वर्ष से उसकी यह अवस्था थी। पहले वह मन्दिर में जा भगवान् के सामने ध्यानावस्थित मुद्रा में बैठा हुआ भी देखा जाता था। वह भोजन के समय घर जाता और भोजन कर लेता था। धीरे-धीरे उसने मन्दिर तथा घर जाना और दूसरों पर नाक चढ़ाना अथवा माथे पर बल लाना भी छोड़ दिया। अब वह विद्यालय के प्रांगण के एक कोने में पड़ा रहता था। घर वाले उसको वहीं भोजन दे जाया करते थे।

वह युवक पृथ्वीधर था। प्रभाकराचार्य ने जब से दूसरा विवाह किया था, उसने घर से पृथकता स्वीकार कर ली थी। प्रभाकराचार्य और प्रतिष्ठानपुरी के अन्य लोग उसको उन्माद रोग में ग्रस्त समझते थे।

जब से स्वामी शंकराचार्य ने विद्यालय में डेरा डाला और सायंकाल के प्रवचन आरम्भ किए, पृथ्वीधर उनके प्रवचनों को सुना करता था। आरम्भ में उसने प्रतिष्ठानपुरी के अन्य रहने वालों की भाँति स्वामी जी को अवहेलना की दृष्टि से देखा, परन्तु यह अवहेलना का भाव कुछ अधिक काल तक नहीं रह सका। एक दिन उसके कान में ये शब्द पड़े कि कर्मकाण्ड साधन है, साध्य नहीं, तो उसके कान खड़े हो गए और वह स्वामी जी के वचनों की ओर कुछ ध्यान देने लगा।

ज्यों-ज्यों वह स्वामी जी के प्रवचन सुनता गया, उसकी रुचि बढ़ती गई। अब वह अपने स्थान से उठकर स्वामी जी के सामने आ बैठता और ध्यानपूर्वक उनकी बात सुनता।

प्रवचनों के प्रभाव की पराकाष्ठा उस दिन हुई, जिस दिन स्वामी जी ने कुमारिल भट्ट के प्रायश्चित्त पर अपना प्रवचन दिया। जब स्वामी जी कह रहे थे कि भट्टजी जैसी भूल वह व्यक्ति ही कर सकता है, जो तत्त्व की बात छोड़कर आडम्बर में रत हो जाता है, तब पृथ्वीधर की आँखों में आँसू छलकने लगे थे। इन आँसुओं को स्वामी जी ने देखा और अन्य श्रोतागणों ने भी इसका अनुभव किया। उस दिन विरोचन भी उसके समीप बैठा उसकी आँखों से आँसुओं की अविरल धारा बहती हुई देख रहा था।

स्वामी जी का प्रवचन समाप्त हुआ। स्वामी जी अपने आगार में गए तो श्रोतागण भी उठ खड़े हुए। विरोचन ने उठते हुए पृथ्वीधर से पूछा, "क्या नाम है आपका?"

पृथ्वीधर ने उत्तर नहीं दिया और स्वामी जी के पीछे-पीछे उनके आगार की ओर चल पड़ा। इस पर विरोचन ने एक अन्य से पूछ लिया, "यह कौन है?"

"आप नहीं जानते?"

"नहीं; मैं परदेशी हूँ।"

"यह प्रभाकराचार्यजी का पागल पुत्र है। यह अपने-आप कभी रोता है, कभी चुप हो जाता है।"

विरोचन को उदयेश्वर भट्ट की बात स्मरण हो आई। उसने बताया था कि लड़के को अपनी माँ की आत्म-हत्या का भारी शोक हुआ था और इसी से उसके चित्त में विभ्रम हो गया है। विरोचन ने पृथ्वीधर को आचार्य जी के पीछे-पीछे जाते देखा। इस कारण वह उसके विषय में और अधिक जानने की इच्छा से उधर ही चल पड़ा।

आज स्वामी जी के आगार में प्रभाकराचार्य, गजानन मिश्र, सुरेश्वर भट्ट तथा कई अन्य विद्वान् बैठे थे।

कुमारिल भट्ट जी का क्रियाकर्म हो चुका था और प्रभाकराचार्य उससे निवृत्त हो, स्वामी शंकराचार्य से शास्त्रार्थ के लिए उत्सुक था। आज स्वामी जी के कुमारिल भट्ट जी विषयक वक्तव्य पर प्रभाकराचार्य ने इस शास्त्रार्थ को और अधिक दिन तक स्थगित करना उचित नहीं समझा। अतः वह स्वामी जी से बात करने के लिए उनके आगार में आ गया था। एक बात प्रभाकराचार्य जान गया था कि स्वामी शंकराचार्य जी का वाणी पर पूर्ण अधिकार है और वे ऐसे ढंग से बात करते हैं कि सर्वसाधारण लोग उन पर मोहित हो जाते हैं। इस कारण आचार्य उनसे केवल विद्वानों की मंडली के समक्ष ही बातचीत करना चाहता था। वह सर्वसाधारण को अपने शास्त्रार्थ का मध्यस्थ नहीं बनाना चाहता था।

जब स्वामी जी वहाँ आए तो पृथ्वीधर भी उनके पीछे-पीछे उसी आगार में आ पहुँचा। इस पर प्रभाकराचार्य ने लड़के को डाँटकर कहा, "तुम यहाँ क्यों आए हो? जाओ अपने स्थान पर बैठो।"

इस पर पृथ्वीधर अति दयनीय दृष्टि से स्वामी जी की ओर देखने लगा। विरोचन भी उसके पीछे-पीछे आगार में आ पहुँचा था। उसने प्रभाकराचार्य की डाँट सुन ली थी। वह चाहता था कि प्रभाकराचार्य से कुछ निवेदन करे, परन्तु स्वामी जी ने उसके कहने से पहले ही आदेश दे दिया। उन्होंने पृथ्वीधर की ओर देखकर कहा, "बालक! इधर आओ। हमारे समीप बैठो।"

"महाराज! यह पागल है।"

"सो मैं भी हूँ। आओ बालक! मेरे पास आ जाओ। दो पागल इकट्ठे बैठेंगे।"

इससे बात समाप्त हो गई। पृथ्वीधर आगे बढ़कर स्वामी जी के निकट बैठ गया। विरोचन आगार के द्वार के समीप खड़ा रहा। इस घटना से वह अति प्रभावित हुआ था।

प्रभाकराचार्य ने स्वामी जी के सामने गुरु कुमारिल भट्टजी के प्रायश्चित की निन्दा की बात चला दी। प्रभाकराचार्य ने कहा, "महाराज! एक हुतात्मा की आपने निन्दा कर दी है। यह ठीक नहीं हुआ।"

"निन्दा उस वक्तव्य को कहते हैं, जो द्वेषवश किसी स्वार्थ-सिद्धि के लिए दिया गया हो। हमारा भट्टजी से किसी प्रकार का द्वेष नहीं था, न उस कथन के कहने से हमारी किसी प्रकार की स्वार्थसिद्धि हो सकती है।

"हमने एक सिद्धान्तात्मक बात की है। उस कर्म को कर्मकाण्ड कहना ही नहीं चाहिए, जिससे कर्म के उद्देश्य की हानि होने लगे।

"यह प्रायश्चित्त ऐसा ही कर्म है, जिससे उस उद्देश्य को हानि पहुँची है, जिसके लिए यह किया गया था।

"इस प्रायश्चित्त का उद्देश्य यह था कि भट्टजी के मन से आत्मग्लानि दूर हो। आत्मग्लानि किसी भ्रम के कारण थी। वे श्रुतभदन्त को अपना गुरु मानते थे। वास्तव में वह उनका गुरु नहीं था। वह उनका प्रतिद्वन्द्वी था, जो उनसे कुछ छिपाकर रखे हुए था। प्रतिद्वन्द्वी के भेद को जानने के लिए जो छल-कपट किया जाए, वह नीति है। इससे न भदन्तजी गुरु हो गए और न भट्टजी उनके शिष्य।

"हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि भदन्तजी को गुरु मानना भ्रम था। इस भ्रममूलक विचार से उत्पन्न ग्लानि भी भ्रम थी। अत: भ्रम में किया गया कर्म कैसे उद्देश्य की पूर्ति के लिए ठीक हो सकता है? ऐसा कर्म कभी फलदायक नहीं होगा।"

"आत्मग्लानि विवाद का विषय नहीं। यह मन की भावना है। भावना से प्रेरित कर्म फलदायक होता है।"

शंकराचार्य का कहना था, "भावना भ्रममूलक नहीं हो सकती क्या? एक मनुष्य गाय में बकरी की भावना कर ले और काली के सम्मुख उसकी बलि चढ़ा दे तो क्या गौ-हत्या नहीं होगी?"

प्रभाकराचार्य इससे निरुत्तर हो गए। इस पर भी उनका मन अभी माना नहीं था। उन्होंने कह दिया, "बलि चढ़ाने वाले के मन में जब तक यह विश्वास है कि यह बकरा है और गाय नहीं, तब तक इस बलि का फल वही होगा, जैसा उसका विश्वास है।"

"देखिए आचार्य जी! किसी पुजारी के घर में एक बकरा है और एक गाय। वह ब्रह्म मुहूर्त में, भ्रम में गाय खोलकर ले जाए और उसकी बलि चढ़ा दे, तो क्या उसके घर में एक गाय कम नहीं हो जाएगी? क्या उस गाय से मिलने वाला दूध इत्यादि बकरे से मिलने लगेगा? क्या गो-हत्या से होने वाली हानि केवल भावना से मिट जाएगी?"

इस समय प्रभाकराचार्यजी ने बात बदल दी। उन्होंने पूछा, "आप कर्मकाण्ड को आडम्बर मात्र समझते हैं क्या?"

"जब कर्मकाण्ड उद्देश्य-पूर्ति का विचार छोड़कर स्वतः करने योग्य कार्य बन जाता है, तब यह आडम्बर हो जाता है।

"देखिए पूर्व मीमांसा में क्या कहा है—

'द्रव्य संस्कार कर्मसु परार्थत्वात्फल श्रुतिरर्थवादः स्यात्।'

"अर्थात् द्रव्य तथा उनका संस्कार कर्म और तदन्तर उस संस्कारित द्रव्य का प्रयोग ही यज्ञ अर्थात् कर्म सिद्धि वाला होता है।"

"यज्ञ के क्या अर्थ हैं?"

'यज्ञोऽपि तस्मै जनतायै कल्पते यत्रैवं विद्वान् होता भवति।'

"जिससे मनुष्य-मात्र का कल्याण हो, वह यज्ञकर्म है। अब बताइए कि जिन द्रव्यों से अथवा द्रव्यों के जिन संस्कारों से मानव कल्याण नहीं होता, उनसे किया यज्ञ किस प्रकार सफल होगा? वह पूर्ण कर्म निष्फल नहीं होगा क्या?

"अतः कर्म वही है जिससे कर्म के उद्देश्य की पूर्ति हो। उस प्रकार किया गया कर्म ही कर्मकाण्ड हो सकता है।

"मान लीजिए पलाश की लकड़ी से होम होना चाहिए। यदि पलाश का वृक्ष किसी दुर्गन्धियुक्त स्थान पर लगा हो, तो उस वृक्ष की लकड़ी पलाश की होने पर भी सुगन्धि नहीं देगी। दुर्गन्धि देने से वह होम के पूर्ण उद्देश्य को ही नष्ट कर देगी।

"अतः कर्मकाण्ड का निश्चय करते समय उद्देश्य को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता।"

:: 16 ::

यह वाद-विवाद कई दिन तक चलता रहा। विद्वान्-मंडली इस विवाद को सुनती रही। गजानन इत्यादि काशी के विद्वान् भी इस विवाद को सुन रहे थे। पृथ्वीधर पूर्ण विवाद में स्वामी शंकराचार्य जी के पीछे बैठा, प्रत्येक तर्क-वितर्क को ध्यानपूर्वक सुन रहा था। अन्त में प्रभाकराचार्य को मानना पड़ा कि कर्मकाण्ड केवल साधन है। साध्य पवित्र वस्तु है। साध्य की उपलब्धि ही मुख्य बात है।

प्रभाकराचार्य, जब सर्वथा निरुत्तर हो गया तो वह उठकर स्वामी जी के चरणस्पर्श कर, उनको गुरु मान, उनके सम्मुख दक्षिणा रख आशीर्वाद माँगने लगा।

स्वामी जी ने आशीर्वाद दिया तो पृथ्वीधर अपने स्थान से उठ, स्वामी जी के चरण-स्पर्श कर कहने लगा, "भगवान्! एक मेरा भी निवेदन है।"

सब लोग पृथ्वीधर को बोलते देख विस्मय करने लगे। कई वर्ष से उसने अपने मुख से एक शब्द भी नहीं कहा था। प्रभाकराचार्य तो समझ रहा था कि उसका पुत्र कुछ अनर्गल बात करने वाला है। इस कारण हाथ उठाकर उसको कहने से रोक ही रहा था कि स्वामी जी ने हाथ के संकेत से प्रभाकराचार्य को चुप करा पृथ्वीधर से कहा, "हाँ, कहो क्या चाहते हो?"

"महाराज! यहाँ से कुछ अन्तर पर बकुल नामी एक गाँव में एक उदयेश्वर भट्ट रहते हैं। किसी समय उन्होंने एक विद्वान् शूद्र को बिना यज्ञोपवीत दिये वेद-मन्त्र का उपदेश दिया था। इस कर्म को यहाँ के कर्मकाण्डी-समाज ने अत्यन्त निन्दनीय समझा और उनका बहिष्कार कर दिया। परिणाम यह हुआ कि उदयेश्वर भट्ट जी की पाठशाला विद्यार्थी-शून्य हो गई। उनके यजमानों ने उनको संस्कारों पर बुलाना 'छोड़ दिया और उनको दान-दक्षिणा देनी बन्द कर दी। परिणामस्वरूप उदयेश्वर भट्ट जी ब्राह्मण-कर्म छोड़ कृषि कार्य करने लगे। उनका वर्ण बदल गया और वे विद्वान् होते हुए भी पतित होकर वैश्य हो गए।

"आप इसको क्या समझते हैं? क्या वास्तव में उदयेश्वर भट्ट अपराधी थे और इस दण्ड के भागी थे, जो उनको मिला?"

"वह शूद्र क्या पढ़ा था?" स्वामी जी ने पूछा।

"वह नालन्दा के राजकीय विद्यालय का स्नातक था। उसने जैन-धर्म वैदिक-धर्म का तुलनात्मक अध्ययन किया था। उदयेश्वर भट्ट जी ने उस शूद्र को कहा था कि उसको वेद के अर्थ बताने में भूल की गई है। इसी से वह दोनों धर्मों में ठीक तुलना नहीं कर सका।

''इस पर जब शूद्र ने कहा कि यदि उसने वेद गलत पढ़े हैं तो उसको ठीक अर्थ बताये जाएँ। तब उदयेश्वर भट्ट विवश हो गए और उस विद्वान्-शूद्र को पढ़ाने लगे।

''यह देख यहाँ के कर्मकाण्डियों ने उदयेश्वर भट्ट जी की निन्दा आरम्भ कर दी। इस पर भी वे उस शूद्र को पढ़ाते रहे। यह क्रम तीन वर्ष तक चलता रहा। इस काल में उदयेश्वर जी निर्धन हो गए। उनका ब्राह्मणत्व छिन गया।''

''और उस शूद्र का क्या हुआ?''

''वह वैष्णव हो गया अर्थात् परमात्मा के अस्तित्व को मान, अपने देश सिंहल द्वीप को चला गया।''

शंकराचार्य जी से कर्मकांडियों के इस कृत्य पर व्यवस्था माँगी गई तो वे गम्भीर हो गए। कुछ काल तक विचार कर उन्होंने कहा, ''पण्डित उदयेश्वर भट्ट ने कुछ भी अनुचित नहीं किया। भगवती श्रुति में किसी पर भी, उसके सुनने, समझने और उस पर विचार करने पर प्रतिबन्ध नहीं है। यजुर्वेद में तो स्पष्ट लिखा है—

'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानी जनेभ्यः
ब्रह्म राजन्याभ्यां शूद्राय च स्वाय चारणाय।'

''ऐसी अवस्था में उदयेश्वर भट्ट ने कोई पाप नहीं किया। इसके अतिरिक्त भट्ट जी ने एक पुण्य का कार्य किया है। वेदों पर श्रद्धाहीन एक व्यक्ति को श्रद्धायुक्त बना दिया है।''

''तो महाराज!'' पृथ्वीधर का निवेदन था, 'उस ब्राह्मण का उद्धार करिए।''

''कहाँ हैं उदयेश्वर जी।''

''वे अपने गाँव में वैश्य-वृत्ति कर रहे हैं।''

''तो हम कल उनके गाँव में चलेंगे और उनका उद्धार करेंगे।''

उसी सायंकाल सर्वसाधारण जनता में प्रवचन के समय तक यह समाचार विख्यात् हो चुका था कि प्रभाकराचार्य स्वामी जी महाराज के तर्क का उत्तर नहीं दे सके और वे अपनी पराजय स्वीकार कर चुके हैं। साथ ही यह कि स्वामी जी उदयेश्वर भट्ट को किसी प्रकार भी दोषी नहीं मानते और उसका उद्धार करने उसके गाँव में जा रहे हैं। इन समाचारों से श्रोतागणों की संख्या कई गुना बढ़ गई। आस-पड़ोस के गाँवों में से भी सहस्त्रों की संख्या में लोग आज स्वामी जी का प्रवचन सुनने के लिए आए थे। अधिकांश श्रोतागण अगले दिन स्वामी जी के साथ उदयेश्वर भट्टजी का उद्धार होता देखने के लिए जाने का विचार रखते थे।

लोग यह समझ रहे थे कि प्रभाकराचार्य आज सभा में नहीं आएँगे। जिस अभिमान से वे अपने शिष्यों के साथ स्वामी जी के बराबर आसन लगाकर बैठा करते थे, उससे लज्जित हो वे आज अनुपस्थित रहेंगे। परन्तु हुआ इसके विपरीत। आज सभा आरम्भ होने से पूर्व ही आचार्य अपने सब शिष्यों के साथ सर्वसाधारण जनता में जाकर बैठ गए। जब स्वामी जी सभा में पधारे और उन्होंने आचार्य जी को भूमि पर जनसाधारण में बैठे देखा तो स्वयं उनके पास पहुँच, उनको दोनों बाँहों से पकड़कर आदर सहित अपने पास लाकर बैठा लिया।

स्वामी जी के इस विनय और सहृदयता को देख सब लोग साधु साधु!! कहकर प्रशंसा करने लगे। प्रभाकराचार्य ने स्वामी जी के प्रवचन से पूर्व कहना आरम्भ कर दिया। उन्होंने कहा, ''सभ्य गण! आपको यह विदित है कि कई दिन से मैं स्वामी जी के साथ शास्त्र-चर्चा कर रहा था। इस चर्चा के अनन्तर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि कर्मकाण्ड अर्थात् कार्य का विधि-विधान अत्यावश्यक होते हुए भी, जिस उद्देश्य से वह सबकुछ किया जाता है उस उद्देश्य से अधिक महत्व नहीं रखता। यदि परिस्थिति विशेष में, किसी विधि के पालन से उद्देश्य-पूर्ति में बाधा उपस्थित हो जाए, तो वह विधि त्याज्य है।

''स्वामी जी महाराज ने उदयेश्वर भट्टजी के उदाहरण से बात सर्वथा स्पष्ट कर दी। वेद शूद्र न पढ़ें, ऐसी व्यवस्था इस कारण थी कि अनधिकारी को वेद-जैसी गूढ़ तत्त्व की बात पढ़ने के लिए देना, वेद के साथ हँसी करने के तुल्य होगा। परन्तु उदयेश्वर भट्ट जी ने जिस शूद्र को वेद पढ़ाया था, वह अनधिकारी नहीं था। यदि अनधिकारी होता तो वह उदयेश्वर जी की वेद-व्याख्या को समझ न सकता। वेदों के समझाने से पूर्व भी उसमें योग्यता थी। अतः उसको वेद न पढ़ाने से वेद की रक्षा के उद्देश्य को हानि ही पहुँचती। अब वेद की रक्षा हुई है। अतः उदयेश्वर जी से किसी भी विधि-विधान के विरोध की बात तो दूर रही, उनसे वेद की रक्षा होने से उद्देश्य की पूर्ति हुई है।''

प्रभाकराचार्य ने अपनी भूल स्वीकार की और स्वामी जी ने उठकर आचार्य जी को गले लगा लिया और श्रोतागणों को कहा, ''आचार्य जी को क्षमा माँगने की आवश्यकता नहीं। उन्होंने किसी प्रकार का अपराध नहीं किया। वे एक बात को एक ढंग से समझते थे। मैंने उनको वही बात एक दूसरे ढंग से समझा दी है। वे समझ गए हैं और उन्होंने यह भी मान लिया है कि उनका पहला मत भ्रममूलक था।

''विद्वानों का किसी भी विषय पर मतभेद होना साधारण-सी बात है और उस मतभेद के निवारण के लिए परस्पर विचार-विनिमय ही एक साधन है। सो हमने किया है। इसमें मेरी बात ठीक रही अथवा आचार्य जी की, यह कोई महत्व

का विषय नहीं। आचार्य जी भारत की एक विभूति हैं। उनकी योग्यता और विद्वत्ता पूर्ण देश में विख्यात है। पूर्ण देश उनको आदर की दृष्टि से देखता है। अत: मैं उनका सम्मान करता हूँ।

"इसके साथ ही उदयेश्वर जी के सम्बन्ध में मेरा कथन है कि उनका किसी से द्वेष नहीं। एक सिद्धान्त के विषय में मतभेद था और वह मतभेद निवारण होने पर यह स्वाभाविक है कि उनको पुन: अपने पद पर आसीन किया जाए। मैं उनको आशीर्वाद देने के लिए उनके गाँव जा रहा हूँ और समाज की ओर से, जिसने भूल से उनके साथ अन्याय किया था, क्षमा माँग उनको अपने पैतृक कार्य करने की स्वीकृति देना चाहता हूँ।"

इस पर पुन: साधु! साधु!! का घोष होने लगा।

अगले दिन श्री स्वामी जी, प्रभाकराचार्य, प्रतिष्ठानपुरी के सहस्रों निवासी और जो लोग बाहर से आए थे, पैदल बकुल गाँव में गए और पण्डित उदयेश्वर भट्ट को पुष्प मालाओं से सुशोभित कर उनकी पाठशाला में बैठा दिया।

प्रतिष्ठानपुरी लौटने के बाद पृथ्वीधर ने स्वामी जी से संन्यास-धर्म की दीक्षा माँगी। स्वामी जी ने उसकी विशेष परिस्थिति जानकर, उसे दीक्षा देना स्वीकार कर लिया और वह कषाय वस्त्र पहन स्वामी जी के साथ चलने को तैयार हो गया। संन्यास आश्रम में उसका नाम हस्तामलक रखा गया।

तीन

चिदम्बरम् में नटराज का अति पुराना मन्दिर है। पूर्ण मन्दिर के बनने से भी पहले इसकी स्थापना हो चुकी थी। बाद में जब शिव की उपासना का प्रचार बढ़ने लगा और इसके साथ इस मन्दिर में यात्रियों की भीड़ अधिक होने लगी तो इसका विस्तार होने लगा। दक्षिण द्वार के पास गणेशजी की मूर्ति बन गई। गोपुर के सामने नन्दी की एक विशाल मूर्ति प्रतिष्ठित हो गई।

नटराज की मूर्ति, जो पहले काले पत्थर की बनी थी, इस समय स्वर्ण की बन गई। नटराज के सभा-मण्डप के आगे जाकर आकाश-तत्त्वलिंग की स्थापना हो गई। यह शिवलिंग नीलमणि का बना है।

नटराज के सभा-मण्डप में देवदासियों के तथा अन्य कलाकारों के नृत्य और संगीत होने लगे। इस कथा-काल के समय, सभा-मण्डप के पुजारी एक रमणाचार्य थे। वे स्वयं नृत्य-कला में अति निपुण थे। पूर्व-दक्षिण भारत में उनके शिष्य फैले हुए थे और रमणाचार्य का नाम सब स्थानों में नृत्य-कला की पूर्णता का द्योतक था।

रमणाचार्य गृहस्थ थे। उनकी पत्नी का नाम राधिका था। राधिका से उनके दो पुत्र थे। एक का नाम था माधव और दूसरे का गोविन्द। माधव वीणावादन में निपुण था, गोविन्द संगीत का अभ्यास करता था। माधव निपुणता प्राप्त कर मन्दिर में होने वाले संगीत तथा नृत्य समारोह में संगत देता था। गोविन्द अपने संगीत से नृत्य में अर्थ भरता था। आचार्य ने उसको अभी निपुणता का प्रमाण-पत्र नहीं दिया था। माधव का विवाह हो चुका था, परन्तु गोविन्द अभी अविवाहित था।

गोविन्द अभी अल्पायु ही था कि वह मन्दिर में जाने लगा। एक दिन एक लड़की, जो पाँच वर्ष की आयु की प्रतीत होती थी, मन्दिर में दासी के रूप में अर्पित कर दी गई। लड़की अति सुन्दर और गौरवर्ण थी। इसके अतिरिक्त लड़की गोपीवल्लभ गोविन्द के गीत अति मधुर स्वर में गाती थी।

लड़की की माँ ने लड़की को आचार्य जी की संरक्षा में देते हुए कहा था, "भगवन्! इतनी सुन्दर लड़की की रक्षा और लालन-पालन करने में भगवान्

कैलाशपति ही समर्थ हो सकते हैं। मैंने इस लड़की को जन्म तो दिया है, परन्तु विधवा हो जाने के कारण इसकी रक्षा करने में अपने को असमर्थ पाती हूँ। तो इसको भगवान् की सेवा के लिए रख लीजिए।''

इस प्रकार वह लड़की देवता को अर्पण कर दी गई। लड़की का नाम रुक्मिणी था और वह वारांगल की रहने वाली थी। जब लड़की भगवान् के अर्पण की जा रही थी, तब गोविन्द अपने पिता के पास बैठा इस लड़की को ध्यान से देख रहा था। उस समय गोविन्द की आयु दस वर्ष की थी और वह लड़की के सौन्दर्य से अति प्रभावित हुआ था। उस समय आचार्य ने लड़की से पूछा था, ''कुछ गा सकती हो?''

''हाँ, गुरु जी!''

''एक गीत सुनाओ।''

लड़की ने अपनी तेलुगु भाषा में गोविन्द की भक्ति का एक गीत गा दिया। उस गीत का आशय था—

''हे ग्वाल-बालों के सखा! तुम वृन्दावन में विहार करते हुए बाँसुरी क्यों बजाते हो? तुम्हारे साथी तो इस कला से सर्वथा अनभिज्ञ हैं।

''हे मुकुटविहारी तुमको विदित नहीं क्या कि तुम्हारी बाँसुरी की मधुर ध्वनि हम वृन्दावन की ललनाओं के मन में क्या ऊधम मचा देती है?

''हे यशोदानन्दन! तुम्हारी माँ तुमको बाँधकर क्यों नहीं रखती, जिससे तुम पूर्ण चन्द्र की चाँदनी में वन-विहार करने न निकल सको? तुम्हारी बाँसुरी की ध्वनि जब वन को गुँजाती हुई, हमारे कानों में पहुँचती है, तो हम सो नहीं सकतीं।

''हे काली मर्दन करने वाले वृन्दावन-विहारी! तुम इतने शौर्यवान होते हुए भी हम दुर्बल ललनाओं के हृदयों को मर्दन करने में क्यों आनन्द पाते हो? तुम क्यों अपनी बाँसुरी की मधुर गुँजार करते हो? हम इसको सुन व्याकुल हो उठती हैं, इस पर भी साहस नहीं रखतीं कि इस रात के समय अपनी शय्या छोड़ तुम्हारे पीछे चली आवें।

''हे राधारमण! धन्य है वृषभानदुलारी, जो निधड़क, निस्संकोच, प्रेम डोर से बँधी हुई तुम्हारी खोज में निकल पड़ती है।

''राधा मिल गई होगी। अब यह गुँजार बन्द कर दो।''

आचार्य अभी इस बालिका के मधुर स्वर के विषय में विचार ही कर रहा था कि गोविन्द बोल उठा, ''अति सुन्दर। अति सुन्दर! देवी! बहुत मधुर गाती हो।''

आचार्य ने गोविन्द की आँखों की ओर देखा, जो रुक्मिणी के मुख पर

लगी थीं। गोविन्द की आँखों में रुक्मिणी के लिए प्रशंसा भरी देख आचार्य जी ने यह कह दिया, ''गोविन्द! क्यों समय गँवा रहे हो? जाओ, पाठ स्मरण करो।''

गोविन्द उठकर अपने घर को चला गया और 'लघु कौमुदी' कंठस्थ करने में लग गया। रुक्मिणी देवदासी बना ली गई और आचार्य की धर्मपत्नी राधिका के संरक्षण में दे दी गई। अन्य देवदासियाँ भी उसी के संरक्षण में रखी जाती थीं।

उसी रात सोने से पूर्व आचार्य ने गोविन्द को बुलाकर एक लम्बा-चौड़ा उपदेश दे दिया। उसने कहा, ''देखो गोविन्द! मैं इस मन्दिर का पुजारी हूँ। यह धर्म-स्थान है। यहाँ वर्ष में सहस्त्रों नर-नारी, बालक-बालिकाएँ आती हैं। यहाँ यात्री लोग सहस्त्रों स्वर्ण चढ़ावा चढ़ाते हैं। यदि मैं यहाँ आने वाली स्त्रियों पर कुदृष्टि डालने लगूँ अथवा यहाँ पर चढ़ाए गए धन पर मन ललचाऊँ, तो महापातकी बन, सात जन्म तक घोर यंत्रणा के लिए नरक में डाल दिया जाऊँगा। मैं इन देवदासियों का पिता हूँ। ये भगवान् की दासियाँ हैं। मैं इन पर कुदृष्टि करूँ तो अपनी लड़की पर कुदृष्टि करने के पाप का भागी हूँगा।

''अतएव समझ लो हमारा कितना उत्तरदायित्व है।''

''पर पिता जी! यह सब मुझको बताने का क्या अर्थ है?''

''जब आज नवीन आई देवदासी पर तुम्हारी दृष्टि पड़ी थी, तो तुम्हारा उससे मोह हो गया प्रतीत होता था। इस कारण तुमको अभी से सचेत कर देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। ये सब तुम्हारी बहनें हैं, जो देवता की सेवा करने के लिए नियुक्त हैं।''

इस उपदेश के होने पर भी, जो भावना गोविन्द के मन में बनी थी, वह धीरे-धीरे जड़ पकड़ती गई और गोविन्द बीस वर्ष थी आयु का हो गया तो उसकी भावना उसके लिए एक प्रगाढ़ प्रेम का रूप धारण कर चुकी थी। इस पर भी अपने पिता की मान-प्रतिष्ठा के लिए, अपने धर्म के प्रति भावना के अधीन और देवता के कोप से भयभीत हो, वह न तो अपने मन की इस भावना को किसी से कह सका और न कभी रुक्मिणी वारांगल के सामने प्रकट कर सका।

जब गोविन्द के विवाह पर विचार होने लगा और उसको पता चला तो वह अपनी माँ के पास पहुँचा और कहने लगा, ''माँ! मेरे विवाह का प्रबंध कर रही हो?''

''हाँ, बेटा! अब तुम बीस वर्ष की आयु के हो गए हो। माधव के घर तो एक लड़का हो चुका है।''

''पर माँ! मैं विवाह नहीं करूँगा।''

''क्यों?''

"माँ! इसका उत्तर मेरे पास नहीं है। इस पर भी मैं यह कहना चाहता हूँ कि यदि विवाह की योजना आगे चलाई गई तो मैं घर से भाग जाऊँगा और पुनः यहाँ लौट कर नहीं आऊँगा।"

इसके बाद यह घर छोड़, दिन-रात मन्दिर की सेवा में रहने लगा। रमणाचार्य को जब अपने लड़के के इस निश्चय का पता चला तो वह चिन्तित हो, उसको बुलाकर पूछने लगा, "गोविन्द! विवाह से अरुचि क्यों है?"

"इसका कुछ कारण है ही पिता जी! परन्तु वह कारण मैं किसी को बताना नहीं चाहता। मेरा विवाह इस जन्म में नहीं होगा।"

"इसका अर्थ है कि तुमने किसी से विवाह करने का निश्चय कर रखा है और तुमको विश्वास है कि वह विवाह हो नहीं सकता। ठीक है न?"

"नहीं, यह बात नहीं पिता जी! यह इस प्रकार नहीं। इसको ऐसा कहा जा सकता है कि मैं किसी से विवाह करना चाहता हूँ और उसका विवाह पहले ही हो चुका है।"

आचार्य के लिए यह एक पहेली थी। विवाह का विचार छोड़ दिया गया और आचार्य तथा राधिका देवी यह जानने का यत्न करने लगे कि वह कौन है, जिसका विवाह हो चुका है परन्तु उनके लड़के को प्रिय है।

इस प्रकार दिन व्यतीत हो गए। गोविन्द पच्चीस वर्ष की आयु का हो गया। उस समय रुक्मिणी बीस वर्ष की थी।

चिदम्बरम् के मन्दिर की देवदासियाँ कीर्तन इत्यादि करने के लिए दक्षिण के अन्य नगरों में जाया करती थीं। इस वर्ष माधव और नारायण की देख-रेख में दस देवदासियों की एक मंडली पूर्वी और उत्तरी भारत के मन्दिरों का भ्रमण करने के लिए भेजी गई थी। इसमें प्रयोजन यह था कि पूर्वी भारत के मन्दिरों में भी देवदासियों तथा उनके कीर्तन की प्रथा को चलन दिया जाए।

इस मंडली में चिदम्बरम् के मन्दिर की सर्वश्रेष्ठ नर्तकी नीलाम्बरा और गायिकाओं में सर्वश्रेष्ठ रुक्मिणी वारांगल थी। इस मंडली को चिदम्बरम् से गए हुए पाँच मास ही हुए थे कि दस में से आठ देवदासियाँ नारायण के संरक्षण में लौट आईं। माधव, रुक्मिणी तथा नीलाम्बरा के न लौटने पर रमणाचार्य को अति विस्मय और दुःख हुआ। नारायण ने दोनों देवदासियों के काशी में रह जाने और माधव के नगरपालक की आज्ञा का उल्लंघन करने की कथा सुना दी। इस कथा से जहाँ राधिकादेवी को माधव के बन्दी बनाए जाने का दुःख हुआ, वहाँ रमणाचार्य को दासी-प्रथा के विषय में एक नवीन व्यवस्था दिये जाने पर क्रोध चढ़ आया।

नारायण ने बताया, "गुरुदेव! मैं काशी में जाकर माधव को छुड़ाने का

यत्न करना चाहता था, परन्तु यह विचार कर कि वहाँ के वातावरण में कहीं अन्य देवदासियाँ भी स्वतन्त्र रहने की इच्छा करने लगीं तो मैं कुछ न कर सकूँगा। यह विचार कर मैं लौट आया हूँ।''

इस कथा को सुन श्री रमणाचार्य ने स्वयं काशी की यात्रा करने का निश्चय कर लिया। वह यात्रा की तैयारी में लग गया। जाने की तिथि भी निश्चित हो गई।

:: 2 ::

परन्तु आचार्य के यात्रा पर जाने से पूर्व ही माधव लौट आया। उसने वहाँ पहुँचकर व्यवस्था देने वाले का परिचय दिया। उस समय तक स्वामी शंकराचार्य की ख्याति दक्षिण तक फैल चुकी थी। स्वामी जी की पंचायतन की पूजा और कर्मकाण्ड को उद्देश्य से गौण बताने की बात की चर्चा सर्वत्र होने लगी थी।

माधव से उस सभा का, जिसमें व्यवस्था दी गई थी, पूर्ण विवरण जान आचार्य चकित रह गए। इसका अर्थ यह था कि देवदासियाँ विवाह कर गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट हो सकती हैं। आचार्य को यह बात बिल्कुल नहीं सुहाई। गोविन्द भी माधव से बताया गया विवरण सुन रहा था। उसके पिता ने कहा, ''यह बात धर्म-विपरीत हो गई है। हमको इसका विरोध करना चाहिए।''

इस कथन पर गोविन्द ने पूछ लिया, ''पिता जी! इसमें धर्म के विपरीत क्या है ? जब देवता की पूजा करने वाला पुजारी गृहस्थी बन कार्य कर सकता है, तो देवदासी वैसा क्यों नहीं कर सकती ?''

''इसलिए कि वह दासी है, पुजारिन नहीं।''

''परन्तु उसका कार्य वही है, जो पुजारी का है। एक मन्त्र उच्चारण कर देवता का पूजन करता है, दूसरा नृत्य-संगीत द्वारा।''

''नहीं गोविन्द! तुम नहीं समझ सकोगे।''

इस पर माधव ने कहा, ''पिता जी! उस सभा में काशी के सब धर्माचार्य उपस्थित थे और उनमें से एक भी देवदासियों को देवताओं के समर्पण किए जाने की व्यवस्था धर्म शास्त्र में से नहीं निकाल सका।''

स्वामी शंकराचार्य पुस्तकों में धर्म ढूँढ़ता प्रतीत होता है। वास्तव में धर्म रीति-रिवाज को कहते हैं और यह देश-काल के अनुकूल परिवर्तनशील है।''

इस पर गोविन्द ने कहा, ''तभी रुक्मिणी ने चिदम्बरम् को लौटने से इन्कार कर दिया है। भैया ने बताया है न कि उसने नगरपालक के सम्मुख कहा था कि वह माधव के साथ यहाँ नहीं आना चाहती। यहाँ आने पर उसकी स्वतन्त्रता छिन जाएगी।''

माधव ने एक और दृष्टिकोण अपने पिता के सम्मुख रख दिया। उसने बताया, "मैं वहाँ राजपुरोहित गजानन मिश्र से मिला था। उसने मुझको बताया था कि अभी तक प्रथा यह रही है कि काशी में दी गई धर्म-व्यवस्था सम्पूर्ण भारत में मान्य होती है।"

"नहीं, बौद्धों तथा जैनियों से प्रभावित धर्मशास्त्र, जो उत्तरी भारत में प्रचलित हो गया है, हम नहीं मान सकते।"

"मैंने यह आपत्ति राजपुरोहित के सामने उठाई थी। इस पर उन्होंने कहा कि धर्म में परिवर्तन अनादिकाल से होता चला आया है। जब वैदिक मत का दक्षिण के आसुरी मत से समन्वय हुआ था, तब दक्षिण के विद्वानों ने मान लिया था कि वेद, यज्ञादि में रक्त-मांस की आहुति स्वीकार नहीं करता। आर्य विद्वानों ने असुरों के देवता भग और लिंग को भी आर्य देवता मान लिया था। इसी प्रकार आर्य विद्वानों ने मानव अधिकारों की व्याख्या करते हुए बौद्ध विद्वानों की कतिपय बातें मान ली हैं। इस प्रकार आदान-प्रदान में कुछ अनुचित नहीं हुआ। देवदासियों के विवाह की बात भी उन मानव अधिकारों में एक है।"

इस पर भी रमणाचार्य के मस्तिष्क में यह बात नहीं बैठी और वे वहाँ के अधिपति महाराज त्रिभुवनकीर्ति, जिनकी राजधानी त्रिचनापल्ली में थी, की सभा में पुनरावेदन करने को चल पड़े।

आचार्य की अनुपस्थिति में गोविन्द ने रुक्मिणी के विषय में और अधिक जानने के लिए पूछा, "तदनन्तर रुक्मिणी का क्या हुआ?"

"जब मुझको नगरपालक की आज्ञा से पाँच वर्ष का कठोर कारावास मिला, तो मैंने महाराज के समक्ष पुनरावेदन कर दिया। मुझको महाराज की राज्य-सभा के सामने उपस्थित किया गया। मैंने वहाँ अति करुणाजनक भाषा में क्षमा-याचना की। पूर्ण राज्य-सभा में केवल गजानन मिश्र ही मेरी प्रार्थना का समर्थक था। महाराज ने पुरोहितजी के दया दर्शाने पर महामात्य से पूछा कि यदि माधव को आठ प्रहर के भीतर काशी से निकल जाने की आज्ञा दे दी जाए तो क्या हानि होगी? यह माधव काशी का रहने वाला नहीं है और काशी से बाहर कर दिया जाए तो ठीक नहीं रहेगा क्या?

"महामात्य मान गया। साथ ही यह कह दिया गया कि मेरे पाँच वर्ष तक काशी में लौटने पर प्रतिबन्ध है। ऐसी आज्ञा होने पर मैं छोड़ दिया गया।

"छूटने के पश्चात् मैं गजाननजी का धन्यवाद करने उसके घर गया। वहाँ पहुँचकर मैंने यह जानने का यत्न किया कि रुक्मिणी का क्या हुआ? गजाननजी ने नगरपाल से जाँच करवाकर मुझको बताया कि वह नटों की किसी मण्डली के साथ घूम-घूमकर अपना नृत्य दिखाकर जीविकोपार्जन कर रही है।

''काशी से मैं अयोध्या गया तो नारायण अन्य लड़कियों को लेकर इधर लौट आया था। मैं वहाँ से चल प्रयागराज में कुम्भ-स्नान करने को जा पहुँचा। वहाँ वह मुझको भीख माँगने वालों के साथ नृत्य करती दिखाई दी। मेरा साहस नहीं हुआ कि मैं उससे बातचीत करूँ। मुझको भय लग रहा था कि मैं पुन: बन्दी न बना लिया जाऊँ। मुझको कुछ ऐसा भास हो रहा था कि वह श्री स्वामी शंकराचार्य जी के पीछे-पीछे ही चली जा रही है। प्रयागराज से स्वामी जी पण्डित प्रभाकराचार्यजी से शास्त्रार्थ करने प्रतिष्ठानपुरी गए थे। कदाचित् वहाँ से श्री मंडन मिश्रजी से शास्त्र-चर्चा करने मिथिला जाएँगे। यदि वे वहाँ गए तो रुक्मिणी भी उनके साथ वहाँ चली जाएगी।''

गोविन्द यह समाचार सुन गम्भीर विचार में पड़ गया। अगले दिन वह, घर से लापता हो गया। वह पैदल ही चिदम्बरम् से उत्तर मारत की यात्रा पर चल पड़ा। उसका विचार था कि रुक्मिणी से मिलकर, उससे विवाह का प्रस्ताव करेगा। उसको पूर्ण आशा थी कि यदि वह उत्तर भारत के किसी नगर में रहना स्वीकार कर लेगा, तो वह विवाह के लिए मान जाएगी।

इस पर भी एक आशंका उसके मन में बनी हुई थी। वह यह कि कहीं उसके रुक्मिणी को ढूँढ़ने से पूर्व ही वह वेश्यावृत्ति स्वीकार न कर ले। उसको इस बात का अब दु:ख लग रहा था कि उसने अपने मन के भाव उसको बताये क्यों नहीं? यदि बताये होते तो इस प्रकार इधर-उधर भटकने की अपेक्षा वह उससे सम्पर्क उत्पन्न करती।

इस पर भी वह लम्बे-लम्बे पड़ाव चलता हुआ प्रतिष्ठानपुरी की ओर चल पड़ा। एक मास की लम्बी यात्रा के बाद वह वहाँ पहुँचा। वहाँ प्रभाकराचार्यजी से उसने स्वामी जी का पता किया। उसने पूछा, ''महाराज! स्वामी जी यहाँ से किस ओर गए हैं।''

''वे हमारे गुरु भाई श्री मंडन मिश्रजी से शास्त्र-चर्चा करने गुजरात की ओर गए हैं।''

''उनके साथ स्त्रियाँ भी थीं?''

''उनके शिष्य ही थे। यहाँ से मेरा पुत्र पृथ्वीधर संन्यास ग्रहण कर उनके साथ चला गया है। उनकी मंडली में कोई स्त्री नहीं थी। हाँ, उनके पीछे-पीछे बहुत से गृहस्थ लोग, जिनमें स्त्रियाँ भी थीं, गए हैं।''

इस सूचना से गोविन्द को कुछ अधिक प्रोत्साहन नहीं मिला; परन्तु वह अभी निराश नहीं हुआ। इससे वह मिथिला की ओर चल पड़ा। गंगा पार कर वह मिथिला में जा पहुँचा। मिथिला में माहिष्मती में मंडन मिश्र का गृह था। गोविन्द को वहाँ पहुँच पता चला कि स्वामी जी मंडन मिश्र से दिन-रात शास्त्र-चर्चा कर रहे हैं

स्वामी जी के शास्त्रार्थ के कारण माहिष्मती नगर एक प्रकार से तीर्थ-स्थान बन रहा था। सहस्त्रों नर नारी नित्य वहाँ आते और स्वामी जी के दर्शन कर लौट जाते थे। शास्त्रार्थ का परिणाम जानने के लिए कुछ वहाँ ठहर भी जाते थे। परिणाम यह हो रहा था कि दिन-प्रतिदिन माहिष्मती में जनता की भीड़ बढ़ती जाती थी।

जब गोविन्द वहाँ पहुँचा तो उस भीड़ में रुक्मिणी को ढूँढ़ने लगा। और रुक्मिणी मिल नहीं रही थी। ज्यों-ज्यों दिन व्यतीत होते जाते थे वह बेचैनी अनुभव करने लगा था। जब भली-भाँति देखभाल कर चुका और उसको विश्वास हो गया कि रुक्मिणी वहाँ नहीं है, तो उसने वहाँ से चल देने का निश्चय कर लिया। उसने विचार किया कि रुक्मिणी का सूत्र काशी से पकड़ना चाहिए और वहीं से उसकी खोज आरम्भ करनी चाहिए।

जिस दिन उसने माहिष्मती छोड़ पश्चिम की ओर चलने का विचार किया, उस दिन माहिष्मती में यह विख्यात हो गया कि शास्त्रार्थ में मंडन मिश्र श्री शंकराचार्य जी से परास्त हो गए और अगले दिन स्वामी जी से संन्यास लेने वाले हैं। इस कारण गोविन्द ने एक दिन बाद ही वहाँ से प्रस्थान करने का निश्चय किया।

अगले दिन सहस्त्रों नर-नारियों के समक्ष मंडन मिश्र और उनकी पत्नी भारती ने संन्यास की दीक्षा ले ली। दीक्षा लेने से पूर्व मंडन मिश्र ने एक वक्तव्य दिया। उसमें मिश्रजी ने कहा, ''बौद्ध धर्मानुयायियों ने यज्ञ का विरोध किया था। महात्मा बुद्ध के विरोध का कारण यह था कि उस समय यज्ञों में नर तथा पशु-बलि दी जाती थी, परन्तु उनको यह विदित नहीं था कि सब यज्ञों में पशु अथवा नर-बलि नहीं दी जाती। अतः यज्ञों का व्यापक विरोध उचित नहीं था। वे यज्ञ कर्म के वास्तविक फल को समझ नहीं सके। परिणामस्वरूप यज्ञों के विरोध ने देश में नपुंसकता उत्पन्न कर दी। मानव दूसरे के लिए त्याग और तपस्या का महत्व भूलकर स्वार्थरत हो गया। बौद्ध भिक्षुक भी परहित की धुरी को त्याग कर जीवन को सुगम, सुलभ और सरस बनाने में लीन हो गए। इससे देश का घोर पतन हुआ और हम विदेशियों के विकराल पंजों में फँस गए।

''देश के विद्वानों ने इस पतन का मूल कारण बौद्ध जीवन मीमांसा को ही समझा है। बौद्ध जीवन यज्ञरहित हो गया था। इस कारण भारत में जनता के जीवन को पुनः भगवती श्रुति का आश्रय लेना पड़ा और यज्ञ-धर्म के महत्व को पहचानना पड़ा। अतः वेद मतानुयायियों ने देश में पुनः यज्ञ-कर्म का प्रचार आरम्भ कर दिया और यज्ञादिक आयोजन करवाए। समुद्रगुप्तादि सम्राटों ने पुनः अश्वमेध यज्ञों की प्रथा को चालू किया।

''इन यज्ञों के लिए पूर्व मीमांसादि ग्रंथों में लिखित कर्मकाण्ड की रेखा बाँधी गई। प्रत्येक कार्य के लिए विधि-विधान का निर्माण किया गया।

''बौद्ध धर्म की प्रतिक्रिया देश के भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न रूप में हुई। कई स्थानों पर बौद्ध और जैन धर्म की मूर्ति-पूजा को वैदिक रूप देकर स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार वैदिक देवी-देवता बन गए। कहीं यज्ञादि कर्म को महानता मिल गई और कहीं निराकार की पूजा को श्रेष्ठ माना गया।

''पूज्यपाद गुरु कुमारिलजी ने यज्ञादि कर्म एक विशेष विधि से करना सर्वश्रेष्ठ माना। साथ ही श्री गुरु जी का मत था कि कर्मकाण्ड यज्ञ का प्रधान अंग है। उनका मत था कि यज्ञ जब तक निर्धारित विधि से न किया जाए तब तक वह सफल नहीं हो सकता, अत: कर्मकाण्ड की एक विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई।

''श्री स्वामी शंकराचार्य जी का मत है कि यज्ञ, पूजा-पाठ, देवी-देवता की स्थापना तथा मन्दिर आदि बनवाना सब साधन हैं। साध्य है मानव का मोह-माया का जाल तोड़ना। यह मायाजाल तोड़ने का अभिप्राय है यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति अर्थात् आत्म-निरूपण। श्री स्वामी जी ने युक्ति और प्रमाण से यह सिद्ध कर दिया है कि उक्त सब साधन आत्म-निरूपण में सहायक होते हैं। मानव विकास के भिन्न-भिन्न सोपानों पर भिन्न-भिन्न उपाय उपकारी होते हैं। अत: इनका परस्पर विरोध नहीं है। जैसे प्रथम कक्षा की शिक्षा और पुस्तक, पंचम कक्षा के पाठ और पुस्तक के विरोधी नहीं हो सकते। इसी प्रकार देवी-देवता की पूजा, यज्ञादि कर्म अथवा योग-समाधि-ध्यान इत्यादि भिन्न-भिन्न स्तरों के कर्म होने से परस्पर विरोधी नहीं हैं।

''इस प्रकार श्री स्वामी जी का कहना है कि सब आश्रम और सब वर्ण मनुष्य को पूर्णता की ओर ले जाने वाले हैं। अत: कोई आश्रम अथवा वर्ण किसी से ऊँचा अथवा नीचा नहीं है। श्रेष्ठ और नीच कर्म तो धर्मानुकूल अथवा विपरीत कर्म को कहते हैं। चोरी करना, असत्य भाषण, निन्दा करना, अपवित्र रहना इत्यादि कर्म नीच हैं और इनके विपरीत कर्म धर्म है।

''मैं स्वामी जी की युक्ति से और उनके द्वारा दिये गए प्रमाणों से संशय रहित हो, उनके विचार को ठीक मानने लगा हूँ। आज स्वामी जी का कहना है कि मेरी आयु संन्यास ग्रहण करने की है। इस कारण उनका कहना है कि मुझको अब राज्य और मानव-समाज के कल्याण के लिए संन्यास लेकर, लोक-सेवा के निमित्त घर से निकल जाना चाहिए। इस कारण संन्यास-धर्म की दीक्षा ले रहा हूँ।

''मेरे साथ मेरी धर्मपत्नी भारती देवी भी यही कह रही है। पहले से स्वामी जी उसको दीक्षा देने के लिए तैयार नहीं थे। परन्तु अब वे इसलिए मान गए हैं

कि राष्ट्र को इन देवी जैसी विदुषी नारियों की भी आवश्यकता है।"

इसके बाद स्वामी जी ने पण्डित मंडन मिश्र और देवी भारती को संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने की स्वीकृति दे दी।

मंडन मिश्र सुरेश्वरानन्द बनकर एक राष्ट्र, एक धर्म और एक व्यवहार को चालना देने के कार्य में लग गए।

:: 3 ::

गोविन्द स्वामी शंकराचार्य के उपदेशकृत तथा पण्डित मंडन मिश्र स्वामी जी के मत की विवेचना से अति प्रभावित हुआ था। उसके मन में स्वामी जी से संन्यास-धर्म की दीक्षा लेकर उनकी संन्यासी मंडली में प्रविष्ट होने की इच्छा उत्पन्न हो गई। इन मनोद्‌गारों के अधीन वह स्वामी जी की सेवा में उपस्थित हो निवेदन करने लगा, "महाराज! मैं संसार से ऊब गया हूँ और इसके मिथ्या व्यवहार से व्याकुल हो, इसको छोड़ समाज-कल्याण कार्य में जीवन व्यतीत करना चाहता हूँ। मुझको स्वीकृति प्रदान की जाए।"

"तुम कौन हो ? कहाँ से आए हो ? आज तक क्या करते थे ?"

गोविन्द ने अपना पूर्ण परिचय दिया। साथ ही देवदासियों के विषय में स्वामी जी की व्यवस्था के विरुद्ध अपने पिता जी के प्रयास के विषय में बताते हुए कहा, "उनके इन विचारों को सुन मैं घर से चला आया हूँ।"

"कितना पढ़े हो ?"

"देववाणी भली-भाँति बोल और लिख सकता हूँ। इसके अतिरिक्त संगीताचार्य की शिक्षा प्राप्त की है।"

"गोविन्द!" स्वामी जी ने कह दिया, "तुमको अभी गृहस्थ-आश्रम का पालन करना चाहिए। तुम्हारी आयु अभी संन्यास-आश्रम में प्रवेश पाने की नहीं। आज से पच्चीस वर्ष बाद इस आश्रम में आना।"

गोविन्द को इस आदेश से भारी निराशा हुई। इस पर उसने कहा, "महाराज! वह भी आपकी दया से ही प्राप्त हो सकता है। उसके लिए आशीर्वाद दे दीजिए।"

स्वामी जी ने कहा, "भगवान् सबका कल्याण करें।"

गोविन्द उसी दिन माहिष्मती से लौट पड़ा। उसने मन में यह निश्चय कर लिया था कि रुक्मिणी को ढूँढ़ने में अपना जीवन व्यतीत कर देगा। यदि वह नहीं मिली तो जीवन ऐसे ही व्यतीत कर देगा।

माहिष्मती से वह काशी जी की ओर लौट पड़ा। उसकी इच्छा गजानन मिश्र से मिलकर रुक्मिणी के विषय में जानने की थी।

पाटलिपुत्र में पहुँचा तो उसका धन चूक गया। इससे वह निराश नहीं हुआ और भीख माँग-माँगकर निर्वाह करने लगा। अब उसने एकतारा तथा करतालें मोल ले लीं और प्रात: काल से एक प्रहर-भर भगवद्-भजन गा-गाकर भीख माँगता और दिन के शेष समय में यात्रा करता था।

नगर-नगर और ग्राम-ग्राम, गली-गली और बाजार में वह गाता-फिरता था। खाने के लिए अन्न दाना लेता, भोजन बनाता, खाता और फिर अगले गाँव को चल पड़ता था।

उसका सबसे प्रिय गीत वही था जो रुक्मिणी वारांगल ने देवदासी बनने के पहले दिन रमणाचार्यजी को गाकर सुनाया था। यह ठीक था कि रुक्मिणी के गाने में अति सरलता थी। वह उस समय पाँच वर्ष की बालिका मात्र थी। परन्तु गोविन्द उस गीत को अधिक निपुणता से गाता था। उसने एक योग्य कलाकार से पन्द्रह वर्ष तक संगीत सीखा था। वह गाता था—

"तुम सखा बने हो ग्वालों के, पर चलन विलक्षण रखते हो,
वे ढोर चरावें बन में, तुम बंसी में माधुरी भरते हो।
वे क्या जानें बंसी की तान
राग की क्या जानें वे बान
न इसका उनको कुछ भी ज्ञान
तुम स्वरों में मीठा ढलते हो।
तुम सखा बने हो ग्वालों के, पर चलन विलक्षण रखते हो,
वे ढोर चरावें बन में, तुम बंसी में माधुरी भरते हो।"

जब वह एकतारे से संगत देता हुआ अपने मधुर और पुष्ट स्वर में गाता हुआ किसी गाँव, बाजार अथवा वीथिका में निकल जाता तो लोग घरों से निकलकर उसको सुनने के लिए चले आते थे। घरों की खिड़कियों से स्त्रियाँ झाँकने लगती थीं और कहीं मुहल्ले के बच्चे उसके साथ चलते हुए उसकी करतालों की ताल के साथ नाचने लगते थे। उन बच्चों को नाचते देख वह भी नाचने लगता था और यमुना तट पर कृष्ण का सखियों के साथ रासलीला का दृश्य बन जाता था।

वह गाता—

"क्यों विदित नहीं तुम को मोहन
बंसी का अद्भुत है यह चलन।
सब ग्राम की ललनाओं के मन
इस बाँसुरी से तुम छलते हो।
तुम सखा बने हो ग्वालों के, पर चलन विलक्षण रखते हो,

वे ढोर चरावें बन में, तुम बंसी में माधुरी भरते हो।''

इस प्रकार गाता हुआ वह काशी में जा पहुँचा। अब तक उसको अपने गाने में इतना रस आने लगा था कि वह किसी समय भी गाता तो मस्त हो नाचने लगता। लोग उसको उखड़े चित्त वाला मानने लगे थे। वे उसके भजन सुनते और उसको भोजन वस्त्रादि देते। वह खाता-पहनता और जो कुछ बच जाता, अपने से भी अधिक निर्धनों में बाँट देता।

एक दिन वह गाता हुआ काशी के चौक में नाच रहा था। उसके साथ ही वह गा रहा था—

''क्यों रखती बाँध नहीं मैया
रात समय तुमको कन्हैया
ललनाओं की नींद छलैया
जब बाँसुरी में स्वर भरते हो।
तुम सखा बने हो ग्वालों के, पर चलन विलक्षण रखते हो,
वे ढोर चरावें बन में, तुम बंसी में माधुरी भरते हो।''

विरोचन और ऊदल पाठशाला से लौट रहे थे। उन्होंने चौक में भीड़ खड़ी देखी। वे भी देखने लगे कि क्या हो रहा है। भीड़ के बीचोबीच थोड़ा-सा खुला स्थान था। उसमें एक युवक हाथ में एकतारा और करताल लिए गा रहा था। उस युवक के चारों ओर कुछ बच्चे ताल के साथ नाच रहे थे। कभी-कभी वह भी नाचता और बेताल नाचने वालों को मुस्कराते हुए ताल से नाचने का ढंग दिखा देता। जब सब बालक नाचना बन्द करते तो वह गा देता—

कालिय मर्दन करने वाले
तेरे हैं क्या खेल निराले
बँसरी में स्वर तुमने ढाले
सखियों के मन मसलते हो।
तुम सखा बने हो ग्वालों के, पर चलन विलक्षण रखते हो,
वे ढोर चरावें बन में, तुम बंसी में माधुरी भरते हो।''

विरोचन तो संगीत में मंत्रमुग्ध हो खड़ा रह गया। जब बालक और गाने वाला नाचने लगे तो ऊदल ने विरोचन के कान में कहा, ''विरोचन भैया! यह तो वारांगल वाला गाना गा रहा है।''

''हैं? हाँ।''

गोविन्द गा रहा था—

''वे ढोर चरावें बन में, तुम बंसी में माधुरी भरते हो।''

विरोचन को स्मरण हो आया। उसने कहा, ''हाँ, वही है। यह व्यक्ति

अवश्य उससे परिचित होगा।''

''इसने कभी वारांगल का गाना सुना होगा।''

''घर चलकर रुक्मिणी से पूछेंगे।''

''क्या लाभ होगा? इसी से न पूछ लें।''

''हम इसको घर ले चलें और नीचे के तल पर बैठाकर गाना गाने के लिए कहें। यही गाना सुनेंगे। यदि रुक्मिणी इससे परिचित हुई तो वह इसको पहचान लेगी।''

''बहुत आनन्द आएगा। इस पर भी इसका परिचय तो लेना होगा।''

इस समय गोविन्द ने गाना बन्द कर दिया था। एक श्रोतागण ने पूछा, ''भैया, दूध पियोगे?''

''पेट भरा है। इच्छा नहीं।''

''तो यह लो।'' उसने दो टके निकालकर गोविन्द को देने चाहे।

गोविन्द ने कहा, ''कहाँ रखूँगा, भैया! जेब ही नहीं है। किसी अन्य भिखारी को दे देना।''

इस समय ऊदल ने आगे बढ़कर पूछा, ''क्या नाम है भैया, तुम्हारा?''

''गोविन्द प्रिय।''

''कहाँ के रहने वाले हो?''

''चिदम्बरम् का।''

इस समय ऊदल ने अर्थ-भरी दृष्टि में विरोचन की ओर देखा। फिर उसने कहा, ''तुम बहुत ही मधुर गाते हो। चलो न हमारे साथ। वहाँ तुमसे कीर्तन कराएँगे।''

''कहाँ है तुम्हारा घर ?''

''यह साथ वाली वीथिका में ही है।''

''पर मुझको तो किसी अन्य घर जाना है।''

''किसके?''

गोविन्द को गजानन का नाम विस्मरण हो गया था। उसने कहा, ''राजपुरोहितजी के घर पर।''

''गजानन मिश्र!''

''हाँ-हाँ भैया! उनके ही।''

''हम तुमको वहाँ भी ले चलेंगे।''

''उनसे मिला दोगे?''

''वे बहुत बड़े व्यक्ति हैं।'' ऊदल ने विरोचन की ओर मुस्कराकर देखा और गोविन्द को कहा, ''तुम कीर्तन करोगे तो अवश्य मिला देंगे।''

"तो चलो।" वह उठकर उनके साथ चल पड़ा। बच्चे उनके पीछे गाते हुए चलने लगे—

"क्यों रखती बाँध नहीं मैया
रात समय तुमको कन्हैया।"

ऊदल ने घूरकर बच्चों की ओर देखा और कहा, "भाग जाओ?"

इस पर वे तितर-बितर होने लगे। विरोचन और ऊदल गोविन्द के दाएँ-बाएँ चलते हुए उसको घर की ओर ले चले। विरोचन को विश्वास हो गया था कि यह कोई वारांगल का परिचित है और उसकी खोज में आया है। वारांगल से उसको स्नेह हो गया था। वह रमा से अधिक चतुर, संगीत में अधिक निपुण और माताजी की सेवा करने के लिए तत्पर रहती थी और सदा मुस्कराती रहती थी। घर के सब प्राणी उससे प्रसन्न थे। यहाँ तक घर का शुक भी वारांगल के गीत को स्थायी गाया करता था—"दो सदा भक्ति हमको कृपालु मधुसूदन तुम हो दया भरे।'

विरोचन नहीं चाहता था कि रुक्मिणी चिदम्बरम् में जाकर किसी मुसीबत में पड़ जाए। इस कारण वह अपना और वारांगल का परिचय देने में सतर्क हो गया था। उसने ऊदल को इस आशय का संकेत भी कर दिया था।

घर पहुँचकर वे उसको बैठक में बैठाकर उसके लिए जलपान का प्रबन्ध करने लगे। विरोचन, गोविन्द के कहने पर भी कि उसको भूख नहीं है, मिठाई लेने ऊपर की छत पर चला गया। ऊपर जाकर उसने रुक्मिणी से कहा, "नीचे बैठक में चिदम्बरम् से कोई गाने वाला आया है। छिपकर देखो कि तुम उसको जानती हो क्या?"

रुक्मिणी ने देखा और पहचानकर बताया, "विरोचन भैया! ये गुरु रमणाचार्य के कनिष्ठ पुत्र हैं। इनका नाम गोविन्द प्रिय है। ये यहाँ किसलिए आए हैं?"

"हम इसको कीर्तन करने के लिए लाए हैं। अब हम इसके आने का उद्देश्य तथा अन्य बातें भी पूछेंगे। तुम छिपकर सुनती रहना। बाद में विचार करेंगे। ये पिता·जी से मिलना चाहते हैं।"

"अवश्य ही इसे माधव ने भेजा होगा। इस पर भी भैया! यहाँ रहते हुए मुझको भय नहीं लगता। हाँ, काशी से बाहर मैं नहीं जाऊँगी।"

विरोचन मिठाई लेकर नीचे आ गया और दूध-मिठाई उसके सामने रखकर उससे पूछने लगा, "गोविन्दजी! गजानन मिश्रजी से क्या काम है आपको?"

गोविन्द ने अपनी चमकती आँखों से उसकी ओर देखा। फिर गम्भीर

होकर कहा, "हमारे मन्दिर की दो देवदासियाँ यहाँ काशी में ही रह गई हैं। मैं उनसे मिलना चाहता हूँ।"

"मिलने का क्या प्रयोजन है? 'सुना है कि एक का विवाह हो चुका है और उमके बच्चा भी होने वाला है।"

"ओह! सत्य? तब उससे अवश्य मिलना चाहिए। मुझको एक ने बताया था कि पुरोहित जी उस लड़की के पति को जानते हैं।"

ऊदल ने कह दिया, "मिश्रजी तो आधी काशी को जानते हैं।"

"तब तो वे नीलाम्बरा के पति को अवश्य जानते होंगे।"

"उनसे पूछ लेंगे।"

गोविन्द मिठाई खाता हुआ कहने लगा, "उसकी साथिनी रुक्मिणी अपने संरक्षक को छोड़ गई थी। मैं उसको ढूँढ़ रहा हूँ।"

"उसको ही विशेष क्यों?"

गोविन्द विचार करने लगा कि अपने मन की बात बताये अथवा नहीं, वह विचार ही कर रहा था कि ऊदल ने कह दिया, "सुना है कि चिदम्बरम् के गुरु रमणाचार्य अपने राजा के पास आवेदन लेकर गए थे कि काशिराज से लड़कियाँ वापस माँगी जाएँ।"

"हाँ, वे गए तो थे, परन्तु मुझको विदित नहीं कि उसका क्या परिणाम निकला है।"

:: 4 ::

इस समय गजानन मिश्र आ गए। वे विरोचन तथा ऊदल को एक अपरिचित भिखारी के पास बैठे और उसको मिठाई-दूध का अल्पाहार कराते देख विस्मय करते हुए बैठ गए। ऊदल ने मिश्रजी को वस्तुस्थिति से अवगत कराने के लिए कह दिया—"काका! ये हैं चिदम्बरम् के गुरु रमणाचार्यजी के सुपुत्र गोविन्द प्रिय। आपको स्मरण होगा कि वहाँ की दो देवदासियों का झगड़ा हुआ था। एक का विवाह हो गया था और दूसरी अपने संरक्षक को छोड़कर भाग गई थी। ये उनको ढूँढ़ते हुए यहाँ आए हैं। किसी ने इनको बताया है कि एक पण्डित गजानन मिश्र हैं, जो उन लड़कियों के विषय में इनको सूचना दे सकते हैं। ये मिश्रजी को ढूँढ़ रहे थे। हम इनको घर पर कीर्तन कराने के लिए ले आए हैं। ये बहुत सुन्दर गाते हैं। हमने वचन दिया है कि यदि ये यहाँ कीर्तन करेंगे तो हम इनको राजपुरोहित गजाननजी से मिला देंगे।"

गजानन मिश्र ऊदल की चतुराई समझ गया। वह स्वयं गोविन्द के विषय में अभी और जानने की इच्छा रखता था। इस कारण उसने अपना परिचय देने से

पूर्व उससे बातचीत करनी उचित समझी।

पुरोहित जी ने पूछा, ''गोविन्दजी! अब आपके पिता क्या करना चाहते हैं? महाराज त्रिभुवन कीर्तिजी ने कांची के विद्वानों की धर्मसभा बुलाई है और उसमें श्री स्वामी शंकराचार्य जी जा रहे हैं। वहाँ भी उनकी व्यवस्था माननीय हो गई तो क्या करने का विचार है?''

''मुझको इस बात का पता नहीं माधव, जो देवदासियों के साथ यहाँ पर थे, वे लौटकर गए और जब उन्होंने यहाँ की व्यवस्था की बात बताई तो पिता जी क्रोध से भर गए। मुझको श्री स्वामी शंकराचार्यजी की व्यवस्था सर्वथा युक्ति-युक्त प्रतीत हुई, परन्तु पिता जी को यह धर्म-विपरीत प्रतीत हुई। वे महाराज तिरुचिरापल्ली की सेवा में इस व्यवस्था पर पुनरावलोकन कराने चले गए और मैं उत्तर दिशा को चल पड़ा। मुझको यह विदित नहीं कि उनके आवेदन-पत्र पर क्या परिणाम निकला है।''

''यही तो जानना चाहते हैं कि गोविन्दजी उत्तर दिशा में क्यों चल पड़े? क्या प्रयोजन है उसके इस ओर आने का?''

गोविन्द मन में निश्चय नहीं कर सका कि वह अपने मन की भावना बताये या नहीं। इस द्विविधा में वह प्रश्नकर्ता का मुख देखता रह गया।

उसे चुप देख गजानन मिश्र हँस पड़ा। उसने कहा, ''देखो गोविन्द! यह धर्म की नगरी है। यहाँ पर आशा की जाती है कि कोई अधर्माचरण नहीं करेगा। इस पर मानव में पशु-वृत्ति तो है ही, और यहाँ पर भी लोग धर्म-विपरीत मार्ग पर चल पड़े हैं। इस कारण यहाँ के धर्मपरायण महाराज ने, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को स्वेच्छा से धर्म-पालन की स्वीकृति दे रखी है, वहाँ राज्य की ओर से व्यापक पर्यवेक्षण का प्रबन्ध भी कर रखा है। यही कारण है कि जब माधव को नगरपाल ने आज्ञा दी कि वह स्वेच्छा से अपने को बन्दी समझे और अगले दिन उसके सम्मुख उपस्थित हो जाए, और माधव ने समझा कि वह भागकर नगर छोड़ जाएगा तो नगर छोड़ता हुआ वह पकड़ा गया। यदि पण्डित गजानन उसकी सहायता न करते तो वह अभी तक काशी के किसी कारावास में सड़ रहा होता।

''यही बात तुम्हारी भी हो सकती है। तुम यह मत समझो कि किसी स्त्री का अपहरण करने में सफल हो जाओगे।''

गोविन्द की समझ में आ गया कि लुकाव-छिपाव से यहाँ काम बिगड़ सकता है और कहीं माधव की भाँति उसको भी बन्दी न बना लिया जाए। इस कारण उसने अपने मन की बात बताते हुए उससे कहा, ''आपका यह विचार कि मैं उत्तर इस कारण नहीं दे रहा कि मैं कोई अधर्माचरण करने वाला हूँ। ठीक नहीं। मैं यदि अपनी बात बता नहीं रहा तो इस कारण कि जिसको मैं इस

बात के जानने का अधिकारी समझता हूँ, वह मेरे सामने नहीं है।''

''तुम किसको अधिकारी समझते हो?''

''मैं पण्डित गजानन मिश्रजी को अपने यहाँ आने का प्रयोजन बताना चाहता हूँ। उन्होंने अनुकम्पा कर मेरे भाई को बन्दीगृह से छुड़ाया था। इससे मैं समझता हूँ कि वे मेरी बात को समझने और उसमें सहायता करने के लिए समर्थ होंगे।

''इस पर मेरी बात इतनी गोपनीय नहीं कि उसको प्रकट करने में हानि होने की सम्भावना हो। अतः यदि आप चाहते हैं तो मैं बता सकता हूँ।

''मैं अभी दस वर्ष की आयु का था कि एक लड़की की विधवा माता अपनी लड़की को देवदासी बनाने के लिए पिता जी के पास लाई थी। वह लड़की अति सुन्दर थी और उसका स्वर बहुत मधुर था। उस लड़की को देख और उसके मधुर स्वर को सुन मैं उससे प्रेम करने लग गया।

''मेरे पिता जी ने मेरे मन पर यह अंकित कर दिया था कि देवदासियाँ देवता की सम्पत्ति होती हैं। उसकी ओर कुदृष्टि से देखना अपनी माता की ओर कुदृष्टि करने के तुल्य है। अतः उस देवदासी के प्रेम में फँसा होने पर भी मैं अपने मन की बात कभी किसी पर प्रकट नहीं कर सका। यहाँ तक कि मैं उस देवदासी को भी इस विषय में संकेत नहीं कर सका। इस पर भी मेरे मन में उसकी रूप-माधुरी बसती गई। यहाँ तक कि मैंने अपने विवाह के प्रस्ताव को भी ठुकरा दिया।

''उस लड़की को देवदासी बने पन्द्रह वर्ष हो चुके और उसके प्रति अपने मन के उद्‌गार मैं आज पहली बार आपको सुना रहा हूँ। जब माधव ने श्री स्वामी शंकराचार्य जी की व्यवस्था सुनाई कि देवदासियाँ विवाह करने के लिए स्वतन्त्र हैं, तो मैं उसको ढूँढ़ने और उससे विवाह करने का प्रस्ताव मन में लेकर घर से निकल पड़ा।

''वह देवदासी रुक्मिणी वारांगल है। मैं समझता हूँ कि पण्डित गजानन मिश्रजी उसका पता बता सकेंगे।''

गजानन, विरोचन और ऊदल गोविन्द की कथा सुन आश्चर्य में उसका मुख देखने लगे। पण्डित गजानन अब अपना परिचय देने के विषय में विचार करने लगा। एक बात उसके मन में आई कि उसको छिपकर रहने की आवश्यकता नहीं है। यदि किसी को छिपकर रहना चाहिए तो वह रुक्मिणी को। वह अपने को प्रकट करना चाहती है अथवा नहीं, यह रुक्मिणी के अपने विचार करने की बात है।

इस प्रकार विचार कर मिश्रजी ने कहा, ''देखो गोविन्द! तुम्हारा परिचय

मैं गजानन से करा सकता हूँ। वह तुम्हारे सामने बैठा तुमसे बातें कर रहा है।''

गोविन्द इस प्रकटीकरण से आश्चर्य में मुख देखता रह गया। जब उसको चेतना हुई तो उसने हाथ जोड़ उनको नमस्कार किया और उनके चरण-स्पर्श कर कहा, ''आप मेरे पिता तुल्य हैं। मैं आपके दर्शन कर गद्‌गद् हो गया। अब आप मेरी क्या सहायता कर सकते हैं? जैसे अपने मेरे भाई की जान बचाई थी, वैसे ही दया-दृष्टि कर आप मेरी भी सहायता करिए।''

''तुम रुक्मिणी को ढूँढ़ रहे हो न। और उससे विवाह करना चाहते हो?''

''हाँ, यदि वह मुझको स्वीकार करे तो।''

''यह तो वही बता सकेगी। उसको ढूँढ़ने का यत्न किया जा सकता है। परन्तु तुम बताओ कि तुम इतने दिन कहाँ रहे हो? रमणाचार्य को अपने महाराज के सामने प्रार्थना किए एक वर्ष होने जा रहा है। तुम कहते हो कि तुम उससे पहले के घर से चले हुए हो।''

''आपका अनुमान ठीक है। मुझको किसी ने बताया था कि रुक्मिणी प्रयागराज में भिखारियों के गोल में सम्मिलित हो गुरु शंकराचार्य के साथ-साथ घूम रही है। इस कारण मैं पहले प्रतिष्ठानपुरी और वहाँ से मिथिला पहुँचा। वहाँ पर उसको न पा मैं इधर को चल पड़ा। मार्ग में धन चूक गया तो यह एकतारा और करताल लेकर भीख माँगता और गाँव-गाँव में कीर्तन करता हुआ यहाँ आ पहुँचा हूँ और तीन दिन से इस नगरी में घूम रहा हूँ। जिससे कहता हूँ कि गजाननजी से मिलना चाहता हूँ, वही मेरे मुख और वस्त्रों की ओर देखकर हँस देता है। आज इन दो युवकों ने मुझको आश्वासन दिया कि ये मुझको मिश्रजी से मिला देंगे। सो उन्होंने अपना वचन पूरा किया है परन्तु मैंने अभी अपना वचन पूरा नहीं किया। मैं यहाँ कीर्तन करने आया था।''

''यह भी हो जाएगा। आज नहीं, फिर किसी दिन। आज तुमको मैं एक पान्थागार में भेज देता हूँ। वहाँ मेरा पत्र लेकर चले जाओ। तुमको वहाँ भोजन-वस्त्रादि मिलेंगे। वहाँ रहना। इस काल में वारांगल को ढूँढ़ने का यत्न करूँगा। मिल जाने पर तुमको बुला लिया जाएगा।''

इस प्रकार गजानन को पूर्ण परिस्थिति पर विचार करने के लिए समय मिल गया। गोविन्द ने जाने से पूर्व पूछा, ''नीलाम्बरा से मिलने के विषय में क्या आज्ञा है?''

''उसको आपके विषय में बता दिया जाएगा और यदि वह चाहेगी तो आपसे मिल लेगी।''

गोविन्द ने चरण-स्पर्श कर नमस्कार किया और पान्थागार का मार्ग पूछ उधर को चल पड़ा।

:: 5 ::

गोविन्द को पान्थागार में दो दिन की प्रतीक्षा के बाद नीलाम्बरा और ऊदल मिले। गर्भ-भार से धीरे-धीरे चलती हुई नीलाम्बरा को देख गोविन्द अपने आगार से भाग कर बाहर आ गया और उसका स्वागत करने लगा। हाथ जोड़ नमस्कार कर वह उन दोनों को अपने आगार में ले आया। वहाँ बैठा, वह संशय की दृष्टि से ऊदल की ओर देखने लगा। ऊदल मुस्करा रहा था। उसको मुस्कराते देख गोविन्द ने पूछा, ''मित्र! तुम्हारा इससे क्या सम्बन्ध है?''

''मेरा नाम ऊदल है। यह मेरी पत्नी है।''

''पर तुमने उस दिन नहीं बताया?''

''मैंने कुछ भी नहीं बताया था। जिससे आप मिलना चाहते थे, उसकी अनुमति के बिना कैसे बताया जा सकता था? कल मिश्रजी ने नीलाम्बरा से यह जानकर कि वह अब मिलने में कोई आपत्ति नहीं समझती, आज हम दोनों को यहाँ भेजा है।''

''काशी वालों के तर्क की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जा सकता। प्रत्येक प्रश्न का युक्तियुक्त उत्तर उनके पास रहता है। मैं इससे प्रसन्न हूँ। इस पर भी एक बात उनको भी समझ लेनी चाहिए कि कोरे तर्क से संसार नहीं चलता। तर्क के साथ-साथ भावनाओं का भी आदर होना चाहिए। शुष्क तर्क से जीवन ही नीरस हो जाएगा।''

''देखो भैया गोविन्द! यदि आपको भावना और तर्क के गुण-अवगुण पर वाद-विवाद करना है तो कल मैं विरोचन को ले आऊँगा। ऐसे कामों के लिए वह उपयुक्त व्यक्ति है। मैं तो साहित्य में रुचि लेता हूँ और साहित्य होता ही भावनामय है।''

''तब तो आपको तर्क नहीं करना चाहिए।''

''मैंने तर्क किया है क्या? मैंने वस्तुस्थिति का ही वर्णन किया है। यदि हमारे यहाँ आने में किसी बात का हाथ है, तो वह भावना का है, तर्क का नहीं। पिता जी ने कहा था कि नीलाम्बरा को इस अवस्था में आपसे मिलने की आवश्यकता नहीं, परन्तु नीलाम्बरा का कहना था कि वह आपसे अपनी सखियों के विषय में जानना चाहती है। यह कोरी भावना-मात्र तो थी। इसी से प्रेरित होकर और कष्टप्रद अवस्था में भी यह आपसे मिलने चली आई है।''

''तो मुझको नीलाम्बरा का धन्यवाद करना चाहिए। नीलाम्बरा! मुझको तुमसे मिलकर बहुत प्रसन्नता हुई है। सुनाओ, यहाँ सुखी हो?''

''मुझे देखकर आप क्या अनुमान लगाते हैं?''

"तुम्हारे मुख पर सन्तोष के लक्षण ही दिखाई देते हैं। और संतोष सुख का सूचक है। अर्थात् तुम सुखी हो। ठीक है।"

"मैं प्रत्येक प्रकार से प्रसन्न हूँ। ये कर्मकाण्डी हैं। यजमानों के घर में संस्कारादि कराते रहते हैं। यहाँ देवदासियों की प्रथा नहीं है। हाँ, मन्दिरों में कीर्तन होते हैं और उनमें मैं सम्मिलित होती रहती हूँ।"

"वास्तव में स्वामी जी की व्यवस्था के बाद अन्य देवदासियाँ भी तुम्हारा अनुकरण करतीं, यदि उनको भी कोई तुम्हारे पति जैसा मिल जाता। चिदम्बरम् में उनको पति मिलना अति कठिन है। लोग उनको देवता की वस्तु समझ इतना श्रेष्ठ मानते हैं कि उनसे विवाह करना पाप समझते हैं और वे समझती हैं कि समाज ने उनका बहिष्कार कर रखा है।"

इसके बाद रुक्मिणी पर बात होने लगी। नीलाम्बरा ने ही उसके विषय में बात आरम्भ की। उसने पूछा, "मिश्रजी से आपने कहा है कि आप उससे विवाह करने की इच्छा रखते हैं। आपने वहीं किसी देवादासी से विवाह क्यों नहीं कर लिया?"

गोविन्द हँस पड़ा। उसने कहा, "इसमें कोई युक्ति अथवा कारण नहीं बता सकता। यह मन की भावना का विषय है, युक्ति का नहीं।"

"परन्तु यह कैसे पता चले कि आप उसको वैसे ही सुखी रख सकेंगे, जैसे ये मुझको रख रहे हैं?"

"नीलाम्बरा! कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि रुक्मिणी ने तुमको मेरे मन की अवस्था जानने के लिए भेजा है?"

"कदाचित् आप ठीक समझते हैं। रुक्मिणी यह जानना चाहती है कि यह विवाह का भूत आप पर कब से सवार हुआ है? पहले तो आप विवाह करना नहीं चाहते थे और आपने भी ऐसा संकेत नहीं किया था कि आप रुक्मिणी की ओर रुचि रखते हैं?"

"तो क्या देवदासियों के विषय में अन्य लोग रुचि प्रकट किया करते हैं?"

"हाँ, जब नृत्य देखकर लोग देवता के सामने भेंट चढ़ाते थे, तो वह भेंट नृत्य की उत्कृष्टता तथा देवदासी के अनुसार बढ़ती-घटती थी। इससे हम अनुमान लगा लेती थीं कि भक्त को कौन देवदासी पसन्द है?"

"पर मैं तो भेंट चढ़ाता नहीं था। मैं पुजारी का पुत्र होने से भेंट चढ़ाने की स्थिति में नहीं होता था। इस पर भी रुक्मिणी का कीर्तन सुनने तो अवश्य उपस्थित रहता था।"

"हाँ, पर आँखें मूँद बैठे रहते थे।"

"पर नीलाम्बरा! वह है कहाँ? उसने विवाह कर लिया है क्या? माधव

कहता था कि वह नटों और भिखारियों के साथ घूमती-फिरती थी। उसने वेश्यावृत्ति तो स्वीकार नहीं कर ली?"

नीलाम्बरा ने मुस्कराते हुए पूछा, "यदि वह वेश्यावृत्ति करती हो तो क्या करेंगे?"

गोविन्द इस सम्भावना से अवाक् मुख रह गया। कुछ विचार कर उसने कहा, "देखो नीलाम्बरा! मैं ब्राह्मण सन्तान हूँ। मैं वेश्यागामी नहीं हो सकता। इस पर भी एक बात करूँगा कि उसके घर के द्वार के बाहर नित्य भगवद्-भजन करने बैठ जाया करूँगा।"

"इससे क्या लाभ होगा?"

"जब वह भिक्षा देने निकला करेगी तो उसके दर्शन कर लूँगा और साथ ही क्या जाने वह पुनः मानव-जन्म पाकर मेरी पत्नी बने सके।"

ऊदल और नीलाम्बरा हँसने लगे। उनको हँसते देख गोविन्द ने कहा, "तो तुमको इस बात पर विश्वास नहीं कि भगवान् में यह सामर्थ्य है? वह अपने भक्तों को पुनः मनुष्य-जन्म नहीं दे सकता क्या?"

"भगवान् में क्या सामर्थ्य है और क्या नहीं, यह प्रश्न नहीं, गोविन्दजी!" ऊदल ने कहा, "हम विचार कर रहे थे कि आपमें सामर्थ्य है क्या कि एक वेश्या के मन में भगवान् का अंकुर जमा सकें ?"

"मैं यत्न कर सकता हूँ। शेष भगवान् के हाथ में है। उस दिन चौक में बच्चों को गीत सुनकर नाचते देखा नहीं था क्या?"

"वे बच्चे थे। उनके हृदय सरल होते हैं। पर वेश्या...।"

गोविन्द ने बात बीच में ही काटकर कहा, "नीलाम्बरा! छोड़ो इस बात को। तुम मुझको बताओ कि वह कहाँ है? मैं कल से ही भगवान् का नाम लेकर कार्य में लग जाऊँगा। मैं भगवान् से होड़ लगा दूँगा। देखूँगा, कब तक वह मेरी प्रार्थना नहीं सुनता।"

नीलाम्बरा ने गम्भीर होकर कहा, "मैं कल उससे पूछकर उसका पता बता सकती हूँ।"

"तो तुम कल आओगी?"

"नहीं, ये आएँगे। मुझको आने-जाने में कष्ट होता है।"

गोविन्द के मन में यह बात बैठ गई कि रुक्मिणी वेश्यावृत्ति करती है। इस बात का विश्वास हो जाने पर उसने अपने मन में योजना बना ली। अगले दिन प्रातःकाल वह वेश्याओं के कटरे में जा पहुँचा और कटरे के एक कोने से दूसरे कोने तक चलते हुए अपने एकतारे और करतालों के साथ रुक्मिणी का प्रिय गीत गाने लगा—

''तुम सखा बने हो ग्वालों के, पर चलन विलक्षण रखते हो,
वे ढोर चरावें बन में, तुम बंसी में माधुरी भरते हो।
मत करो बाँसुरी की गुंजार
हृदय में उठते हैं उद्‌गार
सोना हो गया है इक भार
क्यों स्वर गगना में भरते हो?
तुम सखा बने हो ग्वालों के, पर चलन विलक्षण रखते हो,
वे ढोर चरावें बन में, तुम बंसी में माधुरी भरते हो।
जी करता है उठ धावन को
तव सुन्दर दर्शन पावन को
पर लज्जा कहे न जावन को
क्यों मधुर स्वरों को रचते हो?
तुम सखा बने हो ग्वालों के, पर चलन विलक्षण रखते हो।
वे ढोर चरावें बन में, तुम बंसी में माधुरी भरते हो।
धन्य धन्य राधा है प्यारी
लोक लाज तुम पर थी बारी
उठ चल दी बन निपट बावरी
इस पर भी रचना रचते हो।
तुम सखा बने हो ग्वालों के, पर चलन विलक्षण रखते हो,
वे ढोर चरावें बन में, तुम बंसी में माधुरी भरते हो।''

इस कटरे में यह अनोखी बात थी। यहाँ तो रात को मृदंग, वीणा की ध्वनि उठा करती थी। कोकिल-कंठी ललनाओं की मधुर स्वर-लहरी रात-भर गूँजा करती थी।

रात-भर के परिश्रम से थके हुए यहाँ के निवासी इस समय गहरी निद्रा में सोया करते थे। आज यह विलक्षण ध्वनि सुनाई दी तो निद्रा में अलसाई आँखों ने झरोखों पर से झाँक-झाँककर देखना आरम्भ कर दिया कि यह मधुशाला में भगवान् को लाकर बैठाने का यत्न कौन कर रहा है। एक बढ़ी हुई दाड़ी-मूँछों वाले व्यक्ति को एकतारा लिए गीत-गोविन्द गाते देख खिड़की और झरोखों पर चिकें पड़ गईं। किसी ने कह दिया, 'बाबा! आगे।' किसी ने कहा 'ओ पगले! सोने दे।' और किसी-किसी ने झरोखों में से एक टका फेंक दिया।

गोविन्द बिना कुछ लिए और बिना डाँट-डपट सुने, अपने कार्य में लीन था। एक नये बने और देखने में सुन्दर कोठे के नीचे, जब वह पहुँचा तो अन्य स्थानों से भिन्न व्यवहार उसने देखा। कोठे से एक दासी उतरी और उसने गोविन्द

को पुकारा, "बाबा! इधर आओ।"

गोविन्द लौट आया और उस दासी के सम्मुख खड़ा हो गया। दासी ने कहा, "स्वामिनी कहती हैं कि यहाँ इस चौतरे पर बैठकर गाओ और निश्चिन्त होकर कीर्तन करो। इधर-उधर घूमने से थक जाओगे। जब जाने लगो तो बताना, तुमको भिक्षा मिलेगी।"

गोविन्द को प्रतीत हुआ कि इसकी स्वामिनी अन्य से विलक्षण है। सम्भव है यह रुक्मिणी ही हो। इस विचार के आते ही वह चौतरे पर बैठ गया और गाने लगा।

अब उसने गाने के साथ तानालाप भी आरम्भ कर दिया। फिर उसने अपना प्रिय गीत गाया—

"इस अन्धकारमय जगती में इक तुम ही आश्रय गोविन्द हो चक्षुहीन सागर के तट पर।

फोकट में जीवन गला रहा हूँ
पड़े सामने रत्नों पर भी
महामूर्ख मैं अति निर्धन हूँ
दीनों के रक्षक तुम पालक हो दयामय तुम गोविन्द हो,
इस अन्धकारमय जगती में इक तुम ही आश्रय गोविन्द हो।'

अपने विचारानुसार वह आशा कर रहा था कि रुक्मिणी उसको दर्शन देगी, परन्तु एक पहर-भर के गाने के बाद भी, जब वह नहीं आई तो वह यह समझा कि उसको अपने व्यवसाय के कारण लज्जा लग रही होगी, इस कारण नहीं आ रही। उसकी इस लज्जा का निवारण करने के लिए उसने वहाँ नित्य आकर भगवद्-भजन करने का निश्चय कर लिया।

उसने गाना बन्द किया और अपनी करताल तथा एकतारे को समेट कर जाने का विचार किया, तो वही दासी कोठे से उतरी और एक रजत उसके सामने फेंक बोली, "स्वामिनी धन्यवाद करती हैं।"

गोविन्द ने रजत की ओर देखा और बिना उठाए कटरे से बाहर निकल गया।

:: 6 ::

गोविन्द को पांथागार में भेज गजानन ने रुक्मिणी को बुलाया। वह पहले ही ताक के पीछे खड़ी गोविन्द के साथ होने वाले वार्त्तालाप को सुन रही थी। अब बैठक में आकर मिश्रजी के सामने बैठ गई और बोली, "मैंने पूर्ण वार्त्तालाप सुन लिया है। आप क्या समझते हैं?"

''इसमें समझने को कुछ है नहीं। यह रमणाचार्यजी का पुत्र अपना देश और परिवार छोड़कर तुमको ढूँढ़ रहा है। इससे यह प्रकट होता है कि यह सत्य ही तुमसे प्रेम करता है। इस पर भी यह कोई कारण नहीं कि तुम्हें इससे विवाह करना ही चाहिए।''

''इस विषय में हमारी आर्षप्रथा लड़कियों की इच्छा को प्रधानता देती है। किसी पुरुष का किसी लड़की के पीछे भागना कुछ भी अर्थ नहीं रखता। विवाह के लिए लड़की की इच्छा सर्वोपरि होनी चाहिए। तुम बताओ कि तुम्हारा मन क्या कहता है?''

''पिता जी! मैं इतनी जल्दी निर्णय नहीं कर सकती। एक समय ऊदल के मामा शंकर मेरे पीछे पड़े थे, परन्तु जब विवाह का प्रश्न उपस्थित हुआ तो कान कतरा गए। क्या जाने, इसका विचार भी कुछ वैसा ही हो। मैं चाहती हूँ कि गोविन्द के विषय में अभी और जानकारी प्राप्त की जाए। तदनन्तर कुछ निर्णय हो सकता है।

''देखिए पिता जी! यदि आप अपने मन में सन्तोष कर लेते हैं और मुझको विवाह की आज्ञा देते हैं तो मुझको मानना होगा। आपने रमा का विवाह किया है और वह सुखी है। अतः आपके आशीर्वाद से मैं भी सुखी हो सकूँगी।''

इस पर गजानन ने ऊदल को कहा कि वह गोविन्द से मिलकर और अधिक जानकारी प्राप्त करे।

अगले दिन ऊदल ने कहा, ''काका! नीलाम्बरा गोविन्द से मिलने जा रही है। पिता जी ने मना किया था, परन्तु वह अपनी सखियों के विषय में जानना चाहती है।''

नीलाम्बरा और ऊदल गोविन्द को मिलने गए और बातों-ही-बातों में नीलाम्बरा ने उसके मन की अवस्था जानने के लिए रुक्मिणी के वेश्या होने की सम्भावना प्रकट कर दी। इसका परिणाम यह हुआ कि अगले दिन गोविन्द वेश्याओं के कटरे में गीत गाने जा पहुँचा!

गजानन ने नगरपालक से भी गोविन्द के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए कहा। नगरपालक ने गोविन्द के काशी की गलियों में कीर्तन करते घूमने और बच्चों को उनके गीतों की ध्वनि के साथ नाचने की सूचना दी तथा उसके विषय में और अधिक जानने का वचन दिया।

एक दिन नगरपाल ने यह सूचना दी, ''गोविन्द दो दिन तक बेकार रहने के बाद नगर में एकतारा लेकर गया और वेश्याओं के कटरे में जाकर भजन करता रहा है। उसको वहाँ गाने का पारिश्रमिक एक रजत मिला था। वह उसने नहीं लिया।''

अगले दिन ऊदल उससे मिलने गया। वह पांथागार में नहीं था। ऊदल ने समझा कि वह पुनः रुक्मिणी की खोज में वेश्याओं के कटरे में गया होगा। अतः वह उसके लौटने की प्रतीक्षा में वहाँ बैठा रहा।

ऊदल समझता था कि गोविन्द अपनी योजना पर काम कर रहा है। अतः वह जानना चाहता था कि वहाँ रुक्मिणी के न मिलने की उसके मन पर क्या प्रतिक्रिया हुई है। इसी अर्थ गजानन ने ऊदल को उसके पास भेजा था।

आज गोविन्द लौटा तो वह प्रसन्न था। ऊदल उसकी प्रसन्नता को देख विस्मय में उसका मुख देखता रह गया। गोविन्द ने भोजन किया और फिर ऊदल से पूछने लगा, ''ऊदल भैया! नीलाम्बरा कैसी है?''

''अभी ठीक है। हम दो दिन में बच्चे के जन्म की आशा कर रहे हैं।''

''वह रुक्मिणी से मिल सकी है क्या?''

''रुक्मिणी के पास उस दिन के वार्तालाप का समाचार भेज दिया है।''

''आपने उससे बताया है क्या कि मैं उसके वेश्यावृत्ति स्वीकार करने पर भी उसका विचार नहीं छोड़ूँगा।''

''हाँ, हमने कहला भेजा है कि तुम्हारा प्रेम बना रहेगा और तुम अविवाहित अगले जन्म तक उसकी प्रतीक्षा करोगे।''

''आपने ठीक किया है। उसका क्या उत्तर आया है?''

''अभी तक कोई उत्तर नहीं आया।''

''आशा है,'' गोविन्द ने मुस्कराते हुए कहा, ''कल तक उत्तर मिल जाएगा।''

''सत्य;'' ऊदल ने आश्चर्य करते हुए पूछा, ''कैसे कहते हो यह?''

इस पर गोविन्द ने आपबीती सुना दी। उसने कहा, ''मुझको विश्वास है कि मुझको उसने पहचान लिया है। मैं तीन-चार दिन से कटरे में जाकर संगीत करने लगा हूँ। पहले दिन मेरे संगीत को सुनकर उसने मुझको एक रजत देने का यत्न किया। मैंने स्वीकार नहीं किया।

''दूसरे दिन उसने एक रजत के स्थान एक स्वर्ण भेजा। मैंने वह भी नहीं लिया। इस पर उसकी दासी ने मुझसे पूछा कि मैं क्या चाहता हूँ? मैंने कुछ नहीं बताया।

''तीसरे दिन उसने मुझको स्वर्णमुद्राओं की थैली भेजी। उसमें पचास से अधिक स्वर्णमुद्राएँ प्रतीत होती थीं। मैंने वे भी नहीं लीं। दासी ने बताया है कि स्वामिनी मेरे गीतों को सुनकर रोया करती है। दासी कहती थी कि वह पारिश्रमिक देना चाहती है। मैंने कह दिया है कि वह उसको कह दे कि यदि वह सत्य ही पुरस्कार देना चाहती है तो एक मुट्ठी-भर तंदुल स्वयं आकर दे। वह

मैं स्वीकार कर लूँगा।

"मुझको विश्वास हो रहा है कि यह रुक्मिणी है और मैं आशा करता हूँ कि वह अवश्य स्वयं तंदुल देने आएगी।"

ऊदल जानता था कि यह गोविन्द का भ्रम है। एक बार तो उसके मन में आया कि वह उसका भ्रम निवारण कर दे, परन्तु विरोचन के पिता तथा रुक्मिणी से राय किये बिना वह कुछ कह नहीं सका। साथ ही वह यह भी समझता था कि यदि वह रुक्मिणी से वास्तविक प्रेम करता है तो इस भ्रम निवारण के बाद वह अपनी खोज पुनः जारी रखेगा।

उस दिन नगरपालक का एक अन्य संदेश आया कि जिस वेश्या के द्वार पर गोविन्द अड्डा लगा रहा है, वह अति सुन्दर नर्तकी है। वह बहुत धनी है और उसकी दासी से यह विदित हुआ है कि नर्तकी ने गोविन्द को अभी तक देखा नहीं। वह उसके संगीत पर ही मुग्ध है।

गोविन्द के भजनों में एक विशेष प्रकार की कोमलता और भावुकता भरी रहती है। इस बात को नर्तकी ने बहुत पसन्द किया है।

नगरपालक और ऊदल के वृत्तान्त से रुक्मिणी और गजानन के मन में उसके भ्रम-निवारण होने पर प्रतिक्रिया जानने की अभिलाषा उत्पन्न हो गई। उनका विचार था कि गोविन्द रुक्मिणी के पास आएगा। रुक्मिणी का कहना था कि इस घटना को अपने स्वाभाविक परिणामों पर पहुँचने दिया जाए। इसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया जाए।

अगले दिन मध्याह्नोत्तर ऊदल उससे मिलने गया। गोविन्द पांथागार में नहीं था। वह देर तक उसकी प्रतीक्षा करता रहा, परन्तु वह नहीं लौटा। इसमें नगरपालक द्वारा सूचना जानने के लिए वह लौट आया। नगरपालक ने मिश्रजी को कहला भेजा कि उस नर्तकी ने गोविन्द को अपने कोठे पर बुला लिया है और अभी तक वह नीचे नहीं उतरा।

इस सूचना से तो रुक्मिणी के माथे पर त्योरी चढ़ गई। गजानन और विरोचन की माता ने इस त्योरी को देख लिया और इसका अर्थ यह समझा कि गोविन्द के इस कृत्य से उसके मन में घृणा उत्पन्न हुई है। वे जब तक यह न जान लें कि गोविन्द और नर्तकी का सम्बन्ध कैसा रहता है, रुक्मिणी को कुछ कहना नहीं चाहते थे। इस कारण गजानन ने ऊदल से कहा, "अगले दिन पुनः पता करो कि अब वह क्या करता है।"

अगले दिन ऊदल नहीं जा सका। नीलाम्बरा के लड़का हुआ था।

एक सप्ताह के बाद, जब नीलाम्बरा सर्वथा स्वस्थ हुई, ऊदल पान्थागार में गोविन्द से मिलने गया। गोविन्द भोजन कर विश्राम कर रहा था। ऊदल को

आया देख वह उठकर बैठ गया और पूछने लगा, ''सुनाओ भैया ऊदल! नीलाम्बरा कैसी है?''

''उसके लड़का हुआ है और सब कहते हैं कि लड़का बहुत सुन्दर है।''

''बहुत-बहुत बधाई हो।''

''धन्यवाद, गोविन्द भैया!''

''रुक्मिणी का क्या समाचार है? उसने मेरे सन्देश का क्या उत्तर दिया है?''

''उसका कोई उत्तर नहीं आया। हम उत्तर की उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे हैं।''

''पर वह है कहाँ?''

''आपने कहा था कि आप उसका पता पा गए हैं।''

''वह मेरी भूल थी। वह तो नीलमणि नर्तकी है। बहुत अच्छी है। बहुत अच्छा गाती और नाचती है। काशी के सब धनी-मानी युवक उस पर स्वर्णमुद्राओं की वर्षा करते हैं। इतना सोना तो चिदम्बरम् के मन्दिर में भी नहीं चढ़ाया जाता।''

''सत्य? तब तो वह और उसका नृत्य दर्शनीय होगा?''

''हाँ, मेरे साथ चलो। मैं सायंकाल उसकी बैठक पर जाता हूँ।''

''आज मुझको कुछ काम है। फिर किसी दिन चलेंगे।''

इस पर गोविन्द उसके नृत्य और संगीत की प्रशंसा करने लगा। ऊदल ने उसके मन को और अधिक टटोलने के लिए कह दिया, ''नृत्य और संगीत देखने के लिए तो चलेंगे ही। परन्तु वह देखने में कैसी है?''

''अति सुन्दर है।''

''रुक्मिणी से भी अधिक?''

''हाँ; इस पर भी रुक्मिणी रुक्मिणी ही है।''

:: 7 ::

बात इस प्रकार हुई। नीलमणि ने पहले दिन गोविन्द को कटरे में गाते हुए, चक्कर लगाते सुना तो उसको अपने कोठे के नीचे चौतरे पर बैठकर गाने के लिए कहा। उसका विचार था कि कोई भिखारी है, कुछ भिक्षा दे दी जाएगी। परन्तु एक रजत, जो दासी ने उसके सम्मुख फेंका था, उसने नहीं उठाया। दासी की इस सूचना पर नीलमणि ने समझा कि कदाचित् वह इसको कम समझता है। इस कारण अगले दिन जब वह पुनः उसके चौतरे पर बैठकर गाने लगा तो नीलमणि ने विस्मय और प्रसन्नता प्रकट की। उसने गोविन्द के संगीत को बहुत

ही रुचिपूर्वक सुना, पसन्द किया और उस दिन एक रजत के स्थान पर एक स्वर्ण भेज दिया। जब यह भी स्वीकार नहीं हुआ तो अगले दिन स्वर्ण मुद्राओं की एक थैली भेजी गई। गोविन्द ने यह भी नहीं ली और पूछने पर उसने यह माँग उपस्थित कर दी कि नर्तकी स्वयं मुट्ठी-भर तंदुल देने के लिए आए।

अगले दिन नर्तकी, इस बिगड़े मस्तिष्क वाले व्यक्ति को, अपने रूप-लावण्य पर मुग्ध मान, उसको दर्शन देने के लिए तैयार हो गई। वह जानती थी कि उसके दर्शन-मात्र के लिए कई धनी-मानी उसको बीसियों स्वर्ण दे देते हैं। नर्तकी ने समझा कि यह गायक अपने संगीत का मूल्य दूसरों की बीसियों स्वर्ण मुद्राओं से अधिक समझता है। अत: उसने उसे अपने हाथ से दो मुट्ठी भर तंदुल देने के लिए उसको अपने कोठे पर बुला लिया।

जब उसको गोविन्द ने देखा तो वह स्तब्ध खड़ा रह गया। वह रुक्मिणी नहीं थी। इस पर भी वह अद्वितीय सुन्दरी थी। नर्तकी उसको आश्चर्य में खड़ा देख मुस्कराई और पूछने लगी, "क्या देख रहे हो बाबा?"

"तो तुम रुक्मिणी नहीं हो?" गोविन्द ने लम्बी साँस खींचकर कहा, "क्षमा करना देवी, भूल हो गई है।"

"मेरे हृदय की अधिष्ठात्री देवी। मैं उसकी खोज में घूम रहा हूँ।"

इतना कह गोविन्द ने तंदुल लेने के लिए अपनी झोली फैला दी। नर्तकी ने अन्यमनस्क भाव में तंदुल झोली में डाल दिये, गोविन्द लेकर कोठे से नीचे उतरने के लिए लौटा तो नर्तकी ने आवाज दे दी, "ठहरो।"

गोविन्द ठहर गया। वह उसके पाँव की ओर देख रहा था। नर्तकी ने पूछा, "गायक! क्या नाम है तुम्हारा?"

"गोविन्द प्रिय।"

"कहाँ के रहने वाले हो?"

"चिदम्बरम् के।"

"तो क्या मेरा रूप पसन्द नहीं आया?"

"तुम बहुत सुन्दर हो।"

"तम्हारी रुक्मिणी मुझसे अधिक सुन्दर है क्या?"

"नहीं, इस पर भी तो पसन्द अपनी-अपनी है।"

"तो वह भी कोई वेश्या है?"

"सुना था कि उसने वेश्यावृत्ति स्वीकार कर ली है। इसी कारण इस कटरे में, उसके प्रिय गीत को गा-गाकर उसको ढूँढ़ रहा था। वह यह गीत बचपन से गाया करती थी। मैंने समझा था कि तुमने मुझको गाने का निमन्त्रण दिया है, तो तुम रुक्मिणी हो। यह मेरी भूल थी।"

"पर मैं रुक्मिणी नहीं हूँ क्या?"

गोविन्द ने सामने खड़ी नर्तकी के मुख पर पुनः देखा। उस पर अति मनमोहक मुस्कराहट विराजमान थी। गोविन्द ने कहा, "तुम सुन्दर तो बहुत हो।"

"तो ठहरो। भीतर आ जाओ। कदाचित् तुम्हारी रुक्मिणी यहाँ पर ही मिल जाए।"

इसने गोविन्द के मन में पुनः आशा बाँध दी। वह नर्तकी के पीछे-पीछे उसकी बैठक में जा पहुँचा। बैठक उसकी नृत्यशाला थी। वह एक अति सुसज्जित स्थान था। नर्तकी ने एक प्रश्रय के सहारे बैठ गोविन्द को अपने सामने बैठने को कहा। गोविन्द बैठ गया और अपना एकतारा और करताल अपने समीप रख चित्रवत् नर्तकी को देखने लगा।

नर्तकी ने बताया, "मैं नीलमणि हूँ। मैं चाहती हूँ कि तुम सायंकाल तक यहाँ रहो। उस समय तुम देखोगे कि मेरे दर्शन करने के लिए लोग क्या कुछ देते हैं। इससे तुमको विदित होगा कि तुम्हारे भजन सुनकर तुमको दर्शन देने से मैं तुम्हारे भजनों का कितना मूल्यांकन करती हूँ। बताओ, भोजन किया है?"

"नहीं, अभी नहीं किया।"

"तो आज भोजन यहीं होगा। ठीक है न? सायंकाल तुम गाओगे और दर्शक सुनेंगे।"

"पर मैं तो गीत-गोविन्द ही गाता हूँ। यहाँ आने वाले उसको पसन्द करेंगे क्या?"

"यही तो देखना है कि जो मूल्य मैंने तुम्हारे संगीत का आँका है, क्या यहाँ आने वाले भी वही मूल्य लगाते हैं?"

"परन्तु इसका रुक्मिणी से क्या सम्बन्ध है?"

"है। तुम्हारी रुक्मिणी तुमको मिल सकती है।"

गोविन्द अनिश्चित मन बैठा रह गया। नर्तकी उठी और भीतर के कमरे में चली गई। दासी जो उसको भिक्षा देने नीचे आया करती थी, उसके पास आई और बोली, "ब्राह्मण देवता! उठो। स्नानादि करना चाहते हो तो कर लो, भोजन का समय हो रहा है।"

गोविन्द को आज बहुत बढ़िया पकवान खाने को मिला और उसने पेट-भर खाया। खाने के बाद वह बैठक में विश्राम करने बैठा तो सो गया। उसकी नींद तब खुली जब नर्तकी अपना नित्य का अभ्यास करने लगी। उसके शिक्षक उसको सिखाने आए हुए थे। चार घड़ी-भर अभ्यास के बाद शिक्षक लोग चले गए और नर्तकी पुनः अपने कमरे में चली गई। इस सब समय गोविन्द बैठक के एक कोने में बैठा नर्तकी को अभ्यास करते देखता रहा। जब वह चली गई तो

दासी आई और पूछने लगी, ''इस समय आप दूध लेंगे अथवा मिष्ठान्न?''

''कुछ लेने की इच्छा नहीं हो रही।''

''स्वामिनी का कहना है कि रात का भोजन मध्यरात्रि के बाद ही हो सकेगा। अभी कुछ ले लिया जाए तो ठीक रहेगा।''

''जैसी तुम्हारी स्वामिनी की इच्छा हो।''

दासी गई और चाँदी की थाली में मिठाई ले आई। साथ ही शीतल सुवासित पेय था। गोविन्द को यह बहुत स्वादिष्ट और सुखप्रद लगा।

सायंकाल दर्शक आने लगे। सब आनेवाले बैठक में, दीवार के साथ-साथ बैठते जाते थे। वे सब गोविन्द की ओर देख-देखकर विस्मय करते थे। गोविन्द की बढ़ी हुई दाढ़ी-मूँछ और केशों को देख सब मुस्कराते थे और परस्पर पूछते थे, ''यह यहाँ कैसे?''

कोई इस विषय में नहीं जानता था। अत: किसी को भी उसके विषय में जानने की लालसा पूर्ण नहीं हुई। इस पर भी किसी ने गोविन्द से पूछा नहीं। यह सदाचार के अनुकूल नहीं समझा गया।

जब दर्शक आ रहे थे, नर्तकी अपने आगार में शृंगार कर रही थी। इस समय एक दासी आई और एक स्वर्ण की थाली में पान लेकर घूम गई। थाली में पान-इलायची, सुपारी और सुगन्धि रखी हुई थी। दर्शक पान, इलायची, सुपारी उठाते थे, सुगन्धि अपने कपड़ों पर लगाते थे, फिर एक-दो स्वर्ण थाली में रख देते थे। जब दासी सबको पान-सुपारी दिखा चुकी तो वह थाली में रखी स्वर्णमुद्राओं को गिनने लगी। कुल पचहत्तर स्वर्णमुद्रा थीं। गिनकर दासी ने कहा, ''स्वामिनी के दर्शन की राशि अभी पूर्ण नहीं हुई।''

एक दर्शक ने पूछ लिया, ''कितनी और चाहिए?''

''अभी पच्चीस और चाहिए।''

गोविन्द यह देख कि नर्तकी सौ मुद्राएँ लेकर दर्शन देती है, चकित रह गया। दर्शकों ने परस्पर बात की और चार व्यक्तियों ने मिलकर शेष मुद्राएँ एकत्रित कर दीं। इस पर दासी ने सबको नमस्कार किया और थाली लेकर भीतर चली गई।

अब मृदंग और वीणा बजाने वाले आ गए और अपने-अपने वाद्यों में स्वर भरने लगे। जब वाद्य स्वर पूरे हो गए तो सोलहों शृंगार किए, पाँवों में पायल बाँधे हुए नर्तकी निकली और हाथ जोड़ नमस्कार कर, वीणा बजाने वाले के आगे बैठ गई।

नीलमणि कुछ काल तक दर्शकों से बातचीत करती रही। फिर उसने कहा, ''आज पण्डित गोविन्द प्रिय गाएँगे और मैं नाचूँगी।''

इसके बाद उसने गोविन्द प्रिय से कहा, "आइए गोविन्दजी।"

गोविन्द संकोच अनुभव कर रहा था। सब दर्शक उसकी ओर देखकर कहने लगे, "आइए, आइए, महाराज!"

गोविन्द उन सबका आग्रह सुन अपने स्थान से उठा और दर्शकों के बीच खड़ा होकर गाने लगा—

"श्रृंगार रस भावात्म स्वरूप हृत धैर्यक:
सरस्सार सहंसादि मौन दृङ्मुद्रणादिकृत
वृन्दावन द्रुमलता मधुधारा प्रवर्षक:
लीलागतिर्व्रज भुवोमदर्न क्लेश हानि कृत॥"

इस श्लोक के बाद उसने गाया—

"कमल मुख देखत कौन अघाय!
सुन री सखी लोचन अलि मेरे मुदित रहे अरुणाय
कमल मुख देखत कौन अघाय!"

इस समय नीलमणि उठकर ठुमकी देने लगी और गोविन्द बार-बार गाने लगा—

"कमल मुख देखत कौन अघाय!"

इस पद के बार-बार और भिन्न-भिन्न स्वर-विन्यास में गाने पर नर्तकी का नृत्य होने लगा। इस एक पद पर ही मुद्राओं-पर-मुद्राएँ बनने लगीं—

गाना आगे चला—

"मुक्त माल लाल उर ऊपर जनु फूली बन राय
कमल मुख देखत कौन अघाय!"

इस प्रकार संगीत के साथ-साथ नर्तकी का नृत्य हुआ। वीणा और मृदंग की संगत से वह ठाठ बँधा कि दर्शक मंत्र-मुग्ध हो देखते रह गए। इससे पहले वहाँ लोकगीत हुआ करते थे। आज गीतों ने नवीन रंग लिया। नृत्य भी नवीन मुद्राओं में प्रकट होने लगा। यह नवीन भाव और नवीन ढंग दर्शकों ने बहुत पसन्द किया। गोविन्द गा रहा था—

"गोवर्धन धर अंग-अंग पर राधिका बलि जाए
कमल मुख देखत कौन अघाय!"

इस प्रकार तीन गीत हुए और उनके साथ नर्तकी के नृत्य हुए। दर्शकों ने रजत और स्वर्ण उस पर निछावर किए। संगीत तथा नृत्य की माँग अधिक और अधिक होती गई। मध्य रात्रि के समय नीलमणि ने स्वयं एक पद गा दिया—

"चली राधिका मन मात्ती
वेणु धुनि सुन यमुना तट को मुख से कृष्ण कृष्ण गाती।

चली ? राधिका मन मात्ती

मोर मुकुट पीताम्बर काँधे छवि अति मन को भाती।''

इसके साथ नृत्य समाप्त हुआ और सभा विसर्जित हुई। नीलमणि आज थक गई थी। उसने आज नृत्य मन से और पूरे कौशल के साथ किया था। इस कारण जब सब लोग चले गए तो उसने सब निछावर को एकत्रित कर लिया और उसमें से मुट्ठी भर-भरकर मृदंग तथा वीणा बजाने वालों के तथा गोविन्द के सामने ढेर कर दिये। सबने अपना-अपना धन समेट लिया, परन्तु गोविन्द ने एक मुद्रा भी नहीं उठाई। उसने कहा—

''अब मैं चलता हूँ।''

''क्यों, यह पर्याप्त नहीं क्या ?''

''मुझको इसकी लालसा नहीं है।''

''तो किसकी लालसा है ?''

''रुक्मिणी की।''

''भक्त! आँखें खोलकर देखोगे तो रुक्मिणी मिल जाएगी। कल प्रातः आना और अपना संगीत यथावत् करना।''

गोविन्द ने कुछ उत्तर नहीं दिया और चल दिया। उसका विचार अब वहाँ आने का नहीं था। जिस वस्तु की उसको खोज थी, वह वहाँ नहीं मिली।

इस पर भी रात-भर वह नीलमणि की रसमयी मुद्राओं के स्वप्न लेता रहा।

:: 8 ::

अगले दिन गोविन्द यथासमय उठा और नित्य-कर्म से निवृत्त हो अनायास कटरे में जा पहुँचा और अपना एकतारा ले चौतरे पर बैठ गाने लगा। उसने अभी आरम्भ ही किया था कि दासी आई और उसको ऊपर बैठक में ले गई। वहाँ बैठकर दासी ने कहा, ''देवी कहती है कि आपका संगीत वेश्या नहीं है। यह रुक्मिणी देवी के निमित्त है। आप यहाँ बैठकर गाएँगे तो वह सुन लेगी।''

गोविन्द ने बैठक में बैठकर गाया। आधा पहर-भर संगीत होने पर नीलमणि अँगड़ाइयाँ लेती हुई अपने आगार से निकल आई और गोविन्द की ओर मुस्कराकर देखते हुए कहने लगी, ''रात-भर मैं गोविन्द गोवर्धनधारी, शिरमोर मुकुट पीताम्बर काँधे लिए हुए की मूरत स्वप्नों में देखती रही हूँ। अब नींद खुलने पर गोविन्द की मधुर ध्वनि सुन गोविन्द के दर्शन करने आ गई हूँ।

''देखिए, आपके लिए अल्पाहार आता है। उसके बाद आप चाहें तो जा सकते हैं, परन्तु सायंकाल दीप जलने से पूर्व आपको आ जाना चाहिए। दर्शक व्याकुलता से आपकी प्रतीक्षा करते होंगे।''

"क्या करूँगा आकर?"

"भक्तों को रिझाने आ जाइएगा। राधिका को समझाने के लिए और अपनी मन-मोहिनी छटा बिखेरने के लिए चले आइएगा।"

"मनमोहिनी छटा? हँसी कर रही हो नर्तकी! मुझ रीछ समान व्यक्ति की रूप-छवि क्या हो सकती है!"

"तभी कहती हूँ कि आँखों को खोलकर देखिए। विचार करिए कि आप कौन हैं और आपके सामने कौन बैठी है?"

"मैं रमणाचार्य का कनिष्ठ पुत्र गोविन्द प्रिय हूँ और तुम वाराणसी की विख्यात नर्तकी नीलमणि। इतने के लिए आँखें खोलकर देखने की क्या आवश्यकता है?"

"तो आपने कुछ नहीं देखा। अभी देखने और समझने में समय लगेगा। इसीलिए तो सायंकाल आने के लिए निमंत्रण दे रही हूँ। अच्छा, यह बताइए कि कृष्ण का प्रेम राधा से अधिक था अथवा रुक्मिणी से?"

"यह प्रश्न अति विकट है। मेरे पास इसका उत्तर नहीं है।"

"तो सुनिए। जब कृष्ण राधा को छोड़कर मथुरा चले गए तो उसने वियोग में अपना शरीर छोड़ दिया और रुक्म की पुत्री रुक्मिणी के शरीर में जा बैठी। और तब अपने भाई-बन्धुओं की अवहेलना कर कृष्ण को विवाह का निमंत्रण दे बैठी—"भगवान् कृष्ण तो योगेश्वर थे। वे समझ गए कि कौन आह्वान कर रहा है। वे गए और उसको ले आए। अभी भी समझे हैं अथवा नहीं?"

"तो तुम रुक्मिणी वारांगल हो नीलमणि के कलेवर में?"

"यह अब गोविन्द के समझने की बात है।"

"परन्तु मुझको बताया गया है कि रुक्मिणी ने अपना कलेवर नहीं छोड़ा। वह अभी जीवित है।"

"ऐसे ही जैसे कृष्ण के वृन्दावन से जाने के बाद राधा जीवित थी। वास्तव में वह उसी दिन मर गई थी, जिस दिन कृष्ण ने वृन्दावन छोड़ा था। बाद में उसका शरीर मात्र ही रह गया था, जिसका भोग उसका पति करता रहा था। यदि राधा जीवित होती तो अपने पति को छोड़कर मथुरा अथवा द्वारिका में चली गई होती। राधा का शरीर ही उसके पति के पास रहा था।"

गोविन्द ने गम्भीर होकर कहा, "यह विषय सत्य ही विचारणीय है और इसमें बहुत कुछ जानने और समझने की आवश्यकता है।"

"जानने और समझने के लिए ही बुला रही हूँ। अवश्य आइएगा।"

गोविन्द अब नित्य सायंकाल के समय नीलमणि की बैठक पर चला जाता। वहाँ अब नवीन रंग चढ़ने लगा था। नए-नए विचार और स्वभाव के लोग

आने लगे थे। बैठक में संख्या बढ़ने लगी और दर्शन-भेंट बढ़ा दी गई। जब तक सवा सौ मुद्रा नहीं मिलती, नर्तकी नाचने नहीं आती। साथ ही अब लोकगीतों के साथ भजन-कीर्तन भी होता। गोविन्द गाता तो नीलमणि राधा बन नाचती। कभी-कभी वह स्वयं भी लोकगीत गाती।

नगरपालक इस सबकी सूचना गजानन के पास भेज रहा था। जिस दिन यह सूचना आई कि गोविन्द नित्य नर्तकी की बैठक में जाकर गाता है और नीलमणि उसके गीतों के साथ नाचती है तो रुक्मिणी ने कह दिया, ''पिता जी! गोविन्द में मेरी अब कुछ भी रुचि नहीं रही। इस कारण उसको मेरा पता देने की आवश्यकता नहीं।''

गजानन का कहना था कि एक ब्राह्मण कुमार किसी भ्रम में फँसकर पतन की ओर लुढ़क पड़ा है। इसे बचाने के लिए उसको वस्तुस्थिति से अवगत करा देना चाहिए।

इस पर विरोचन ने कह दिया, ''आपका कहना इतना ठीक है कि उसको बचाने का यत्न करना चाहिए, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि बहन रुक्मिणी के विषय में उसको कुछ भी बताना आवश्यक है?''

''तो कैसे उसको वास्तविकता से अवगत कराया जाए?''

''उसको यह बताना चाहिए कि रुक्मिणी वेश्या नहीं हुई, प्रत्युत एक भले परिवार में लड़की बनकर रह रही है। किन्तु वह उससे विवाह करना नहीं चाहती।''

गजानन का विचार था कि उसको विवाह के विषय में अभी निराश नहीं करना चाहिए। उसको सुधरने का अवसर देना चाहिए।

''अच्छी बात है।'' ऊदल ने अपनी सम्मति जताते हुए कहा, ''काका! मैं उसके पास जाऊँगा और उसको यह कह दूँगा कि रुक्मिणी एक स्थान पर है, जहाँ से वह उसके जीवन का अध्ययन कर रही है। उसके वर्तमान जीवन को वह पसन्द नहीं करती। यदि वह रुक्मिणी से विवाह करना चाहता है, तो उसको अपना जीवन उचित स्तर पर लाना चाहिए।''

यह निश्चय हो गया और ऊदल उसको पान्थागार में मिलने गया। ऊदल को उससे मिले दो सप्ताह के लगभग हो चुके थे। वहाँ जाकर उसको पता चला कि वह नगरपालक की आज्ञानुसार, दो दिन से पांथागार छोड़ चुका है।

ऊदल ने पांथागार के संरक्षक से पूछा, ''उसको पांथागार छोड़ने की आज्ञा क्यों दी गई थी?''

''एक तो वह पांथागार में रात को बहुत देर कर लौटा करता था। दूसरे, उसकी एक नर्तकी से मित्रता हो गई है। इस कारण राज्य की ओर से एक ऐसे

व्यक्ति के लिए न भोजन का प्रबन्ध हो सकता है, न निःशुल्क रहने का।''

ऊदल ने समझा कि जिस मार्ग से वह उसको बचाना चाहता है, राज्य ने उसको उसी मार्ग पर धकेल दिया है। अतः उसने मन में निश्चय किया कि वह नर्तकी के निवास-स्थान पर पहुँचकर उससे बातचीत करेगा।

वह सायंकाल नीलमणि की बैठक पर जा पहुँचा। उस समय वहाँ भीड़ लगी हुई थी और गोविन्द के गीत के साथ-साथ नर्तकी का नृत्य हो रहा था। गोविन्द गा रहा था—

''प्यारे दरशन दीजो आय, तुम बिन रह्यौ न जाए।
जल बिन कमल चन्द्र बिन रजनी
ऐसे तुम देख्याँ बिन सजनी
आकुल व्याकुल फिरूँ रैन दिन विरह कलेजो खाय
प्यारे दरशन दीजो आय, तुम बिन रह्यौ न जाय।''

ऊदल भी नर्तकी का रूप-लावण्य और उसके नृत्य की श्रेष्ठता देख मन्त्रमुग्ध हुआ खड़ा देखता रह गया। संगीत और नृत्य मध्य रात्रि तक चलता रहा। नित्य की भाँति सभा विसर्जन करने से पूर्व नीलमणि ने यह लोकगीत गाया—

सावन की रतियाँ, पिय बिन नींद न अँखियाँ।
मोहे विरह सतावे
हिय मेरा बिलगावे
गीत किसी के गावे
मोरी धड़कत छतियाँ।
सावन की रतियाँ, पिय बिन नींद न अँखियाँ।''

'सुन्दर-सुन्दर' के घोष में सभा विसर्जित हुई। लोग उठकर जाने लगे। नर्तकी के परिचित उसको घेरकर खड़े हो गए और उससे वार्त्तालाप करने लगे। अवसर पाकर ऊदल गोविन्द के सामने जा खड़ा हुआ। गोविन्द की रूपरेखा बदल चुकी थी। दाढ़ी-मूँछ काट-छाँटकर ठीक कर दी गई थी। आज गोविन्द कौशेय वस्त्र पहने, सिर पर केशों को ढंग से सँवारे हुए खड़ा था। गोविन्द सुन्दर युवक दिखाई देता था। जहाँ ऊदल को गोविन्द के हाव-भाव देख विस्मय हुआ, वहाँ गोविन्द भी ऊदल को नर्तकी के कोठे पर आया देख आश्चर्य करने लगा। एकाएक गोविन्द को स्मरण हो आया कि उसने ही ऊदल को वहाँ आने का निमन्त्रण दिया था। यह स्मरण कर गोविन्द ने प्रसन्न होकर कहा, ''तो ऊदल भैया! तुम आ गए हो? कैसा लगा है नर्तकी का नृत्य?''

''सुन्दर है। वह स्वयं भी अनुपम सुन्दरी है।''

''मैंने इसकी सेवा स्वीकार कर ली है और यहाँ बहुत सुखी हूँ।''

''परन्तु तुमने तो कहा था कि ब्राह्मण सन्तान होने से वेश्यागामी नहीं हो सकते?''

''हाँ, मुझको स्मरण है। परन्तु यह नर्तकी है, वेश्या नहीं।''

''कैसे कहते हो? यह किसकी पत्नी है?''

''यह कुमारी है।''

''देखो गोविन्द! यह वातावरण ब्राह्मण पुजारी के पुत्र के लिए उपयुक्त नहीं है। अभी-अभी जो लोकगीत गाया जा रहा था वह और उसके साथ नृत्य और उसमें के हाव-भाव तो वासना से ओत-प्रोत थे। इन मुद्राओं के बनाने वाली नर्तकी किसी भले घर की गृहिणी नहीं बन सकती।''

''ऊदल भैया! तुम उसको जानते नहीं। इसी कारण उस पर लाँछन लगा रहे हो। यह व्यवहार तर्कसंगत नहीं है।''

ऊदल अपनी बात में भूमिहीनता का भास कर रहा था। इससे वह कुछ झेंपकर कहने लगा, ''ठीक है गोविन्द! मैं अपनी भूल मानता हूँ। इस पर भी इससे यह सिद्ध नहीं हो गया कि तुम भूल नहीं कर सकते।''

''यह समय बताएगा। समय से पूर्व प्रमाण नहीं दिया जा सकता।''

''तो तुम सुखी हो?''

''हाँ, मैं ऐसा ही अनुभव करता हूँ।''

''मुझको यह जानकर भारी प्रसन्नता हुई है?''

''छोड़ो इस बात को। नीलाम्बरा कैसी है?''

''ठीक है। बालक भी ठीक प्रतीत होता है।''

''मैं उसको देखने आ सकता हूँ क्या?''

''यह उससे पूछकर बताऊँगा। इस पर भी मिलकर क्या करोगे?''

''नहीं जानता कि क्या करूँगा? विचार आया था कि उसके बालक को देखूँ। क्यों विचार आया है, नहीं जानता।''

''नीलाम्बरा की इच्छा जानकर ही बता सकता हूँ।''

इस समय नीलमणि इन दोनों के समीप आकर खड़ी हो गई। गोविन्द ने परिचय करा दिया, ''पिता जी के संरक्षण में एक देवदासी नीलाम्बरा थी। वह काशी में आकर इनसे विवाह कर बैठी। ये उसके पति हैं।''

''ओह! स्मरण आ गया है। ये सुरेश्वर भट्टजी के सुपुत्र हैं।''

''हाँ।'' ऊदल ने उत्तर दिया।

''आपके विवाह की तो काशी में धूम रही थी।''

''जी हाँ।''

''देखिए भट्टजी! आधी रात व्यतीत हो चुकी है। हमें अभी भोजन करना है। आइए, आप भी करिए।''

''मैं भोजन करके ही यहाँ आया था। अब मैं जाता हूँ। आपका नृत्य देखकर चित्त बहुत प्रसन्न हुआ है। इस कला में कौशल के लिए आपको बधाई देता हूँ।''

''कोरी बधाई से काम नहीं चल सकता। यहाँ बधाई के साथ कुछ भेंट भी दी जाती है।''

''अगली बार कुछ भेंट लेकर ही आऊँगा। वास्तव में आज मैं गोविन्दजी से ही मिलने आया था।''

चार

स्वामी शंकराचार्य जी की वेद और उपनिषदों की विवेचना ने भारत के पण्डित समाज में धूम मचा दी। जहाँ तक जनसाधारण की बात थी, उसका तो देवी-देवताओं तथा भगवान् के स्वरूप के साथ सम्बन्ध था। कोई किसी से बड़ा-छोटा नहीं, सब देवी-देवता एक समान हैं, यह सुन वे गद्गद् प्रसन्न हो जाते थे। सबके मन में हर्ष और ऐक्य भाव उत्पन्न होने लगा था।

जनसाधारण में यह भाव उत्पन्न हो रहा था कि श्रुति भगवती में वर्णित धर्म भारत का धर्म है। भारतवासियों की संस्कृति ब्राह्मण-ग्रन्थ, भगवद्गीता तथा उपनिषदों के आधार पर निर्माण हुई है। भारत के अन्दर प्रचलित मत-मतान्तर एक ही स्रोत से उत्पन्न होने से समान हैं और सबके पूज्य हैं। इन धारणाओं के बनने से देश में ऐक्य उत्पन्न हो रहा था। जो फूट, वाद-विवाद और द्वेषभाव बौद्ध मीमांसकों ने उत्पन्न कर दिया था वह व्यर्थ प्रतीत होने लगा था।

इस प्रकार भारत के वेद मतावलम्बियों में एक प्रकार की विद्युत-तरंग दौड़ गई थी, जिससे पूर्ण जाति में चेतना के लक्षण दिखाई देने लगे थे। जहाँ स्वामी जी नहीं पहुँच पाए थे, वहाँ पर भी लोग उत्साह, आशा और प्रसन्नता से भर गए थे। उनके हृदय में नये जीवन का संचार होने लगा था।

इस पर भी रूढ़िवाद निर्मल नहीं हुआ था। स्वामी शंकराचार्य मिथिला से जगन्नाथपुरी में जा पहुँचे। वहाँ असुरों का शैव मत, तीर्थंकरों का जैन मत और नास्तिकों का वाम मार्ग, इन तीनों का एक विचित्र सम्मिश्रण बना हुआ था।

पुरी में कोई ऐसा विद्वान् नहीं था जिसकी प्रतिष्ठा सर्वोपरि हो और जिससे वार्त्तालाप करने से जनसाधारण पर प्रभाव डाला जा सके। प्रायः तीनों मत कर्मकाण्डी थे, यद्यपि तीनों में कर्मकाण्ड भिन्न-भिन्न था। इस पर भी धर्म के वास्तविक लक्ष्य की ओर ध्यान न देकर, आडम्बर पर अधिक बल दिया जा रहा था।

अतः स्वामी शंकराचार्य जी ने उस प्रकार के शास्त्रार्थ की, जैसा उन्होंने प्रभाकराचार्य अथवा मण्डन मिश्रजी से किया था, आवश्यकता नहीं समझी।

उन्होंने सीधा जनसाधारण से सम्पर्क उत्पन्न करना आरम्भ कर दिया। स्वामी जी ने मुख पर पट्टी बाँधना, रात के समय भोजन न करना, स्वच्छ जल को भी छानकर पीना! इत्यादि जैनियों की अहिंसा को आडम्बर बताया। स्वामी जी का कहना था कि अहिंसा का अर्थ है प्राणिमात्र को सुखी रखने का यत्न करना। इसके लिए जो भी उपाय उचित और सम्भव हैं, ग्रहण करने चाहिएँ। इस पर भी वे इस बात पर सबसे अधिक बल देते थे कि हिंसक पशु अथवा दुष्ट व्यक्ति की हत्या किसी प्रकार भी हिंसा नहीं।

इसी प्रकार वाममार्गियों को वे बताते थे—इन्द्रियों के सुख भोग लेने योग्य हैं, परन्तु इन भोगों के लिए आत्मा और समाज के कल्याण की बलि नहीं दी जा सकती। एक ऐसा संतुलन रखना पड़ेगा, जिससे समाज के नियम और इन्द्रिय-सुख बिना विरोध के साथ-साथ चल सकें।

भग और लिंग के विषय में स्वामी जी का मत था कि जो इसका पूजन करना चाहते हैं करें, परन्तु ये तो जीवन-शक्ति का प्रतीक मात्र हैं। इनसे विषय-वासना की ओर संकेत नहीं समझना चाहिए।

वास्तविक सत्य परमात्मा है। पूर्ण जगत् उसी से बना है और उसी में अपने को लीन कर देना जीवन का परम लक्ष्य है।

इस प्रकार पुरी में विजयसूत्र विद्वानों से आरम्भ न कर, जनसाधारण से आरम्भ किया गया और इसका चामत्कारिक परिणाम निकला। जनसाधारण इन मत-मतान्तरों के गुरुजनों से उचाट हो उनको छोड़ बैठा।

जब स्वामी जी पुरी में प्रवचन-पर-प्रवचन दे रहे थे, तब दक्षिण के प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान कांची के कुछ विद्वान् ब्राह्मण स्वामी जी की सेवा में उपस्थित हुए। स्वामी जी ने उनको आदर-सत्कार से बैठाया और उनके आने का कारण पूछा।

कांची के पण्डितों के प्रवक्ता ने निवेदन किया, ''महाराज! चिदम्बरम् के पण्डित रमणाचार्य ने महाराज त्रिभुवन कीर्तिजी के समक्ष यह आवेदन-पत्र दिया है कि स्वामी शंकराचार्य जी की व्यवस्था कि देव-दासियाँ विवाह कर सकती हैं, अमान्य कर दी जाए, क्योंकि वह धर्म-विपरीत और समाज के लिए हानिकारक है।

''महाराज त्रिभुवन कीर्तिजी ने इस विषय पर कांची के विद्वानों की एक सभा तिरुचिरापल्ली में बुलाई है। कांची के विद्वानों का मत है कि व्यवस्था देने वाले श्री स्वामी जी महाराज को उस धर्म-सभा में अपनी व्यवस्था के समर्थन के लिए बुलाया जाए। अतः हम आपको आगामी मकरसंक्रान्ति के समय तिरुचिरापल्ली पधारने का निमन्त्रण देने आए हैं।''

स्वामी शंकराचार्य जी ने इस निमन्त्रण को सहर्ष स्वीकार कर लिया और समय पर वहाँ उपस्थित होने का वचन दिया।

मकर संक्रान्ति को अभी आठ मास थे। इस धर्म-चर्चा सम्मेलन का समाचार भारत-भर में फैल गया और संक्रान्ति से एक मास पूर्व ही उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम से विद्वान् लोग तिरुचिरापल्ली में आने लगे।

स्वामी शंकराचार्य भी मकर संक्रान्ति से कई दिन पूर्व वहाँ पहुँच गए। जब इस धर्म-चर्चा का समाचार काशी में पहुँचा तो राज्य की ओर से एक विद्वन्-मण्डली उस धर्म-चर्चा को सुनने और उसके परिणामों को जानने के लिए भेजी गई। इस मंडली में राजपुरोहित गजानन भी थे।

ऊदल और विरोचन तो ऐसे ही चल पड़े। विरोचन स्वामी जी के दर्शन और उनके प्रभावशाली और तर्कयुक्त प्रवचन सुनने के लाभ के लिए वहाँ गया था। ऊदल स्वामी जी की व्यवस्था पर विवाद सुनने के लिए उत्सुक था। उसका इस विवाद के साथ घना सम्बन्ध था।

नीलाम्बरा और रुक्मिणी जान-बूझकर वहाँ नहीं गईं। मायाविनी, उसकी माँ और विरोचन की माँ भी साथ गईं। सबका विचार था शास्त्रार्थ सुनकर वे तीर्थ-यात्रा पर जाएँगे।

काशी के लोग तिरुचिरापल्ली में पहुँच, अपने ठहरने का प्रबन्ध कर स्वामी जी के दर्शन के लिए उनके डेरे में पहुँचे। यह देखकर उनको भारी प्रसन्नता हुई कि स्वामी जी सदल-बल वहाँ विराजमान हैं। उनके दर्शन करने वालों का वहाँ भी ताँता बँधा हुआ था।

राज्य की ओर से भीड़ पर नियंत्रण रखने के लिए विशेष प्रबन्ध था। राज्य के सुभट भीड़ को स्वामी जी के दर्शन के लिए एक नियत समय में ही जाने देते थे। काशी के लोग जब गए तो स्वामी जी ने उनको अपने समीप बैठा लिया। जब सर्वसाधारण के लिए दर्शन का समय बीत गया तो स्वामी जी ने काशी से आई विद्वन्-मण्डली से काशिराज का स्वास्थ्य-समाचार पूछा। तदनन्तर वहाँ के अन्य विद्वानों के विषय में समाचार जाना। विरोचन से पूछने पर उसने बताया कि वह अब आयुर्वेद पढ़ रहा है। विरोचन ने मायाविनी का परिचय दे दिया। उसने बताया कि यह ऊदल की बहन है।

"तो तुमने विवाह कर लिया है?"

"अभी नहीं, महाराज!"

स्वामी जी ने मायाविनी को आशीर्वाद दिया, "बेटी, सौभाग्यवती रहो और पुत्र-पौत्रों से शोभायमान होती हुई सौ वर्ष तक स्वस्थ, सफल जीवन भोग करो।"

विरोचन ने कहा, "महाराज! मैं उत्सुकता से गृहस्थ-जीवन के समाप्त

होने की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। मैं शीघ्र ही लोक-कल्याण के आश्रम में प्रविष्ट हो, उसमें संलग्न होना चाहता हूँ।''

''भगवान् तुम्हारी मनःकामना पूरी करेंगे।''

इस आशीर्वाद से अति प्रसन्न विरोचन अपने डेरे पर आया तो मायाविनी ने पूछ लिया, ''स्वामी जी ने परस्पर विरोधी दो आशीर्वाद क्यों दे दिये हैं?''

''क्या परस्पर विरोधी बात प्रतीत हुई तुमको?''

''मुझको तो आशीर्वाद दे दिया कि पुत्र-पौत्रों सहित सौ वर्ष तक स्वस्थ तथा सफल जीवन भोग करूँ और आपको शीघ्र ही संन्यास लेने की मनःकामना की पूर्ति के लिए कह दिया।''

''मुझको इन दोनों में कुछ भी विरोध प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जब तुम्हारे पौत्र होगा, तब ही मैं संन्यास लूँगा।''

''मैं इससे प्रसन्न नहीं हूँगी।''

''तो तुम किस बात से प्रसन्न होगी?''

''मैं चाहती हूँ कि मैं जब बूढ़ी हो जाऊँ, तो पौत्र-परपौत्र मेरे कंधों पर चढ़कर कूदा करें, परन्तु आपके बिना मुझको कुछ भी भाएगा नहीं।''

''तो फिर क्या करोगी?''

''मैं आपके साथ ही संन्यास लेकर स्वामी जी के अपने प्रति आशीर्वाद को निष्फल कर दूँगी।''

इस पर विरोचन हँस पड़ा। हँसकर उसने कहा, ''अच्छी बात है। देखें स्वामी जी का आशीर्वाद फलता है अथवा तुम्हारा हठ?''

''मेरा हठ कैसे हो गया?''

''यह तब देखेंगे, जब समय आएगा।''

इस प्रकार दोनों हँसने लगे।

विरोचन और ऊदल तिरुचिरापल्ली के मार्गों पर घूमते हुए जनसाधारण के भावों की टोह ले रहे थे। उनको कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि दक्षिण के विद्वानों में एक ऐसा दल है, जो स्वामी को परास्त करने पर तुला हुआ है। वे धर्मसभा में घुसकर सभा को भंग करने का भी विचार रखते थे। एक स्थान पर खड़े दो व्यक्ति यह कहते सुने गए, ''उत्तर के वर्णसंकरों को हम अपने दक्षिण के धर्म में हस्तक्षेप नहीं करने देंगे।''

:: 2 ::

विरोचन और ऊदल के कान में इस बात की भनक पड़ने से वे चिन्तित मन अपने डेरे पर लौटे। ऊदल ने गजाननजी से बात की तो उसने उनको इस

विषय में और अधिक जानने के लिए कहा।

एक दिन एक व्यक्ति मार्ग तट पर ही गोष्ठी कर रहा था। उसने प्रवचन में कह दिया, "तर्क से प्रबल लाठी होती है।"

इस पर सब हँसने लगे। इस पर एक दक्षिणात्य ब्राह्मण बोल उठा, "लंठ-गँवारों वाली बातें मत करो। धर्म के विषय में हम लाठी चलाने नहीं देंगे। यदि धर्मशास्त्र में प्रमाण है तो उसको उपस्थित करो।"

"वह तो करेंगे ही। इस पर भी यदि किसी ने प्रमाण अमान्य कर दिया तो.... ?"

"तो महाराज निर्णय करेंगे। किसी असत्य प्रमाण को उपस्थित करना अथवा सत्य प्रमाण को असत्य बताना तो छलना है। छलना करने वाले को दण्ड देना राज्य का कार्य है।"

"धर्म के विषय में हम राज्य का हस्तक्षेप नहीं चाहते।" एक बलिष्ठ युवक ने कहा।

इस पर उसी ब्राह्मण ने, जिसने धर्म के विषय में लाठी चलाने का विरोध किया था, कहा, "परन्तु तुम्हारा हस्तक्षेप राज्य के हस्तक्षेप से भी अधिक निन्दनीय होगा। राज्य तो झूठ बोलने वाले को दण्ड देने के लिए है ही, परन्तु तुम्हारे पास क्या अधिकार है कि तुम विद्वानों की बातों में बोलो ?"

"मेरे पास लाठी का अधिकार है।"

"तो तुम्हारी लाठी समय से पहले तोड़ दी जाएगी।"

"कौन तोड़ेगा ?"

"जिसके पास तुमसे लम्बी लाठी होगी।"

"वह तुम नहीं हो सकते।"

"ठीक है। मेरे पास लाठी है ही नहीं, परन्तु ऐसे हैं, जिनके पास तुमसे अधिक सुदृढ़ लाठी है।"

ऊदल और विरोचन ने इस झगड़े से बचने के लिए वहाँ से खिसक जाना ही उचित समझा; परन्तु उसके विस्मय का ठिकाना नहीं रहा जब उन्होंने उसी सायंकाल यह सूचना सुनी कि एक हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति झगड़ा करने के अपराध में बंदी बना लिया गया है।

इस व्यक्ति के पकड़े जाने से श्री स्वामी शंकराचार्य जी का विरोध कुछ बढ़ा ही और उस विरोध को सीमान्तर रखने के लिए महाराज त्रिभुवन कीर्ति को अधिक सुभट नियुक्त करने पड़े।

:: 3 ::

मकर संक्रान्ति के दिन राज-प्रासाद में शास्त्र-चर्चा का प्रबन्ध था। कांची के एक सौ विद्वान ब्राह्मण एक ऊँचे मंच पर महाराज त्रिभुवन कीर्ति के दाहिने हाथ की ओर बैठे थे। दूसरी ओर स्वामी शंकराचार्य जी अकेले मंच पर विराजमान थे। स्वामी जी की मंडली के संन्यासी साथी नीचे भूमि पर बैठे थे। यह प्रबन्ध कांची के ब्राह्मणों और स्वामी जी की अनुमति से हुआ था। कुछ विशेष व्यक्तियों को स्वामी जी तथा कांची के ब्राह्मणों के कहने पर प्रवेशाधिकार दिया गया था। इसमें काशी के विद्वान लोग भी थे।

साधारण प्रजा को इस शास्त्र-चर्चा में आने का अधिकार नहीं था। चर्चा आरम्भ करने से पहले महाराज ने उठकर वक्तव्य दिया। उन्होंने कहा, ''दो वर्ष के लगभग हुए हैं कि चिदम्बरम् के पुजारी श्री रमणाचार्यजी एक आवेदन-पत्र लाए थे। उसमें उन्होंने कहा था कि काशी की धर्मसभा में एक व्यवस्था दी गई है, जिसमें देवदासियों को विवाह करने की स्वीकृति दी गई है। रमणाचार्यजी का कहना था कि यह व्यवस्था धर्म का नाश करने वाली है। इस कारण इसको अमान्य कर दिया जाए।

''काशी अनादि काल से भारत के धर्म और संस्कृति की रूपरेखा बाँधती रही है। यह व्यवस्था काशिराज ने नहीं दी। काशी के शास्त्रियों ने दी है। इस व्यवस्था को श्री स्वामी शंकराचार्य जैसे विद्वानों का समर्थन प्राप्त है। ऐसी अवस्था में, मैं भारत के एक अंश का राजा इस व्यवस्था को अमान्य करने में अपने को अशक्त पाता हूँ। मेरा कहना है कि धर्म-सम्बन्धी व्यवस्था धर्मशास्त्री ही मान्य अथवा अमान्य कर सकते हैं। हम क्षत्रियों को इसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

''इस कारण मैंने कांची के विद्वानों को लिखा कि यदि वे चाहें तो विचार कर इस पर व्यवस्था दें। कांची के विद्वान् घर बैठे ही व्यवस्था देने के लिए तैयार थे, परन्तु मेरा कहना था कि कोई भी व्यवस्था सप्रमाण होनी चाहिए। तब इस सभा का आयोजन किया गया।

''मैं चाहता था कि इन दो वर्षों में कांची के विद्वान् अपना एक मत बना लेते और इसको सप्रमाण इस सभा में उपस्थित करने के लिए अपना एक प्रवक्ता नियुक्त कर देते। मुझको यह जानकर खेद है कि कांची के शास्त्री किसी कारण से अपना एक प्रवक्ता नहीं बना सके।

''ऐसी अवस्था में एक सौ एक विद्वानों के बैठने का प्रबन्ध कर दिया गया है। दूसरी ओर काशी की व्यवस्था के समर्थक स्वामी शंकराचार्य काशी का मत प्रतिपादन करेंगे।

"अब मैं कांची के विद्वानों को कहता हूँ कि वे यहाँ जो बात कहना चाहें, कह सकते हैं। उनमें से जो चाहे बोल सकता है, परन्तु एक समय में एक ही विद्वान् सभा को सम्बोधन कर सकेगा।

"अब मैं उनसे निवेदन करता हूँ कि वे अपना मत स्वामी जी के सम्मुख उपस्थित करें।"

इस पर रमणाचार्य, जो कांची के विद्वानों में एक था, उठकर कहने लगा, "काशी की धर्मसभा की व्यवस्था अमान्य है।"

श्री स्वामी जी ने पूछा, "किसको अमान्य है?"

"दक्षिण की पूर्ण जनता को।"

"यह कब से निश्चय हुआ कि धर्म के विषय में जनता का मत लिया जाएगा, जिसमें शास्त्र के ज्ञाता और अज्ञाता, दोनों प्रकार के लोग सम्मिलित हैं।"

"धर्म उसको कहते हैं जो धारण करने योग्य हो। धारण करने वाली जनता है। इस कारण धर्म के विषय में जनता का मत मान्य होना चाहिए।"

"यह अनर्थकारी हो जाएगा। यदि इस बात की स्वीकृति दी गई कि धर्म का निश्चय इसको धारण करने वाले करेंगे तो समाज में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाएगी। कोई भी राज्य इस प्रकार की स्वीकृति नहीं दे सकता। भोक्ता चाहेगा कि सबकुछ उसको मिल जाए।"

इस पर महाराज ने कह दिया, "यह सभा धर्मशास्त्रियों की बुलाई गई है और हम उनका मत चाहते हैं। जनसाधारण का मत हम जानते नहीं, न यह जानना चाहते हैं। इसके जानने के हमारे पास साधन भी नहीं।

"इसके अतिरिक्त हम यह जानते हैं कि कुछ लोग लाठी लिए जनता में घूम रहे हैं और कहते फिरते हैं कि लाठी सबसे बड़ी युक्ति है।

"इस कारण उनका विचार छोड़कर आप अपने विषय में बताइए कि आपको काशी की व्यवस्था मान्य है अथवा नहीं?"

इस पर रमणचार्यजी ने कहा, "हमको भी यह व्यवस्था अमान्य है।"

"क्यों?"

"यह धर्म विरुद्ध है।"

"धर्मशास्त्र के किस श्लोक द्वारा इसका विरोध किया गया है?"

"धर्मशास्त्र पुस्तकों में नहीं लिखा रहता। यह जनता के मन में रहता है।"

इस पर स्वामी जी ने कहा, "आचार्य जी बार-बार वही बात कह रहे हैं, जिसका सम्बन्ध उनके अपने आपसे नहीं है। इस विषय में जनता का मत जानने का साधन इस समय उपलब्ध नहीं।

"एक विद्वान् का मत दो ही बातों से बन सकता है। एक तो शास्त्र में लिखे होने से और दूसरे मानवता के हित अथवा विकास में होने से।

"उदाहरण रूप में धर्मशास्त्र में यह लिखा है कि एक व्यक्ति गृहस्थ-आश्रम पार कर वानप्रस्थ और फिर संन्यास ले।

"महात्मा बुद्ध ने यह व्यवस्था दी थी कि बालक अथवा कन्या भी संन्यास ले सकती है। जब विद्वानों को यह पता चला कि गौतम बुद्ध की व्यवस्था जनहित में नहीं, तो उन्होंने बौद्ध मत के संन्यास लेने की छूट को अमान्य कर दिया।

"इसी प्रकार किसी ने देव मन्दिर में देवदासियों की नियुक्ति कर दी। उनको गृहस्थ में प्रवेश करने से मना कर दिया। जैसे महात्मा बुद्ध द्वारा चलाई प्रथा को जन-हित का विरोधी मान अमान्य किया गया था, वैसे ही इस प्रथा को जनहित का विरोधी मान अमान्य किया है।

"इस पर भी यदि पण्डित जी इसको धर्मशास्त्रानुकूल मानते हैं, तो प्रमाण दें।"

"यह जनहित में है। जब देवदासियाँ मन्दिरों में नृत्य तथा संगीत करती हैं तो श्रोताओं के मन में धर्म की भावना जाग्रत होती है। इससे जनसाधारण का कल्याण होता है। अतः यह प्रथा मान्य होनी चाहिए।"

देवदासियों के नृत्य और संगीत के विषय में बात ठीक है, परन्तु इसका अर्थ यह कैसे हो गया कि वे अविवाहित रहें।"

"वे विवाह अवश्य करें, यह भी कहाँ लिखा है?"

इस पर उपस्थित गण हँस पड़े। स्वामी जी ने इसका उत्तर भी सतर्कता से दे दिया। उन्होंने कहा, "सब स्त्री-पुरुषों के विषय में विवाह का विधान है। देवदासियाँ सर्वसाधारण से पृथक् कैसे हो गईं?"

"वे पृथक् इसलिए हैं कि वे देवता की सेवा हेतु नियुक्त हैं।"

"और पुजारी देवता की सेवा नहीं करता क्या? उसे तो विवाह करने के अधिकार से वंचित नहीं किया जाता?"

इस पर पुनः हँसी होने लगी। इस समय एक अन्य पण्डित उठकर और रमणाचार्य को बैठाकर कहने लगा, "यदि दस-बीस लड़कियाँ विवाह करने से वंचित कर दी जाएँ, तो कुछ हानि नहीं होगी। साथ ही मन्दिरो की शोभा बनी रहेगी और धर्म-प्रचार होता रहेगा।"

"जो देवदासियाँ विवाह नहीं करना चाहतीं, उनको विवाह करने की व्यवस्था तो है नहीं। व्यवस्था है उनके लिए, जो विवाह करना चाहती हैं।

"देखिए पण्डितवर! मन्दिरों में कीर्तन करने के लिए पुरुष अथवा स्त्रियों

की नियुक्ति अमान्य नहीं। अमान्य तो हुई है उनको विवाह के अधिकार से वंचित करने की प्रथा। एक युवक और युवती का अधिकार है कि यदि वे चाहें तो विवाह कर सकते हैं। यदि यह अधिकार उनको न देंगे तो वे छिपकर चोरी से दुराचार का मार्ग बना लेंगे। मैं तो यह जानने के लिए प्रस्तुत हूँ कि कांची के विद्वान् पण्डित किसी धर्मशास्त्र में कोई ऐसा प्रमाण रखते हैं, जिसके अनुसार लड़कियों को मन्दिर से देवता की दासी बनाने की प्रथा हो और फिर उस देवदासी को विवाह की अनुमति न हो।

''मेरा निवेदन है कि यदि कोई प्रमाण हो तो वह उपस्थित किया जाए। धर्मशास्त्र से अप्रमाणित प्रथा तो धर्मशास्त्र नहीं हो सकती।''

अब महाराज त्रिभुवन कीर्ति ने कह दिया, ''जनता क्या चाहती है, यह जानना राज्य का काम है। जनता क्या करे, यह प्रेरणा धर्मशास्त्री ही दे सकते हैं। प्रश्न यह है कि देवदासियों को मन्दिरों में बन्द करके रखना चाहिए क्या?''

एक अन्य पण्डित ने उठकर कहा, ''हमने अपनी यह व्यवस्था दे दी है। देव-मन्दिर में देवदासी रखी जाएँगी और वे विवाह नहीं कर सकेंगी। देवदासी का पति देवता है।''

''इस पर भी जो देवदासी नहीं रहना चाहती,'' महाराज ने कहा, ''और विवाह करना चाहती है, उसको आप मना कैसे कर सकेंगे? और यदि मना करेंगे तो राज्य उसकी रक्षा करेगा, क्योंकि इस व्यवस्था में धर्मशास्त्र का प्रमाण नहीं है। हम पण्डितजी के कहने मात्र पर किसी लड़की की उचित इच्छा का विरोध पाप समझते हैं।''

''यह तो महाराज! अन्याय हो जाएगा।''

''आप, जो बिना किसी अधिकार के एक बालिका की मानुषी भावनाओं पर प्रतिबन्ध लगाते जा रहे हैं, अन्याय करते हैं अथवा मैं, जो उनके अधिकारों की रक्षा करता हूँ? आपके पास यह अधिकार कहाँ से आ गया कि एक बालिका जो विवाह करना चाहती है, उसको विवाह करने से रोकें?''

अब पुनः स्वामी जी ने पूछा, ''यदि एक देवदासी वेश्यावृत्ति करने लगे तो आप क्या करेंगे?''

''उसको प्राणदण्ड देंगे।''

''किस अधिकार से? जब आप एक सधवा को वेश्यावृत्ति करने से मना नहीं कर सकते, तो देवदासी को, जिसका पति कोई नहीं, कैसे रोक सकते हैं?''

''देवदासी का पति देवता है।''

इस पर एक श्रोतागण ने ऊँचे स्वर में कह दिया, ''देवता नहीं, मन्दिर का पुजारी है।''

इस पर महाराज ने आज्ञा दे दी, ''श्रोताओं को हम बोलने की स्वीकृति नहीं दे सकते। यदि कोई अनधिकृत व्यक्ति इस वाद-विवाद में बोलेगा तो उसको सभा-मंडप से बाहर कर दिया जाएगा।''

स्वामी जी ने प्रश्न किया, ''क्या किसी धर्मशास्त्र में लिखा है कि देवता का विवाह हो सकता है? और फिर उसकी कितनी पत्नियाँ हो सकती हैं?''

महाराज त्रिभुवनकीर्ति ने कह दिया, ''युक्ति स्वामी जी के पक्ष में प्रतीत हुई है। मैं चाहता हूँ कि धर्मशास्त्री अपने-अपने पक्ष में धर्मशास्त्र के प्रमाण प्रस्तुत करें। प्रश्न है कि क्या यह धर्मनिहित है कि देवदासी देवता की पत्नी है?

''यदि पत्नी है तो किसी विवाहित पत्नी की भाँति वह भी वेश्या होने का अधिकार रखती है क्या?

''यदि वह पत्नी नहीं तो वह विवाह करने का अधिकार क्यों नहीं रखती?

''कोई विवाहित स्त्री देवदासी का कार्य क्यों नहीं कर सकती?''

''क्या नृत्य करने वाली लड़की के कार्य से पुजारी का कार्य नीच है?

''हम चाहते हैं कि आप लोग इस विषय पर शास्त्र का प्रमाण दें।''

इन प्रश्नों के बाद पण्डित वर्ग चुप हो गया। इस पर श्रोतागणों ने समाघोष कर दिया—''महाराजाधिराज की जय हो।''

इसके उपरान्त सभा विसर्जित हो गई। उसी सायंकाल श्रीरंगम के मन्दिर के प्रांगण में एक सार्वजनिक सभा में महाराज त्रिभुवनकीर्ति ने यह घोषणा की—

''देवदासी बनने की प्रथा केवल प्रथा मात्र है। यह कोई धर्मशास्त्र की व्यवस्था नहीं। प्रथा यदि देश और राज्य नियम के विपरीत हो, तो निन्दनीय होती है। जहाँ तक मन्दिरों में नर्तकियों और संगीत करने वाली स्त्रियों का होना है, वह राज्य के नियम और देश के धर्म के विपरीत नहीं, परन्तु मन्दिरों में यह कार्य करने वाली स्त्रियाँ गृहस्थ में प्रवेश नहीं कर सकतीं, ऐसा शास्त्रसंगत नहीं है। इस कारण इसमें बाधा डालने वाले अपराधी माने जाएँगे।''

इसके बाद स्वामी शंकराचार्य जी का प्रवचन हुआ। उन्होंने कहा, ''देश और समाज का कल्याण युक्तियुक्त व्यवहार से ही हो सकता है। कुछ लोग आज के वाद-विवाद के बाद उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत में विरोध उत्पन्न करने का यत्न कर रहे हैं। भारत में एक समाज है। इस समाज का धर्म और संस्कृति श्रुति भगवती से उत्स्रवित हो रहे हैं। वेद की व्याख्या और विस्तार ब्राह्मण-ग्रन्थ, उपनिषद् और दर्शनशास्त्र हैं। इतिहास, पुराण और साहित्य भी यहाँ पर वेदों से ही प्रेरणा पाते हैं।

"इस कारण हम सब भारतवासी एक हैं। कल दक्षिण के एक विद्वान् ने पूछा है कि भारत की सीमाएँ क्या हैं। मेरा कहना है कि जहाँ-जहाँ वेदानुयायी लोग रहते हैं, वह भारत है। हिमाचल से कन्याकुमारी तक और द्वारिका से कामरूप तक सारा भारत है।

"इस देश में अनेक राज्य हैं, परन्तु राष्ट्र एक है। यहाँ की राज्य-व्यवस्थाएँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं, इस पर भी यहाँ का धर्म और संस्कृति एक है। यहाँ की प्राकृत भाषाएँ भिन्न-भिन्न होने पर भी देववाणी एक है। वही राष्ट्र की वाणी है और उसी के द्वारा राष्ट्र की इच्छाएँ, अभिलाषाएँ, आकांक्षाएँ, धारणाएँ और निष्ठाएँ मुखरित होती हैं।"

इस प्रकार स्वामी शंकराचार्य जी ने दक्षिण में अपनी विजय पताका फहरा दी। जनसमूह में स्वामी जी के जय-जयकार के समाघोष तब तक सुनाई देते रहे, जब तक स्वामी जी ने वहाँ से प्रस्थान नहीं किया।

:: 4 ::

काशी से आई विद्वन्-मंडली के हर्ष का पारावार नहीं रहा, जब उन्होंने अपनी धर्म-सभा की व्यवस्था की मान्यता दक्षिण के विद्वानों ने भी देख ली। इस मंडली में फणीन्द्र देव भी थे। वे कहने लगे, "हमको इस बात का गर्व है कि हमारी व्यवस्था की मान्यता हुई है, परन्तु सत्य यह है कि स्वामी जी की तर्कशक्ति का ही यह फल है। उनके तर्क के सम्मुख भारत-भर में कोई ठहरने की क्षमता नहीं रखता।"

इस पर विरोचन ने कहा, "इस पर भी आज की विजय वैसी निर्विवाद नहीं है, जैसी मिथिला में अथवा प्रतिष्ठानपुरी में हुई थी। वहाँ पर विरोधी पक्ष के लोग समझ गए थे और समझकर उन्होंने स्वामी जी के पक्ष को स्वीकार किया था। इसके विपरीत यहाँ पर कांची के पण्डित गाल फुलाए सभा से उठकर आए हैं। वे आज के निर्णय से असन्तुष्ट प्रतीत होते हैं और असन्तोष विद्रोह का प्रागरूप है।"

"यह लोग विद्रोह किससे करेंगे?"

"वेद धर्म से कदाचित् अपनी राज्यसत्ता से और भारत की राष्ट्रीयता से।"

"यह भारी भूल होगी।"

"दक्षिण के पण्डितों का सदा यह मत रहा है कि वे ही धर्म के विशेष प्रवक्ता हैं। उन्होंने जो कुछ कहा है, वह ही माननीय है। यह युक्ति और प्रमाण के आधार पर नहीं, प्रत्युत अपने कथन की प्रतिष्ठा रखने के लिए ऐसा कहते हैं। यह प्रवृत्ति मानव-कल्याण की नहीं है।"

विरोचन की विवेचना सुनकर सब चिन्तित हो गए। इसका अर्थ यह था कि इस प्रकार की सार्वजनिक विजय कुछ भी अर्थ नहीं रखती। यह बाहरी विजय-मात्र है, जो विरोधी के हृदय को छू तक भी नहीं गई। इस पर ऊदल ने एक घटना का उल्लेख कर दिया। उसने बताया, ''मैं कावेरी स्नान करके आ रहा था कि मार्ग में कांची के ब्राह्मण, जो कल धर्मसभा में मंच पर सबसे आगे बैठे थे, परस्पर झगड़ रहे थे। एक कह रहा था, 'निवारण! तुम बातें बहुत बनाते हो, परन्तु कल सभा में तुम्हारे मुख में जिह्वा ही नहीं थी। जब महाराज ने कहा था कि विवाहिता देवता के समक्ष नृत्य क्यों नहीं कर सकतीं, तो तुम बोले क्यों नहीं ?'

'इसलिए कि वहाँ बोलने में लाभ नहीं था। मैं आज सायंकाल कावेरी के घाट पर जनता में विद्रोह भर दूँगा। यह विद्रोह राजा के विरुद्ध नहीं, प्रत्युत उत्तरी भारत वालों की विवेचना के विरुद्ध होगा।'

'यही कह रहा हूँ कि तुम वेदों के विषय में व्याख्यान दोगे, उनके सामने वेद पढ़ोगे नहीं। यह तो महामूर्खता होगी।'

'तुम देखोगे भैया कि हम मूर्ख क्या कर सकते हैं। विद्वानों ने कल नैया डुबो दी। अब हम मूर्ख उसको पार लगाकर दिखाएँगे।'

''मैं जब उनके साथ चलता हुआ उनकी बातें सुनने लगा तो वे वेदवाणी में बातें करना छोड़ अपनी प्राकृत में बातचीत करने लगे। मैं समझ गया कि वे मुझको उत्तरी भारत का समझ मुझसे चोरी की बात करने लगे हैं।''

इस विषय में विरोचन ने कहा, ''मैं समझता हूँ कि इसकी सूचना स्वामी जी को देनी चाहिए।''

ऊदल का कहना था, ''मैं कुछ और ही मन में विचार कर रहा था। मैं चाहता हूँ कि हम उन सबको, जो हमारी बात सुन और समझ सकते हैं, आज कावेरी के घाट पर अवश्य प्रवचन दें और उसमें अपना तथा स्वामी जी का मत प्रकट करें।''

गजानन को ऊदल के विचार से मतभेद था। उसने कहा, ''इसमें दंगा हो जाएगा और हम संख्या में कम होने से घाटे में रहेंगे।''

विरोचन की बात मान ली गई और सायंकल कावेरी के घाट पर जाने के बजाय ऊदल, विरोचन और गजानन स्वामी जी के डेरे पर जा पहुँचे। वहाँ ऊदल ने वह बात बताई जो उसने प्रातःकाल दो दक्षिणी पण्डितों में सुनी थी।

स्वामी शंकराचार्य जी मुस्कराकर बोले, ''हमको इसी प्रकार की और भी सूचनाएँ मिली हैं। इस पर भी मैं अपना जीवन-कार्य बन्द नहीं कर सकता।

''मैंने यह निश्चय किया है कि यहाँ से चिदम्बरम् और वहाँ से कांची जाऊँगा और इन भटकने वाले मानवों को मार्ग पर लाने का यत्न करूँगा।''

"परन्तु महाराज! वे लोग तो हिंसा पर तुले हुए हैं।"

"यह और भी आवश्यक हो जाता है कि मैं वहाँ अवश्य जाऊँ और उनको सन्मार्ग पर ले आऊँ। यह अनार्य चलन है। आर्यों के देश में अनार्यों का चलन किसी भलाई का सूचक नहीं हो सकता।"

"यह सब ठीक है," गजानन का कहना था, "उनको सन्मार्ग पर लाना ही चाहिए, परन्तु हमारा मन तो आपके विषय में विचारकर भयभीत हो रहा है। ये मूर्ख कहीं आपका कुछ अनिष्ट न कर बैठें।"

"मेरा क्या अनिष्ट हो सकता है? जो कुछ भला अथवा बुरा होगा, इनका अपना होगा। इस भय से त्रस्त हो मैं अपना काम नहीं छोड़ सकता।"

स्वामी जी के डेरे से लौटते समय ऊदल ने अपने मन में उठने वाले विचारों का वर्णन कर दिया। उसने मिश्रजी से कहा, "काका! मैं चाहता हूँ कि हम महाराज त्रिभुवनकीर्तिजी से स्वामी जी के जीवन के भय की बात बता दें और उनसे निवेदन करें कि इनकी जीवन-रक्षा का विशेष प्रबन्ध होना चाहिए।"

"मैं भी ऐसा ही विचार कर रहा था। हमारी मण्डली काशिराज की ओर से यहाँ के महाराज को सन्देश देने के लिए भी जाने वाली है। उस समय इस परिस्थिति का भी कथन कर दिया जाएगा।"

इसके दो दिन बाद काशी की विद्वन्-मण्डली महाराज त्रिभुवनकीर्ति की सेवा में जा पहुँची। जब इनको महाराज के सम्मुख उपस्थित किया गया तो गजानन ने कहा, "महाराज! जब काशी में यह समाचार पहुँचा कि श्रीमान् काशी की धर्मसभा में दी गई व्यवस्था पर विचार के लिए कांची के विद्वानों की धर्मसभा बुला रहे हैं, तो काशी नरेश श्रीमान् रत्नसिंहजी ने हमको इस धर्मसभा में उपस्थित हो, यहाँ का पूर्ण विवरण जानने के लिए भेज दिया। हम सब यहाँ, आपके राज्य में पिछले पाँच दिनों से आए हुए हैं। आपकी कृपा से हमको धर्मसभा में उपस्थित होकर वाद-विवाद सुनने का अवसर मिला है। धर्मसभा का प्रबन्ध और न्याययुक्त निर्णय सुनकर हम सब सन्तोष अनुभव करते हैं और हमारी अन्तरात्मा आपके प्रति कृतकृत्य हो रही है।

"महाराज! काशी के विद्वानों का यह निश्चित मत है कि मानव-समाज के कल्याण के लिए भगवती श्रुति ने आर्य धर्म प्रतिपादित किया है। यह धर्म अपनी रूपरेखा और सीमाएँ रखता हुआ भी, इस प्रकार विकसित किया जा सकता है कि जिससे यह भूमण्डल पर मनुष्य मात्र के लिए हितकर सिद्ध हो सके।

"ऐसे धर्म में इन देवदासियों के मानवी अधिकार सुरक्षित न होना विचारातीत था। एक ऐसी समस्या आई, जब इन अधिकारों का प्रश्न उठा तो भगवान् ने श्री शंकराचार्य जी को हमारे पथ-प्रदर्शन के लिए भेज दिया। उन्होंने

बताया कि श्रुति भगवती के मतानुयायी कैसे प्रत्येक व्यक्ति के लिए और प्रत्येक परिस्थिति के लिए युक्तियुक्त सुझाव रखते हैं।

''महाराज! अन्त में हम आपका पुनः धन्यवाद करते हैं।''

इतना कह पण्डितों ने महाराज को काशी निर्मित एक स्वर्णमयी उत्तरीय पट्ट प्रदान किया तथा उन्हें धर्मावतार की उपाधि से विभूषित किया।

महाराज ने काशी के विद्वानों की ओर से यह पद और आशीर्वादसूचक पट्ट खड़े होकर स्वीकार किया। फिर उन्होंने पण्डितों का धन्यवाद करते हुए कहा, ''आपका यह आशीर्वाद मुझको धर्म कार्य में प्रवृत्त करने में सहायक होगा। मैं आपको यह आश्वासन दिलाता हूँ कि अपनी बुद्धि और ज्ञान से मैं सदैव धर्म-कार्यों में संलग्न रहूँ। महाराज रत्नसिंहजी को मेरा आदरयुक्त नमस्कार कहिएगा।''

इस समय गजानन ने निवेदन कर दिया, ''महाराज! हम इस नगर में कुछ ऐसे समाचार सुन रहे हैं कि कुछ लोग धर्म-कार्यों में भी लाठी का प्रयोग क्षम्य मानते हैं। इन समाचारों से हमारे मन में श्री स्वामी जी के जीवन का भय समा गया है। हम आप जैसे धर्मनिष्ठ और धर्म का मर्म जानने वाले नरेशों से यह आशा रखते हैं कि आप भारत की विभूति की ऐसे दुष्ट लोगों से रक्षा करने में पूर्णरूप से यत्नशील रहेंगे।

''जब हम यह कहते हैं कि स्वामी जी महाराज इस काल का धर्म संकट सुलझाने के लिए भगवान् का अवतार हैं, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं कर रहे। ऐसे पुण्यात्मक सहस्त्रों वर्षों में एक बार ही इस भूतल पर अवतीर्ण हुआ करते हैं और यह भारत की राज्यसत्ता पर एक घोर कलंक बन जाएगा। यदि इस प्रकार की आत्माओं को अपना कार्य पूर्ण किए बिना यहाँ से धकेल बाहर कर दिया गया।''

इसके उत्तर में महाराज त्रिभुवन कीर्ति ने इन ब्राह्मणों को निर्भय करते हुए कहा, ''हमें श्री स्वामी जी के वेद-प्रचार तथा उनके विरुद्ध चल रहे षड्यन्त्र का बहुत कुछ ज्ञान है और हम अपने कर्त्तव्य पालन हेतु सब प्रकार से सतर्क हैं।''

इस आश्वासन से सन्तुष्ट हो काशी की विद्वान्-मण्डली अपने डेरे पर पहुँच, अपने भविष्य का कार्यक्रम बनाने लगी। सबकी इच्छा थी कि रामेश्वरम्, कन्याकुमारी और अन्य तीर्थ-स्थानों पर भ्रमण के लिए जाएँ।

दो दिन बाद ये लोग दक्षिण की ओर चल पड़े।

:: 5 ::

ऊदल ने नीलमणि के कोठे पर गोविन्द से हुआ पूर्ण वार्त्तालाप जब रुक्मिणी को बताया कि उसने रुक्मिणी के विषय में पूछा तक नहीं, तो वह

उसको अपने मन से सर्वथा निकाल बैठी। गजानन इत्यादि ने भी उसका विचार छोड़ दिया। नीलाम्बरा ने भी गोविन्द से मिलने की आवश्यकता नहीं समझी। अतः गोविन्द एक प्रकार से रुक्मिणी के मार्ग से हट गया। गोविन्द पांथागार से निकल जाने के कारण और दूसरे अब ऊदल इत्यादि से विस्मरण किए जाने पर पूर्णरूप से अपने वातावरण में संतोष अनुभव करने लगा।

पान्थागार से निकाले जाने पर वह बहुत परेशान था कि कहाँ जाए। वह पुनः वही जीवन जो पांथागार में टिकने से पहले यापन करता था, स्वीकार करने का विचार कर रहा था। परन्तु उस दिन नीलमणि की बैठक पर जब वह पहुँचा तो उसके मलिन मुख को देख नीलमणि ने पूछ लिया, ''गोविन्दजी, क्या बात है? आज यह रोना-सा मुख क्यों बनाया है?''

इस पर गोविन्द ने पांथागार से निकाले जाने की बात बता दी। नीलमणि ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा, ''मैं ऐसी ही आशा कर रही थी। देखिए गोविन्दजी! मेरे घर में कितने ही आगार हैं। एक आप ले सकते हैं।''

''परन्तु लोग क्या कहेंगे?''

''जो राधा को कहते थे।''

''परन्तु राधा किसी दूसरे की पत्नी थी।''

''हाँ, और मैं किसी की भी पत्नी नहीं। यही कहना चाहते हैं न आप?''

गोविन्द इस व्यंग्य का अर्थ नहीं समझ सका। इस पर नीलमणि ने कहा, ''मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि लोग कुछ नहीं कहेंगे। इस संसार में इन बातों की ओर ध्यान दिया नहीं जाता।''

गोविन्द ने दीर्घ निःश्वास लिया और निरुत्तर हो खड़ा रहा। नीलमणि ने दासी को आज्ञा दी, ''वह बगल वाला आगार खाली करवा दो और इनके रहने योग्य सामान लगवा दो।''

गोविन्द नर्तकी के घर का अंग बन गया। नर्तकी उससे वैसा ही सम्बन्ध रखना चाहती थी जैसा राधा का कृष्ण के साथ वर्णन किया जाता था। इसमें वासना-तृप्ति का प्रश्न नहीं था। सखा-सखी भाव मात्र था। परन्तु गोविन्द तो पत्नी की खोज में था और वह पिछले पन्द्रह वर्ष से रुक्मिणी की प्रतीक्षा कर रहा था। रुक्मिणी के स्थान पर नीलमणि मिल गई, तो वह उसकी ओर आकर्षित हो गया।

जब से वह उसके निवास-स्थान पर आकर रहने लगा था, वह पूर्ण रूप में उसके सम्मोहन में फँस गया था। यही कारण था कि जब ऊदल उससे मिलने आया तो उसको रुक्मिणी के विषय में पूछना भी याद नहीं रहा।

ऊदल को मिलकर गए कई दिन हो चुके थे। गोविन्द रुक्मिणी के विषय

में सर्वथा भूल चुका था और नीलमणि से विवाह की आशा में था। यद्यपि उसने अपने मन की बात अभी तक नीलमणि से नहीं कही थी, इस पर भी उसको विश्वास था कि जब भी वह चाहेगा, ऐसा हो सकेगा। बात ठीक ढंग से करने के लिए वह उचित अवसर की प्रतीक्षा में था। वे दोनों मिलते थे तो अनेकानेक विषयों पर बातें करते रहते थे। इस पर भी विवाह के विषय में उनमें कभी बात नहीं हुई। कदाचित् अन्य विषयों पर कहने और सुनने को इतना कुछ होता था कि इस विषय पर बात करने के लिए अवकाश ही नहीं रहता था।

एक दिन गोविन्द गंगा घाट पर स्नान कर, चन्दन-चर्चित हो लौट रहा था कि उसको बहुत-सी स्त्रियाँ बाजे-गाजे के साथ सामने से आती दिखाई दीं। वह उनको मार्ग देने के लिए मार्ग के तट पर खड़ा हो गया। एकाएक उसकी दृष्टि एक स्त्री पर पड़ी और वह अवाक् खड़ा रह गया। वह रुक्मिणी थी। उसने उसको पहचान लिया। वह एक भले घर की स्त्रियों के-से वस्त्र तथा आभूषण पहने हुए थी। इस पर उसके मन में लालसा उत्पन्न हुई कि वह पता करे कि ये किसके घर की स्त्रियाँ हैं। इस कारण वह उनके पीछे-पीछे चल पड़ा। स्त्रियाँ एक स्थान पर पहुँच एक विशाल-गृह में चली गईं और बाजे वाले बाहर खड़े रहे। वह भी एक ओर खड़ा हो, किसी पुरुष के घर से निकलने की प्रतीक्षा करने लगा। वह किसी जानकार से जानना चाहता था कि ये किसके घर की स्त्रियाँ वहाँ आई हैं?

उसके विस्मय का ठिकाना नहीं रहा, जब उसने उस गृह में से, जिसमें वे स्त्रियाँ गई थीं, ऊदल को निकलते देखा। ऊदल बाजा बजाने वालों को विदा करने आया था। जब वह उनको कुछ कह रहा था, गोविन्द ऊदल के समीप पहुँच नमस्कार करने लगा। ऊदल गोविन्द को वहाँ देख नमस्कार का उत्तर देकर पूछने लगा, "ओह गोविन्दजी! कैसे आए ?"

"मैं इधर से जा रहा था कि तुमको देख मिलने के लिए खड़ा हो गया हूँ। फिर कभी आए नहीं, नृत्य देखने?"

गोविन्द ने रुक्मिणी की बात बतानी उचित नहीं समझी। ऊदल ने कह दिया, "बहन का विवाह हो रहा है। काम में ब्रहुत व्यस्त था।"

"ओह! कहाँ हो रहा है विवाह?"

"तुम जानते हो। गजाननजी के लड़के विरोचन से।"

"वही, जो उस दिन तुम्हारे घर था, जब हम पहली बार मिले थे?"

"हाँ।"

"तो ये स्त्रियाँ उनके घर से आई हैं?"

"हाँ।"

''कोई कार्य मेरे योग्य हो तो बता सकते हो। विवाह पर नृत्य-संगीतादि नहीं होगा क्या?''

''होगा; विवाह के बाद और विदाई के पहले एक मनोरंजनोत्सव करने वाले हैं।''

''यदि आपत्ति न हो तो नीलमणि के नृत्य का प्रबन्ध कर दूँ?''

ऊदल विचार करने लगा कि इस प्रस्ताव से क्या अभिप्राय हो सकता है? क्या वह नर्तकी की दल्लाली भी करने लगा है? कुछ विचारकर उसने पूछा, ''कितना व्यय हो जाएगा?''

''व्यय की चिन्ता न करो, मित्र! तुम समय और दिन बताओ। प्रबन्ध हो जाएगा।''

''ठहरो, पिता जी से पूछ लूँ।''

''तो मैं यहीं ठहरता हूँ। पूछ आओ।''

''नहीं, यहाँ ठहरने की आवश्यकता नहीं। भीतर आ जाओ। तुम्हारे सामने ही बातचीत हो जाएगी।''

गोविन्द यही तो चाहता था। वह उसके साथ गृह की बैठक में चला गया। विवाह का प्रबन्ध हो रहा था और सुरेश्वर भट्ट प्रबन्ध करने वालों से पृथक्-पृथक् बातचीत कर रहा था। कहीं हलवाइयों को पूरी-मिठाई के लिए कहा जा रहा था और कहीं दरियाँ, चाँदनियाँ, वितान आदि लगाने के लिए सुझाव दिया जा रहा था।

ऊदल को भीतर आता देख भट्टजी ने पूछ लिया, ''बाजे वालों को क्या कहा है? ऊदल!''

''उनको मध्य रात्रि के बाद आने को कह दिया है।''

''सूर्योदय से पूर्व न?''

''हाँ, पिता जी!''

''हाँ, तो भीतर जाकर माया की सास से पूछ आओ कि वे भोजन किस समय करेंगी?''

ऊदल ने कहा, ''पिता जी! आपसे एक बात पृथक् में करनी है।''

भट्टजी ने ऊदल के साथ खड़े आदमी को देखा। उन्होंने गोविन्द को पहले कभी नहीं देखा था। इस कारण वे फिर ऊदल की ओर प्रश्न-भरी दृष्टि में देखने लगे। गोविन्द चुपचाप खड़ा रहा। इस पर सुरेश्वर ऊदल के साथ बगल वाले कमरे में आ गया। गोविन्द उन दोनों के पीछे-पीछे था।

वहाँ पहुँच ऊदल ने पूछा, ''आज के समय मनोरंजनोत्सव में नृत्यादि का प्रबन्ध हो गया है क्या?''

"नहीं, अभी नहीं हुआ। शंकर कह रहा था कि वह आएगा तो कर देगा।"

"देखिए, यदि नीलमणि के नृत्य और संगीत का प्रबन्ध चाहते हों, तो ये कर देंगे।"

"नीलमणि? पर बेटा! कितना व्यय बैठेगा? कदाचित् मैं उतना न कर सकं।"

ऊदल ने प्रश्न-भरी दृष्टि में गोविन्द की ओर देखा तो गोविन्द ने कह दिया—"भट्टजी! व्यय कुछ भी नहीं होगा। वह आपसे कुछ नहीं लेंगी।"

"क्यों? मुझसे उसका क्या सम्बन्ध है ?"

"आपसे कोई सम्बन्ध नहीं, परन्तु मुझसे है और मैं आपके सुपुत्र का मित्र हूँ।"

"आप कौन हैं और आपका उससे क्या सम्बन्ध है?"

"इस प्रश्न की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, न ही इसका नृत्य के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध है। इतना मैं आपको आश्वासन देता हूँ कि आपका नाम होगा और आपको कुछ देना नहीं पड़ेगा।"

सुरेश्वर उसका मुख देखता रह गया। उसने अनिश्चित भाव में कहा, "मैं इस सबका अर्थ नहीं समझा। इस क़ारण कुछ उत्तर नहीं दे सकता।"

इस पर अपने भाव को स्पष्ट करने के लिए गोविन्द ने केह दिया, "आपकी पतोहू नीलाम्बरा और मैं एक ही गुरु से संगीत सीखे हैं। इससे नीलाम्बरा मेरी बहन समान है। उसकी ननद के विवाह पर यह मेरी भेंट है।"

"तुम गोविन्द प्रिय हो?"

"जी।"

"और तुम अपनी प्रेमिका से यहाँ नृत्य कराओगे?"

"मैं स्वयं भी कीर्तन करूँगा।"

"जैसा मन में आए, करो। हाँ, यदि आने में कुछ कठिनाई हो तो मध्याह्न तक सूचना भेज देना।"

सुरेश्वर भट्ट को सन्देह था कि सहस्त्र स्वर्ण भेंट लेने वाली नर्तकी उसके गृह पर निःशुल्क नृत्य करेगी क्या? परन्तु गोविन्द के मुख पर गम्भीर मुद्रा देख चुप रहा।

गोविन्द यह कह कि मध्याह्न तक सूचना दे देगा, चला गया। इस पर पिता ने पुत्र की ओर देखकर कहा, "मैं नहीं जानता कि यह ठीक हुआ है अथवा नहीं। रुक्मिणी को कुछ आपत्ति न हो?"

"नहीं होगी, पिता जी! रुक्मिणी ने इसका विचार मन से सर्वथा निकाल

दिया है। गजाननजी उसके लिए एक अन्य स्थान पर बातचीत कर रहे हैं।''

वास्तव में बरात आ चुकी थी। स्त्रियाँ माया को लेकर गौरी के मन्दिर में पूजन कराने गई थीं। बाजा उनको मन्दिर पर ले गया था और वहाँ से लाया था। विवाह मध्याह्नोत्तर होने वाला था, रात को भोजन और विदाई से पूर्व मनोरंजनोत्सव होने वाला था। उस समय भाँडों का नाटक और नर्तकी का नृत्य होने वाला था। ऊदल के मामा शंकर को नर्तकी का प्रबन्ध करना था। वह अभी आया नहीं था और इधर गोविन्द आकर प्रस्ताव कर गया था।

विवाह के समय से पूर्व गोविन्द आया और बात पक्की कर गया।

:: 6 ::

गोविन्द को नीलमणि को निःशुल्क नृत्य के लिए तैयार करने में भारी कठिनाई पड़ी। उसका विचार था कि जैसे ब्राह्मण विद्यादान अथवा यज्ञ-अनुष्ठान करने से लिए भेंट की आशा करता है, परन्तु उनकी चिन्ता नहीं करता, वैसे ही यह नर्तकी भी करेगी। यह उसकी भूल थी।

जब वह घर पहुँचा तो नर्तकी अभी सोकर नहीं उठी थी। दासी ने गोविन्द से कहा, ''आज आपने देरी कर दी है। जब तक आप भजन नहीं गाते तब तक स्वामिनी शय्या से उठती ही नहीं।''

''अब तो बहुत दिन चढ़ आया है?''

''ठीक है पण्डितजी! परन्तु आपके भजनों का उनको नशा-सा हो गया है।''

''अच्छी बात है। मैं आरम्भ करता हूँ।'' उसने नर्तकी का प्रिय गीत गाना आरम्भ कर दिया। उसने एक चौतारा उठाकर देखा, स्वर किया और गाने लगा—

चली राधिका मद माती
वेणु ध्वनि सुन यमुना तट को, मुख से कृष्ण-कृष्ण गाती।
चली राधिका मद माती।

भैरवी में स्वर-ताल-लय के संग गाते हुए जब गृह प्रतिध्वनित होने लगा तो नर्तकी अँगड़ाइयाँ लेती हुई अपने शयनागार से निकल आई और गोविन्द के सामने खड़ी हो गीत सुनने लगी।

गोविन्द ने तानपूरा भूमि पर रखकर कहा, ''रामायण में यह लिखा कि कुम्भकरण को जगाने के लिए-ढोल, नगारे, दंदुभी इत्यादि बाजे बजाए जाते थे। वही अवस्था हमारी प्रिया नील की हो गई है।''

''अन्तर केवल यह है कि कुम्भकरण कर्कश नाद सुन जागा करता था

और मैं अपने प्रियतम का मधुर संगीत सुन जागा करती हूँ। यह अन्तर कम है क्या ?''

''अन्तर तो है, परन्तु वही अन्तर है जो शून्य और अनन्त में है। दोनों पर्यायवाचक शब्द हैं।''

''तो आप नास्तिक हैं।''

''नहीं, परन्तु इतने अन्तर के साथ कि मेरा आदि और अन्त तुम हो।''

''लगे, फिर प्रशंसा करने ?''

''सत्य बात कहनी प्रशंसा नहीं कहाती, रानी!''

''तो निन्दा है यह ?''

''न निन्दा, न प्रशंसा। यह एक वास्तविक स्थिति का वर्णन करना है।''

''तो क्या निन्दा और प्रशंसा में वास्तविकता नहीं होती ?''

''वास्तविक बात को वास्तविक ही कहा जा सकता है। न वह निन्दा होती है, न प्रशंसा।''

''तो जब आप मुझको सुन्दर कहते हैं तो यही समझूँ न कि आप वास्तविक बात नहीं कह रहे ?''

''परन्तु तुमको सुन्दर कहना तुम्हारी प्रशंसा करना नहीं कहा जा सकता। यह तो वस्तुस्थिति है। यह सत्य से भी ऊपर है।''

''बहुत वाचाल हो गोविन्दजी!''

''यह सब राधिका की अनुकम्पा मात्र है।''

''अच्छा तो मुझको स्नानादि से निवृत्त होना चाहिए न। आपको अभी प्रातःकाल का अल्पाहार करना होगा ?''

''ठहरो प्रिये! तुमसे एक बात कहनी है। मेरे मित्र ऊदल, नीलाम्बरा के पति की बहन का आज विवाह है। आज तुमको उसके विवाह--उत्सव पर नृत्य के लिए चलना होगा। मैंने निःशुल्क नृत्य का वचन दिया है।''

''किस समय ?''

''आज सूर्यास्त के आधा प्रहर उपरान्त।''

''वह तो बैठक का समय होता है।''

''आज की बैठक नहीं होगी ?''

''दो सौ स्वर्ण मुद्रा की हानि हो जाएगी।''

''नीला! क्या तुम्हारे पास पर्याप्त धन नहीं है, जो एक दिन की छुट्टी करने पर हानि-लाभ की बात विचार करने लगती हो ?''

''कितना होगा मेरे पास ?''

''कितने वर्ष हो गए हैं तुमको काशी जी में आए हुए ?''

"लगभग पाँच वर्ष हो चुके हैं।"

"मेरा अनुमान है कि तुम्हारे पास पचास सहस्र स्वर्ण अवश्य होंगे।"

"तो यह बहुत है क्या? मेरी अभिलाषा है कि मैं पचास लाख की स्वामिनी हो जाऊँ। मेरे गुरु जी ने यही मेरा मूल्य लगाया था।"

"कुछ भी हो एक दिन के लिए छुट्टी की जा सकती है।"

"बहुत हानि होगी, गोविन्दजी!

"मैं उस हानि की पूर्ति कर दूँगा।"

"कैसे कर दोगे?"

"देखो, मेरे भाग की स्वर्ण मुद्राएँ दस-बारह नित्य होती ही हैं। मुझको एक मास से ऊपर यहाँ आए हो गया है। अत: तीन सौ के लगभग मेरी स्वर्ण मुद्राएँ तुम्हारे पास रखी हैं।"

"वाह! कितनी बार वह आप मुझको दे चुके हैं। अभी उस दिन आपने कहा था कि मेरी चितवन पर वे निछावर हैं।"

गोविन्द ने कहा, "प्रिये! अब तो जाना ही होगा। नीलाम्बरा मेरी बहन के समान है।"

"यदि न जाऊँ तो?"

"तो मैं क्या कर सकता हूँ? मेरा तुम पर कोई अधिकार तो है नहीं। मैं अभी आकर उनको कह आऊँगा कि नीलमणि नहीं आ सकती।"

नीलमणि ने मन में कुछ विचार किया और एक दीर्घ नि:श्वास लेकर कहा, "चलूँगी; परन्तु एक बात है। भविष्य में ऐसी बात बिना मुझसे पूछे न करना।"

गोविन्द चुप रहा। वह अपने पिता के साथ अपनी माता का व्यवहार जानता था। न माँ ने कभी पिता की बात को अस्वीकार किया था, न ही पिता जी ने माँ की।

यद्यपि गोविन्द के पिता उग्र स्वभाव के पुरुष थे, परन्तु वे उसकी माँ के सामने मोम की भाँति नरम हो जाते थे। माँ माधव की स्त्री पर पूरा दबदबा रखती थी, परन्तु पिता जी के सामने बोलती नहीं थी।

गोविन्द को कहीं कुछ भूल प्रतीत होने लगी थी। आज तो उसने चलने का वचन दे दिया था। इससे इस बात को मन से निकाल, वह अपने कार्यक्रम में लग गया।

सायंकाल वह मृदंग, वीणा, चौतारा इत्यादि वाद्य-यन्त्रों को लेकर सुरेश्वर भट्टजी के गृह पर जा पहुँचा।

वर की ओर के लोग भोजन कर चुके थे। घर के प्रांगण में एक विशाल

वितानक के नीचे वर पक्ष के लोग एकत्रित होने लगे थे। मंच पर मृदंग और वीणा बजाने वाले अपने-अपने वाद्यों को सस्वर करने लगे। नीलमणि की एक दासी चौतारा स्वर कर रही थी।

ऊदल ने विरोचन को बता दिया था कि कौन नृत्य करने आ रहा है। विरोचन का यह विचार था कि रुक्मिणी के सामने यह नृत्य ठीक नहीं रहेगा। वह यह समझा था कि उसके नृत्य के साथ जब गोविन्द गाएगा तो रुक्मिणी को ईर्ष्या होने लगेगी। परन्तु ऊदल का कहना था, ''मेरे विचार में रुक्मिणी ने अपने मन से गोविन्द का विचार सर्वथा निकाल दिया है, वह उससे घृणा करने लगी है।''

रुक्मिणी तथा नीलाम्बरा को विदित नहीं था कि गोविन्द और नीलमणि की मण्डली आ रही है। अतः जब गोविन्द मंच पर आया तो उसको जानने वाले सब आश्चर्य में देखते रह गए।

गोविन्द ने सबको नमस्कार कर प्रथम गणपति वंदना का स्तोत्र पढ़ा। उसने गाया—

खर्वं स्थूलतनुं गजेन्द्र वदनं लम्बोदरं सुन्दरं
प्रस्यन्दन्य गन्ध लुब्ध मधुयुत्या लोलगण्डस्थलम्
दन्ताघातविदारि तारि रुधिरै-सिन्दूर शोभाकरम्
वन्दे शैलसुता सुतम् गणपति सिद्धि प्रदं कामदम्।

इसके बाद गोविन्द ने सुर-ताल-लय के साथ एक कीर्तन का गीत गा दिया। उसने गाया—

''राधा की छवि देखी मचल गयो सामरिया॥
हँस मुस्काय प्रेम रस चाखूँ,
तोय नैनन बिच ऐसे राखूँ।
ज्यों काजर की रेख परेगी भामरिया।
राधा की छवि देखी मचल गयो सामरिया॥
तू गोरी वृषभानु दुलारी,
मैं छलिया मेरी चितवन न्यारी।
कारो ही मेरो भेष कि कारी कामरिया।
राधा की छवि देखी मचल गयो सामरिया॥''

गोविन्द का विचार था कि नीलमणि इस गीत के साथ नाचने के लिए मंच पर आ जाएगी, परन्तु वह नहीं आई। इस पर भी उपस्थितगणों ने इस गीत को बहुत पसन्द किया। श्रोता गणों के आग्रह पर गोविन्द ने इसको तीन बार गाया और प्रत्येक बार स्वर-विन्यास में परिवर्तन कर इसमें नवीन रस भर दिया।

उसकी इस प्रकार भूरि-भूरि प्रशंसा होती देख नीलमणि आगार में, जहाँ पर शृंगार कर रही थी, बैठी रही। इस कारण गोविन्द को उसको लिवा लाने के लिए वहाँ जाना पड़ा। वह उस आगार में उसको खिन्न मुद्रा में बैठे देख पूछने लगा, ''क्या बात है नीला? बाहर तुम्हारी प्रतीक्षा हो रही है।''

''प्रतीक्षा के लक्षण तो दिखाई नहीं देते। आपके गाने की प्रशंसा अवश्य हो रही थी। मेरा विचार है कि आप एक-दो गीत और गा दें और बस।''

गोविन्द को उसके आज की आय न हो सकने से दीर्घ निःश्वास लेने की बात स्मरण हो आई। अब उसको अपने से ईर्ष्या प्रकट करते देख उसका मन बुझ गया। इस पर भी उसने कहा, ''प्रिये! वे सब तुम्हारा नृत्य देखने की लालसा रखते हैं।''

विवश नर्तकी उठी और गोविन्द के साथ मंच पर चली आई। आते ही उसने मृदंग और वीणा वाले को संकेत किया और नाचने लगी। गोविन्द की इच्छा थी कि वह नृत्य की विवेचना में एक गीत गा देता, परन्तु नृत्य आरम्भ करने से पहले उसने गोविन्द को कुछ नहीं बताया। गोविन्द चुपचाप खड़ा देखता रहा।

इस कारण नृत्य सर्वथा भाव तथा अर्थहीन दिखाई दिया। परिणाम यह हुआ कि उसके नृत्य में किसी को भी रस नहीं आया।

नीलाम्बरा और रुक्मिणी साथ-साथ बैठी थीं। ऐसा निकृष्ट नृत्य देख नीलाम्बरा ने कहा, ''जी चाहता है कि इस नर्तकी को नृत्य कर दिखाऊँ जिससे इसका अभिमान टूटे। ऐसा प्रतीत होता है कि काशी के मूर्खों को लूट-लूटकर मुटिया गई है।''

''तुम नाचोगी?'' रुक्मिणी ने आश्चर्य से पूछा।

''नाच नहीं सकती। वैद्यजी ने कहा है कि छः मास तक नृत्य का कार्य नहीं कर सकती।''

''तो मैं नाच कर दिखाऊँ इस अभिमान की पुतली को?''

''तुम? हाँ, यह ठीक तो है।''

''मैं तुम जैसा अच्छा नृत्य नहीं कर सकती। इस पर भी इससे तो अच्छा ही नाच सकूँगी।''

''बहुत आनन्द रहेगा।''

नीलाम्बरा ने रुक्मिणी की योजना ऊदल को बताई तो वह आश्चर्यचकित रह गया। कुछ विचार कर उसने इस योजना को पसन्द कर गजानन के पास जाकर कहा, ''काका! इसके बाद रुक्मिणी नाचेगी।''

''नहीं; यह ठीक नहीं।''

"क्यों ? क्या हानि है इसमें ?"

"यह इतना भद्दा नृत्य कर रही है कि जी करता है सब उठकर चल दें। तुम्हारे पिता के मान का विचार कर हम बैठे हुए हैं। परन्तु रुक्मिणी का नृत्य यहाँ ठीक प्रतीत होगा क्या ?"

"क्या हानि है! इससे तो वह बहुत अच्छा नृत्य कर सकती है और वह स्वयं चाहती भी है।"

"तो उसको कहो कि जैसी उसकी अपनी इच्छा हो।"

ऊदल ने रुक्मिणी को गजानन का विचार बताया तो वह तैयार होने लगी।

:: 7 ::

नीलमणि अभी नाच हीं रही थी कि रुक्मिणी बिना श्रृंगार किए ही पाँव में पायल बाँधे मंच पर आ गई। उसको आया देख नीलमणि ने नृत्य बन्द कर दिया और दर्शकों को सिर हिला, नमस्कार कर पिछले आगार में चली गई।

रुक्मिणी को मंच पर देख दर्शक भौचक हो देखते रह गए। गोविन्द भी आश्चर्य करने लगा। जब रुक्मिणी मंच पर आई और नीलमणि मंच से उतरी, मृदंग और वीणा बजाने वाले भी उठ खड़े हुए। इस समय गोविन्द को चेतना हुई। उसने बिना विचार किए ही मृदंग उठा ली और ठनका देना आरम्भ कर दिया।

रुक्मिणी ने कहा, "धमार बजाइए।"

गोविन्द ने उसको ठहरने को कहा और स्वयं धमार के साथ रुक्मिणी का प्रिय गीत गाना आरम्भ कर दिया। उसने गाया—

"तुम सखा बने हो ग्वालों के, पर चलन विलक्षण रखते हो
वे ढोर चरावें वन में, तुम बंसी में माधुरी भरते हो।"

रुक्मिणी नाचने लगी। इस गीत के भाव के अनुरूप मुद्राएँ बनने लगीं। यह उसका अपना प्रिय गीत था और इस पर वह अनेकों बार पहले भी नृत्य कर चुकी थी। अतएव जो भी मुद्राएँ बनती थीं, वे अत्यन्त रसमय और सुन्दर बन रही थीं। गोविन्द के मन में भी उत्साह भर आया और वह प्रत्येक बार इस पद को नये स्वरों में गाता था। उसके साथ बदलते भावों को नवीन मुद्राओं में वह प्रदर्शित करती थी।

आधा प्रहर-भर संगीत और नृत्य चलता रहा। मध्य रात्रि हो गई और विदा का समय आ गया। रुक्मिणी ने मुस्कराकर कृतज्ञता प्रकट की और पाँव से पायल खोल दी।

रुक्मिणी के मंच से उतरते ही सुरेश्वर भट्ट ने रुक्मिणी को धन्यवाद करते हुए कहा, "आज तुमने हमारी लाज रख ली है, अन्यथा इस नर्तकी ने तो सबकुछ गोबर कर दिया था।"

"पिता जी! आपकी लाज और हमारी लाज में कुछ अन्तर है क्या?"

गोविन्द समीप खड़ा इन दोनों की बात सुन रहा था। जब सुरेश्वर विदाई का प्रबन्ध करने चला गया तो रुक्मिणी गोविन्द का धन्यवाद करने के लिए कहने लगी, "गोविन्दजी! बहुत धन्यवाद है। आज आपने तो चिदम्बरम् की स्मृति हरी-भरी कर दी है।"

"रुक्मिणी! कहाँ रहती हो तुम?"

"देखते नहीं कि मैं किनके साथ हूँ।"

"परन्तु ऊदलजी कहते थे कि तुमको सन्देश भेजा है और वहाँ से उत्तर नहीं आ रहा। उनकी बात से ऐसा प्रतीत होता था कि तुम कदाचित् हिमालय पर रहती हो।"

"हाँ, जहाँ तुम रहते हो, वहाँ से तो उतनी ही दूर हूँ, जितना यहाँ से हिमालय है।"

इस समय विरोचन आया और रुक्मिणी से कहने लगा, "रुक्मिणी बहन! माताजी तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हैं।"

रुक्मिणी उस ओर चली गई, जिधर मायाविनी विदा होने के लिए तैयार बैठी थी।

गोविन्द उसी आगार में जा पहुँचा, जहाँ नीलमणि ने शृंगार किया था और जहाँ वह नृत्य के बाद गई थी। वह मृदंग तथा वीणा बजाने वालों को उस आगार में पाने की आशा करता था। वे वहाँ पर नहीं थे। घर के सेवकों से पूछने पर पता चला कि नर्तकी और उसके साथी नृत्य के तुरन्त बाद चले गए थे। गोविन्द भी नर्तकी के घर जा पहुँचा। नर्तकी अपने शयनागार में जा चुकी थी। गोविन्द भी सोने के लिए अपने आगार में चला गया।

अगले दिन प्रातःकाल गोविन्द नित्य की भाँति कीर्तन में लग गया, परन्तु नर्तकी स्वभाव के विपरीत उसका संगीत सुनने नहीं आई। उसके लिए अल्पाहार आया और उसने खा लिया। यह घर में रहने वाले सबको मिलता था।

मध्याह्न तक वह अपने स्वाध्याय में लगा रहा तथा संगीत का अभ्यास करता रहा। तब तक नर्तकी के दर्शन नहीं हुए। एक-आध बार उसने सेविका से पूछा भी कि स्वामिनी का स्वास्थ्य तो ठीक है? उसको उत्तर मिला ठीक है।

मध्याह्न का भोजन वह नर्तकी के साथ बैठकर लिया करता था। वह आज भोजनशाला में गया तो वह वहाँ बैठी हुई थी। गोविन्द ने नमस्कार कर पूछा,

"क्या कारण है आज दर्शन नहीं हुए ?"

"मैं आपसे रुष्ट हूँ।"

"क्यों ? मैंने क्या किया है ?"

"आपने कल मुझे वहाँ ले जाकर अपमानित किया है ?"

"यह कैसे ?"

"मैं वहाँ नहीं जाना चाहती थी। आपने मुझको विवश किया तो मैं वहाँ नृत्य ठीक प्रकार से नहीं कर सकी।"

"जब तुम जाने के लिए मान गई थीं, तो फिर विवशता का प्रश्न कहाँ रह गया था ? साथ ही, यदि तुम नृत्य भली-भाँति नहीं कर सकीं, तो इसके लिए मैं कैसे उत्तरदायी हो गया ? देखो नीला! कल जो कुछ तुमने किया, वह बचपन के अतिरिक्त और कुछ नहीं था, "अब कल के अपने व्यवहार से खीजकर मुझको अपराधी बनाने से कार्य नहीं चलेगा। छोड़ो इस शोक-मुद्रा को और आओ हम अपने विषय में गम्भीर होकर विचार करें।"

इस समय भोजन परोसा जा चुका था और वे खाने लगे। भोजन करते समय दोनों अपने-अपने विचारों में लीन रहे। उन्होंने बातचीत बन्द कर दी।

भोजनोपरान्त जब नीला अपने आगार में विश्राम के लिए जाने लगी तो गोविन्द ने कहा, "मैं तुमसे अपने परस्पर के सम्बन्ध में बातचीत करना चाहता हूँ।"

"तो क्या हमारे परस्पर के सम्बन्ध में कोई नई बात हो गई है ?"

"यही तो मेरा प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर तुमसे पाने की आशा से ही तो मैं वार्तालाप करना चाहता हूँ।"

नर्तकी ने एक क्षण तक गम्भीर होकर विचार किया और फिर कहा, "अच्छी बात है, कहाँ बैठकर बातचीत होगी ?"

"जहाँ तुम्हें बात करने में सुविधा हो।"

"तो चलो बैठक में।"

दोनों उधर को चल पड़े। वास्तव में नीलमणि ने आज तक गोविन्द को अपने शयनागार में ले जाने का सौभाग्य प्रदान नहीं किया था।

बैठक में पहुँच दोनों एक-दूसरे के सामने बैठ गए। बात गोविन्द ने आरम्भ की। उसने कहा, "यह तो तुम जानती ही हो कि मैं रुक्मिणी की खोज में घूम रहा था। तुमने बताया था कि रुक्मिणी तुममें ही है। मैं आज वही अधिकार तुमसे चाहता हूँ, जो कृष्ण का रुक्मिणी पर था।"

"मैंने तो यह कहा था कि मैं राधिका हूँ और रुक्मिणी अब राधा के कलेवर में विद्यमान है।"

"ठीक है। तो राधा का कोई पति है क्या?"

"यह तो कृष्ण ने कभी पूछा नहीं था। न ही आपको पूछना चाहिए।"

"तो मेरा विवाह तुमसे नहीं हो सकता न?"

"ऐसे ही, जैसे कृष्ण का राधा से नहीं हो सका था।"

"नीला! एक बार फिर विचार कर लो। मेरा स्वभाव किसी भी विषय पर बार-बार बात करने का नहीं है। क्या मैं तुम्हारे इस उत्तर को अन्तिम और सुनिश्चित समझूँ?"

"पर मैं पूछती हूँ कि आज यह आपको क्या सूझी है?"

"कल तुमने मेरा भारी अपमान कर दिया था। ऐसा एक पत्नी अपने पति का नहीं कर सकती।"

"इसी कारण तो मैं पत्नी बनना नहीं चाहती। मैं आपके साथ सखी-सखा भाव ही रखना चाहती हूँ। इस अवस्था में मेरा आपसे रूठ जाना कोई अनोखी बात नहीं होगी। मैं इसको अधिक अच्छा समझती हूँ!"

"तुम जीवन में इस ऊबड़-खाबड़ व्यवहार को अधिक पसन्द करती हो क्या?"

"इसी में जीवन का आनन्द है।"

"परन्तु मैं पुरुष हूँ और स्त्री से कुछ अधिक की आशा करता हूँ। मैं गृहस्थी बनना चाहता हूँ। उस घर में फूल समान हँसते हुए बच्चे का समावेश चाहता हूँ। मैं तुमको अपने सुख-दुःख में भागीदार बनाना चाहता हूँ।"

"यह सबकुछ हो तो सकता है, परन्तु तब तक ही जब तक हमारी इच्छा बँधकर रहने की हो। यदि हम बन्धन तोड़ना चाहें तो तोड़ भी सकें। यह चित्र है सुख का मेरे मन में। मैं अभी प्रत्येक प्रकार के सम्बन्ध के लिए तैयार हूँ। आइए मैं आपको अपने शयनागार में चलने का निमन्त्रण देती हूँ।"

गोविन्द इस प्रकार के जीवन के लिए अपने मन को तैयार नहीं कर सका था। इससे पूर्व भी ऐसे अवसर आए थे, जब थोड़े से आग्रह पर वह उसका भोग कर सकता था, परन्तु उसके मन में जीवन का चित्र दूसरा था। वह चित्र इस प्रकार के सम्बन्ध में दिखाई नहीं देता था। जो कुछ वह पिछले दिन देख चुका था, उससे वह इस जीवन को सर्वथा अवांछित मानता था। जिस प्रकार धन के लोभ की प्रवृत्ति उसने नर्तकी में पिछले दिन देखी थी उससे उसे भय था कि कोई भी धनी व्यक्ति उसको घर से धक्के दिलवाकर बाहर कर सकता है। जिस शांति, सुख और आनन्द की खोज में वह चिदम्बरम् से निकला था और गाँव-गाँव में भटकता रहा था, वह नर्तकी के गृह में दिखाई नहीं दे रहा था।

वासना-तृप्ति और विवाहित जीवन में अपार अन्तर था। इस कारण उसने

कहा, ''देखो नीला! मैं तुमसे प्रेम करता हूँ। मैं तुमको अपनी पत्नी बनाने के लोभ में यहाँ टिका था, न कि तुमको अपने भोग की सामग्री मानकर। मैं अब भी यही आशा करता हूँ। छोड़ दो इस वृत्ति को। सौभाग्य से तुम्हारे पास बहुत-सा धन है। यदि न भी होता, तो भी मैं ब्राह्मण हूँ। पढ़ा-लिखा व्यक्ति हूँ। संगीताचार्य हूँ। निर्वाह के लिए पैदा कर सकता हूँ।

''आओ, विवाह कर लें और फिर शान्ति से किसी शैल तुषार भू के गाँव में एक सुन्दर, साफ-सुथरा सुखप्रद गृह बनाकर रहें। तुम अपने जैसे सुन्दर-स्वस्थ लड़के-लड़कियों को जन्म दो। दोनों मिलकर उनका पालन-पोषण करें और फिर उनको पढ़ा-लिखाकर विद्वान् बनाएँ, जिससे हम और वे समाज की सेवा कर अपना ब्राह्मण जन्म सफल कर सकें।''

नीला यह सुन खिलखिलाकर हँस पड़ी। उसने कहा, ''आप विचित्र व्यक्ति हैं! मैं आपको अपने साथ सहवास का निमन्त्रण दे रही हूँ। आइए, मैं तैयार हूँ। परन्तु आप आज से बीस वर्ष बाद के स्वप्न देखते हैं। देखिए, मेरी रुचि बाल-बच्चे पैदा करने में नहीं है, न ही इस प्रकार के विचार मुझको रुचिकर हैं। मैं वर्तमान में विश्वास रखती हूँ। मुझको भविष्य का अथवा भावी जीवन का कुछ भी भरोसा नहीं है।''

गोविन्द इस जीवन-मीमांसा को सुन भौंचक्का हो नीलमणि का मुख भौचक देखता रह गया। नीलमणि अति मनमोहक चितवन से उसकी ओर देख रही थी। गोविन्द को यह सबकुछ घृणित प्रतीत हो रहा था। उसके मन में यह बात स्पष्ट होती जाती थी कि उसको रुष्ट देख उसने भोग-विलास का प्रलोभन सामने रख दिया है तो यह धन की लोभिन किस-किस के सामने ऐसे प्रलोभन उपस्थित नहीं करती होगी? इसका विचार आते ही उसका मन आत्म-ग्लानि से भर गया। उसने नीलमणि से दृष्टि हटा ली और उसके प्रश्न का उत्तर दिये बिना उठ बैठक से निकल गया।

नीलमणि गोविन्द के इस व्यवहार पर चकित हो गई। उसको अपने सौन्दर्य पर बहुत अभिमान था। वह समझती थी कि इस सौन्दर्य के भोग का प्रलोभन तो काशी के महाराज को भी अपने निश्चय से डिगा देने में सफल होगा। इस कारण गोविन्द को इसकी अवहेलना करते देख कुछ काल तक बैठी हुई वह इसका अर्थ समझने का यत्न करती रही। फिर कुछ विचार कर वह गोविन्द के आगार में जा पहुँची।

गोविन्द अपने कौशेय वस्त्र, जो नर्तकी के गृह में पहना करता था, उतारकर अपने वही वस्त्र, जिनमें वह वहाँ आया था, पहन रहा था। नीलमणि उसके आगार के बाहर खड़ी, उसको वस्त्र उतारते और पहनते देखती रही।

जब गोविन्द ने अपना टूटा हुआ जूता पहना और अपना एकतारा और करतालें ले लीं तो नीलमणि बोली, ''गोविन्दजी! इस अभिमान को छोड़िए। मुझको समझने का यत्न करिए। इसमें ही आपका और मेरा कल्याण है।''

''सबकुछ समझ लिया है नीला!''

''क्या समझा है आपने। मेरे साथ एक रात-भर के सहवास का मूल्य पाँच सौ मुद्राएँ हैं। वह आपको बिना मूल्य के मिल रहा है। क्या यह मेरे प्रेम का सूचक नहीं?''

''नीला! तुम समझ नहीं सकतीं। तुम्हारा पल्ला अभी तक किसी सच्चे ब्राह्मण से नहीं पढ़ा। यही कारण है कि तुम प्रत्येक बात का स्वर्ण और रजतों से उल्लेख करती रहती हो। मैं अपना मूल्य इन सोने और चाँदी के टुकड़ों में नहीं लगाता।''

''मैं कहती हूँ कि बाद में पश्चाताप करके लौटने में बहुत बुरा लगेगा। अभी मान जाइए। मैं आपकी ही हूँ।''

गोविन्द आगार से निकलने लगा तो नर्तकी उसका मार्ग रोककर खड़ी हो गई। गोविन्द ने उसे हाथ से एक ओर हटा दिया और कोठे से नीचे उतर गया।

नर्तकी का विचार था कि गोविन्द उसके घर में बहुत सुख और आराम का जीवन व्यतीत कर रहा है। इस सुख-सुविधा को भोग कर वह भिखारियों का जीवन सहन नहीं कर सकेगा। इससे शीघ्र ही ऊबकर वह लौट आएगा। इस आशा पर उसने अभिमान में अपने सिर को झटका देकर तिरस्कार भाव प्रकट किया और अपने शयनागार में आराम करने चली गई।

:: 8 ::

गोविन्द नीलमणि के कोठे से उतरा तो हवा में लीन हो गया प्रतीत हुआ। जब वह चला गया तो नीलमणि को सुध हुई कि उसने उसको घर से निकालकर अच्छा नहीं किया। पहले उसको यह मान रहा कि गोविन्द पर वह इतनी कृपा करती थी, जितनी वह सैकड़ों स्वर्ण देने वाले धनियों पर भी नहीं करती। वह समझती थी कि इसके लिए उसको नर्तकी का कृतज्ञ होना चाहिए था।

परन्तु शीघ्र ही उसके कानों में यह बात गूँजने लगी, जो गोविन्द ने जाते समय कही थी। गोविन्द ने कहा था, ''मैं अपना मूल्य सोने-चाँदी के टुकड़ों में नहीं लगाता।'' नीलमणि पहले इस बात पर नाक चढ़ाती रही और मान से सिर ऊँचा कर अपने शयनागार में चली आई। वहाँ पहुँच वह सो नहीं सकी और विचारों के जंगल में भटकने लगी। बार-बार उसके मन में यह प्रश्न उठ रहा था

कि उसके अभिमान ने गोविन्द को परास्त किया है अथवा गोविन्द की अवहेलना ने उसके अभिमान को चूर किया है ?

यदि नीलमणि के निमन्त्रण को गोविन्द स्वीकार कर लेता और उसके साथ सहवास के लिए चला आता तो निःसंदेह नीलमणि अपने सौन्दर्य पर अभिमान कर सकती, परन्तु उसका इस बात को अस्वीकार करना उसके लिए एक समस्या बन गई। उसके मन की ऐसी अवस्था हो गई, जिसका विश्लेषण करने में कठिनाई अनुभव करने लगी थी।

वह अपने पलंग पर लेटी-लेटी यह विचार कर रही थी कि वह इस निर्धन ब्राह्मण पर क्यों इतनी दयालु हो रही थी ? वह घण्टों बैठी हुई उससे प्रेम की बातें करती रहती थी। यदि कोई काशी का धनी व्यक्ति उससे यही सुविधा माँगता तो वह तुरन्त सौ-दो सौ स्वर्ण माँग लेती। वह मन में विचार करती थी कि वह क्यों गोविन्द को इतना कुछ अनायास ही, बिना किसी मूल्य के देती थी ? इसका उत्तर उसकी लोभी प्रवृत्ति के कारण उसको मिल नहीं रहा था।

सायं हो गई और वह अपने पलँग से उठी नहीं। दासी आई और कहने लगी, ''दर्शक आए हैं और आप अभी तैयार नहीं हो रहीं ?''

नीलमणि अपनी इस सुस्ती पर विस्मय करती हुई उठी और स्नान करने चली गई। दासी बाहर बैठक में गई और दर्शन-भेंट एकत्रित करने लगी। जब वह स्वर्ण मुद्राओं से लदी हुई भेंट की थाली लेकर भीतर आई तो स्वामिनी दर्पण के सामने बैठी गम्भीर विचार में लीन थी। दासी ने उसको सचेत करने के लिए कह दिया, ''स्वामिनी ! भेंट पूरी हो गई है।''

नीलमणि ने विस्मय में दासी की ओर देखा और सामने स्वर्णमुद्राओं को चाँदी की थाली में देख समझ गई कि दर्शकगण आ गए हैं। वह उठ वस्त्र पहनने लगी, परन्तु इसमें उसका मन नहीं लगा।

आज वह श्रृंगार करने लगी तो उसको ऐसा लगा कि दर्पण में वह कुछ कुरूप ही दिखाई देने लगी है। मस्तक पर बिन्दी लगाई तो वह टेढ़ी लग गई। आँखों में काजल डाला तो वह छिटककर गाल पर गिर गया। गाल को धोया तो आँख की कालिख कम हो गई, साथ ही अधरों की सुर्खी भी धुल गई। वह चूड़ियाँ पहनने लगी तो तीन-चार टूट गईं। इस पर वह विचार करने लगी कि आज उसका चित्त अस्वस्थ है और वह नृत्य भी भली-भाँति कर नहीं सकेगी और इससे उसकी भद्द होगी। उसने दासी को कहा, ''देखो, आज दर्शकों को कह दो कि मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है। आज मैं बाहर नहीं आ सकती।''

दासी विस्मय में उसका मुख देखती रह गई। नीलमणि ने दासी को अपनी ओर देखते हुए पाया तो डाँटकर बोली, ''जाओ, कह दो न।''

वह मन में विचार करती थी कि धन लौटा देना चाहिए। इस पर भी उसको लौटाने की बात कहते, उससे बनती नहीं थी। उसके हृदय-स्थल पर टीस उठ खड़ी हुई थी। इस पर दासी ने कह दिया, "यदि वह वापस न किया गया तो दर्शक क्रुद्ध हो जाएँगे।"

"तो लौटा दो।" नीलमणि ने कह दिया। वास्तव में वह डर गई थी। एक बार उसके मन में आया कि यह धन तो दर्शन-मात्र के निमित्त है। वह बाहर जाकर दर्शन देकर भेंट ले सकती है। वह दासी को वापस बुलाना चाहती थी, परन्तु वह तब तक चली गई थी।

नीलमणि ने अपना मुख दर्पण में देखा तो शृंगार अस्त-व्यस्त देख सन्तोष करके बैठ रही। उसको धन जाने का दुःख तो था, परन्तु वह देख रही थी कि न तो वह आज नाच सकती है और न उसका मुख बाहर दिखाने के योग्य है।

अगले दिन वह गोविन्द के अभाव को अनुभव करने लगी। पिछले दिन वह बैठक में बैठा गाता रहा था और वह अपने शयनागार में लेटी-लेटी सुनती रही थी। वह गोविन्द को खिजाने के लिए उस दिन बैठक में नहीं गई थी। आज संगीत करने वाला कोई नहीं था और उसको घर सुनसान प्रतीत होने लगा था।

वह उठी और गोविन्द को देखने बैठक में और फिर उसके सोने के आगार में गई। उसको वहाँ न देख निराशा अनुभव करने लगी। उसको आशा थी कि आज गोविन्द गाता हुआ कटरे में आएगा। वह नहीं आया।

अपने मन की अवस्था देख आज पहली बार उसको सन्देह हुआ कि कदाचित् वह गोविन्द से प्रेम करने लगी है। अभी तक वह उससे अपना व्यवहार केवल नाटक का-सा अनुभव करती थी। कइयों के साथ वह प्रेम का नाटक कर चुकी थी और गोविन्द से राधा का नाटक भी वह उसी प्रकार का समझती थी। आज उसको यह सन्देह होने लगा था कि राधा का नाटक करते-करते वह वास्तव में प्रेम-दीवानी होती जाती है।

वह उदास मन अपने शयनागार में आ गई और पुनः अपनी शय्या पर लेट विचार करने लगी। वह सोचती थी कि यदि सत्य ही वह प्रेम-पाश में फँस गई है तो वह नर्तकी का काम कैसे कर सकेगी? अभी उसके मन में, यद्यपि पहले से क्षीण धारणा थी कि वह अपने मन की अवस्था पर अधिकार पा जाएगी। अगले दिन भी किंकर्तव्यविमूढ़ की भाँति सोती-जागती, खाती-पहनती रही और उद्देश्यरहित हो नृत्य तथा संगीत के लिए मन को तैयार नहीं कर सकी।

वह कभी सोचती थी कि वह सौन्दर्य की स्वामिनी है, जिसके सामने महर्षि विश्वामित्र जैसे तपस्वी भी पराजित हो गए थे। गोविन्द भी लौट आएगा और उसके सौन्दर्य में वशीभूत हो, उसके सामने गिड़गिड़ाएगा। वह धनी-मानी

सेठों के युवा पुत्रों को अपने पाँव में लोट-पोट होते देख चुकी थी।

गोविन्द नहीं आया और ज्यों-ज्यों उसके बिना दिन व्यतीत होते गए नीलमणि का मान मर्दन होता गया। अब वह यह समझने लगी थी कि जो लोग उसकी रूपरेखा देखने के लिए स्वर्ण की वर्षा करते हैं, वे मूर्ख हैं। वह उनके विषय में बहुत हीन मत बना गोविन्द पर और भी अधिक मुग्ध होती गई। इन दिनों नर्तकी की बैठक बन्द रही।

एक दिन उसका एक धनी ग्राहक-मध्याह्न के समय आया और नर्तकी से मिलने का आग्रह करने लगा। दासी नर्तकी का सन्देश लाई कि वह स्वस्थ नहीं है, इस कारण मिल नहीं सकती।

मिलने के लिए आने वाला सेठ सखाराम था। उसकी रजत-स्वर्ण जड़ित वस्त्रों की बहुत बड़ी कोठी थी और सहस्रों स्वर्ण नित्य का व्यापार होता था। सखाराम जब भी मनोरंजन के लिए इच्छा करता, नीलमणि के कोठे पर आता और दर्शन के लिए अच्छी-खासी भेंट जेब में लेकर आया करता। इन दिनों वह कई बार सायंकाल आ चुका था, परन्तु सबकी भाँति वह भी लौटा दिया गया था। इस कारण वह आज मध्याह्न के समय आया। वह मन में नर्तकी से मिलने का निश्चय कर आया था।

दासी ने जब नर्तकी की मिलने में अरुचि बताई तो सखाराम ने कहा, ''अरी! पूछकर आओ कि दर्शन के लिए कितनी भेंट चाहिए?''

दासी गई और उत्तर लाई कि वे किसी भी मूल्य पर बाहर नहीं आ सकतीं।

इस पर सखाराम ने कहा, ''जाओ, स्वामिनी से कह दो कि हम किसी प्रकार भी बिना दर्शन किए लौट नहीं सकते। यदि वह अमूल्य हो गई है तो हम बिना मूल्य ही दर्शन करेंगे।''

''कैसे करेंगे श्रीमान्?''

''बलपूर्वक।''

''आपका क्या अधिकार है जो बल का प्रयोग करेंगे?''

''मेरा वही अधिकार है, जो किसी माता-पिता का अपने लड़के को कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग पर ले जाने में होता है।''

''तो श्रीमान् हमारी स्वामिनी के माता-पिता हैं?'' दासी ने मुस्कराकर पूछा।

''माता-पिता तो नहीं, हाँ, उससे बड़ी आयु वाला मित्र अवश्य हूँ। मेरा अधिकार माता-पिता से अधिक है।''

''ओह!'' दासी ने मुस्कराते हुए कहा, ''परन्तु बड़े भाई! यदि स्वामिनी आपके अधिकार को न मानें तो बल प्रयोग अपराध हो जाएगा और दण्ड योग्य भी।''

"वह राज्य निर्णय करेगा और तब तक मैं अपना कर्त्तव्य पालन कर लूँगा।"

"अच्छी बात। स्वामिनी से पूछ लूँ कि वे क्या चाहती हूँ।"

"जल्दी करो, मेरे पास समय कम है। देखो, उनसे कह देना कि मेरा नाम सखाराम है।"

दासी गई और सन्देश लाई, "वे कहती हैं कि सेठजी यदि बल प्रयोग करना चाहते हैं तो कर लें। वे अपनी इच्छा से मिलने को तैयार नहीं।"

"तो ठीक है।" इतना कह सखाराम उठ खड़ा हुआ और भीतर नर्तकी के शयनागार की ओर जाने लगा। दासी मार्ग रोककर खड़ी हो गई। सखाराम ने अपनी जेब में से एक स्वर्ण निकालकर दासी को दिखाया तो वह दासी ने ले लिया और मार्ग छोड़ दिया। एक दासी शयनागार के द्वार पर मिली। यहाँ उसको कुछ अधिक देना पड़ा। वह पाँच स्वर्ण लेकर मार्ग छोड़ने पर मान गई। सखाराम नर्तकी के शयनागार में जा पहुँचा।

:: 9 ::

नर्तकी बहुत साधारण वस्त्र पहने दर्पण के सामने बैठी गम्भीर विचार में पड़ी थी। सखाराम उसके पीछे जाकर खड़ा हो गया। नर्तकी ने उसका प्रतिबिम्ब दर्पण में देखा तो प्रतिबिम्ब की ओर देखती हुई बोली, "करो बलात्कार। काशी की पुण्य नगरी में यह पुण्य कार्य होना ही चाहिए।"

"देखो नीलमणि! मैं बलात्कार करने नहीं आया। मैं तुम्हारी बैठक में बीसियों बार आया हूँ, परन्तु मैंने तुमसे भोग करने की कभी माँग नहीं की; इस पर भी मैं तुमको पर्याप्त धन देता रहा हूँ। फिर मैं तुम्हारा कोषाध्यक्ष भी हूँ।"

"रुपये का हिसाब-किताब तो मैं दूकान पर ही किया करती हूँ। यहाँ मैं लेने का सौदा ही करती रही हूँ। देने का नहीं।"

"पर मैं तो तुमसे यह पूछने आया हूँ कि तुमने यह रूठने का नाटक क्यों कर रखा है?"

"यह रूठना नहीं है सेठजी! यह वैराग्य का ज्वर है। मैं समझ गई हूँ कि मैं मृगतृष्णा के पीछे भाग रही थी। अब उसका पीछा करना छोड़ बैठी हूँ।"

"परन्तु देवी! मृगतृष्णा तो मरुभूमि में ही दिखाई देती है न। मरुभूमि में निश्चल बैठने से तो प्यास से तड़प-तड़प कर मर जाओगी। यदि उस काल्पनिक जल के पीछे नहीं जाओगी तो क्या करोगी? काल्पनिक जल वास्तविक जल हो सकता है, परन्तु मरुभूमि में पड़ा रहना तो निःसन्देह मृत्यु का आह्वान है।"

"यही तो इतने दिन से विचार पर रही हूँ। मृगतृष्णा का पीछा छोड़ दिया है, परन्तु किधर जाऊँ जिससे शान्ति मिले।"

"यही बताने का विचार लेकर आया हूँ। कहो तो सुझाव उपस्थित करूँ?"

"हाँ, कहिए।"

"देखो नील! यह संसार माया है। प्रत्येक मनुष्य में कभी-न-कभी शिशुपन आ जाया करता है। तब उसका व्यवहार शिशुओं की भाँति हो जाता है, वह संसार के पीछे एक खिलौने की भाँति भागता है। इस पर भी सदा शिशु बना रहना ठीक नहीं है। बड़ा होने अर्थात् सज्ञान होने पर बुद्धि युक्त व्यवहार अपनाना ही चाहिए। अर्थात् संसार को एक खिलौना मान, उसका त्याग कर वास्तविकता की ओर चल पड़ना चाहिए।"

"वास्तविकता क्या है, जो संसार से अतिरिक्त है?"

"आत्म-निरूपण।"

"आत्मा क्या है?"

"ओ भोली नील! अब तुम मार्ग की बात छोड़-ध्येय के विषय में पूछने लगी हो। मैंने तो तुमको मार्ग बताया है, जिस पर चलकर तुम इस मरुभूमि, अर्थात् संसार को पार कर सकती हो। तुम इस मार्ग पर चलकर परमानन्द पाओगी। इसी के लिए योगी-योगीश्वर, मुनि-मुनीश्वर और सिद्ध-महात्मा लालायित रहते हैं।"

"सेठजी! आपने यह परमानन्द पाया है क्या?"

"फिर वही बात। मैंने पाया होता तो तुम्हारे नाच-गानों में आकर धन लुटाता क्या? देखो, महात्मा बुद्ध बहुत दु:खी हुए थे। वह तपस्या करने घर से निकल गए। तपस्या करने में जब उनको दु:ख की निवृत्ति दिखाई नहीं दी तो फिर देशाटन करने लगे और जन-जन को कहने लगे कि वे भी गृह त्यागकर विरक्त भाव से रहने लगें।"

नीलमणि हँस पड़ी। हँसकर उसने पूछा, "उनको तो घर से निकल तपस्या में निवृत्ति दिखाई दी नहीं और दूसरों को वही मार्ग बताने लगे?"

"नहीं, नहीं; नील! तपस्या करने में उनके दु:ख की निवृत्ति नहीं हुई। दु:ख की निवृत्ति हुई निरन्तर भ्रमण करने में और संसार को उपदेश देने में। वे यह उपदेश देने लगे कि नेक बनो, पंचशील के अनुसार आचरण करो और गृहस्थ को छोड़ो। बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि तथा धम्मं शरणं गच्छामि का जाप करो।"

"ऐसा करने से क्या होगा?"

''आत्म-निरूपण और फिर उससे परमानन्द की प्राप्ति।''

''आपने यह प्राप्त किया नहीं, इस कारण आपके उद्देश्य को किस प्रकार ठीक मान लूँ?''

''देखो नील! तुम इतनी सुन्दर हो कि लोग तुम पर ढेरों स्वर्ण निछावर करते हैं। तुम्हारे प्रशंसक तुम्हारी किंचित् मात्र भी भृकुटि चढ़ाने पर अपना जीवन भी निछावर करने पर तैयार हो जाते हैं और तुम्हारी मुस्कराहट पर, कारण जाने बिना ठहाका मार हँस पड़ते हैं। तुम महाराज काशी से भी अधिक अच्छा खाती हो, तुम काशी की महारानी से भी अच्छा पहनती हो और कोई सांसारिक सुख ऐसा नहीं, जो तुम भोग करने की सामर्थ्य नहीं रखतीं। इस पर भी तुम दुःखी हो। इससे क्या यह पता नहीं चलता कि सुख और दुःख इस धन-वैभव से कुछ अतिरिक्त है। उस अतिरिक्त की ओर मैंने संकेत किया है। उस अतिरिक्त को तुम भी महात्मा बुद्ध की भाँति ढूँढ़ लो।''

''उस अतिरिक्त वस्तु को पाने की आप इच्छा नहीं करते क्या।''

''मैं समझता हूँ कि मुझको अपनी वर्तमान परिस्थिति में दुःख नहीं है, इस कारण इस अतिरिक्त की खोज में जाने की मेरी इच्छा नहीं होती?''

''आप तो धनी हैं। अच्छा खाते-पीते हैं, परन्तु आपको दुःख क्यों नहीं?''

''मैं धन कमाता हूँ, धन का उपभोग करने के लिए। धन का उपभोग है इसका उन कार्यों में व्यय करना, जिनको मैं भला समझता हूँ। मेरी एक लड़की थी उर्वशी। मैंने उसके विवाह पर पचास सहस्र व्यय कर दिया। मैंने एक सत्यनारायण का मन्दिर बनवाया है। एक लक्ष स्वर्ण उस पर व्यय कर दिया। प्रतिवर्ष विश्वनाथजी के मन्दिर का भोग लगवाता हूँ और उस अवसर पर आधी काशी मेरे यहाँ भोजन करती है। इस प्रकार की बातों पर मैं अपना धन व्यय करता हूँ। मेरे पास शेष कुछ बचता नहीं। इस कारण मुझको दुःख नहीं होता। मैं मन में विचार करता हूँ कि अपने परिश्रम से कमाया है और अपनी इच्छा से व्यय किया है। यह बात मुझको बहुत भली प्रतीत होती है।

''इससे मेरा यश होता है। मैं उस यश से भी अपनी इच्छानुसार लाभ उठाता हूँ। मेरे यश के कारण लोग मुझसे सहायता माँगने आते हैं और मैं वरदहस्त सहायता देता हूँ।

''मैंने विवाह किया है गृहस्थ सुख पाने के लिए और मैं पाता हूँ। यह सुख मैं तभी प्राप्त कर सकता हूँ, जब मेरी पत्नी प्रसन्न हो। अतः मैं उसको प्रसन्न करने के लिए उसकी इच्छानुकूल कार्य करता हूँ। वह प्रसन्न होती है तो घर पर मुझको स्वर्ग के समान सुख मिलता है।''

"तो आप मुझको भी यही मार्ग क्यों नहीं बताते?"

"अर्थात् तुमको भी गृहस्थ प्रवेश करने को कहूँ?"

"हाँ, और आप मुझसे विवाह कर लीजिए।"

"नहीं बाबा! मैं तो अपनी पत्नी से सर्वथा प्रसन्न हूँ। हाँ, यदि तुम विवाह करना चाहो तो कोई अन्य अपनी पसन्द का पुरुष ढूँढ़ लो। तुम इतनी सुन्दर हो कि कोई भी तुमसे विवाह के लिए तत्पर होगा।"

"परन्तु मैं आपसे विवाह करना चाहती हूँ।" नर्तकी ने मुस्कराते हुए और टेढ़ी दृष्टि से सेठ की ओर देखते हुए कहा।

"तो ऐसा करो। तुम मेरी पत्नी से मिल लो और उससे सौतन बनने की स्वीकृति माँग लो।"

"यदि वह न मानी तो?"

"तो फिर किसी अन्य पुरुष की खोज करो।"

"तो यही बात बताने के लिए आप मेरे शयनागार में बलपूर्वक आए हैं?

"मैंने सुना था कि गोविन्द के चले जाने से तुमको दुःख हुआ है। मैंने विचार किया कि तुम्हारे दुःख के निवारण के लिए कुछ समय व्यय करूँ। सो मैंने दुःख निवारण का उपाय अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार तुमको बताया है। अब तुम इस पर मनन करो और कभी इस विषय पर और कुछ पूछने की आवश्यकता हो तो अपनी दासी को भेजकर बुला लेना। अब मेरी दुकान का समय हो गया है और मैं जा रहा हूँ।"

इतना कह सखाराम उठ खड़ा हुआ। नीलमणि विचार कर रही थी कि यह विचित्र व्यक्ति है। चौथाई पहर अपना मनोरंजन कर चल पड़ा है। उसने सखाराम को कहा, "अजी सेठ महोदय! सुनिये तो।"

सेठ खड़ा-खड़ा ही उसका मुख देखने लगा।

नर्तकी ने व्यंग्यात्मक व्यंगात्मक भाव में कहा, "आपका मनोरंजन हो गया परन्तु मेरे पल्ले कुछ नहीं पड़ा।"

"मेरे कहे पर मनन करोगी तो बहुत कुछ पा जाओगी।"

:: 10 ::

सखाराम चला गया और नर्तकी ने अनुभव किया कि कई दिन के बाद आज यह समय रसमय कटा है। इस सब समय वह यही समझती रही थी कि वह मूर्ख अनर्गल बात करता रहा है।

एक बात विशेष हुई थी कि सखाराम ने उसके नाचने-गाने के विषय में एक भी शब्द नहीं कहा और न ही उससे प्रेम-प्रलाप की बात कही। इस पर भी

उसको यह अनुभव हुआ कि वह कुछ तो आनन्द प्राप्त कर रहा प्रतीत होता था। वह स्वयं उसकी बातों से कुछ सुख पा रही थी। पहले वह इसको केवल मात्र मनोरंजन ही मानती रही। उसने समझा कि इतने दिन के बाद किसी से बातचीत करने का अवसर मात्र ही था, परन्तु उसके चले जाने के बाद जब वह उसके कहने पर मनन करने लगी तो उसको उसमें प्रयोजन भी समझ में आने लगा।

'धन का उपभोग करता हूँ। उसको अपनी इच्छानुसार व्यय करता हूँ और सुखी हूँ। लोग मुझसे सहायता माँगने आते हैं और मैं उनकी सहायता कर और भी प्रसन्न होता हूँ। गृहस्थ-सुख पाने के लिए विवाह किया है और वह मिलता है पत्नी को प्रसन्न रखने पर।'

नीलमणि कितने ही दिन तक सखाराम की बातों पर विचार करती रही। उसके मन में अब नए-नए विचार उत्पन्न होने लगे और उसके कथन पर प्रश्न उत्पन्न होने लगे। इस पर उसके मन में विचार आया कि वह सखाराम को बुलाकर अपने मन के सन्देहों का निवारण कर ले। उसने दासी को भेजकर उसको बुलाया। सखाराम ने कहला भेजा कि तीन दिन बाद मध्याह्न के समय वह उससे मिलने आएगा। यदि उसके पहले आवश्यकता हो तो वह उसको उसकी रेशम की कोठी में मिलने आ सकती है।

नीलमणि को यह अवहेलना अपना अपमान प्रतीत हुआ और इसका बदला लेने के लिए वह उसकी दूकान पर जा पहुँची। पहले कई बार वह उसको दूकान पर मिलने जा चुकी थी। उसका सब धन सेठ सखाराम के पास जमा था। जब वह वहाँ जाया करती तो सब नौकर-चाकर और सेठ भी उसका बहुत आदर किया करते थे। आज वह वहाँ गई तो सखाराम वहाँ नहीं था। सेठ की अनुपस्थिति में नौकरों ने वह आदर प्रकट नहीं किया, जितना वे उसके सामने किया करते थे। इससे नीलमणि का मन बुझता गया। उसने एक कर्मचारी से पूछा, "सेठजी कहाँ हैं?"

"आज दूकान पर नहीं आए।"

"कहाँ मिल सकेंगे?"

"आजकल वे कारखाने में अधिक रहते हैं।"

नीलमणि सेठ के कारखाने का पता पूछ वहाँ जा पहुँची। वह वहाँ कभी नहीं गई थी। कारखाने में खड्डियों पर जुलाहे काम कर रहे थे। कहीं कंदलाकश सोने और चाँदी के बारीक तार निकाल रहे थे। कहीं कपड़े की तह बैठाने वाले शिकंजों में कपड़ों को कस रहे थे और फिर कपड़े की गाँठें बाँधी जा रही थीं।

सेठ सखाराम काम की देखभाल कर रहा था। उसने नीलमणि को

कारखाने में आते देखा तो एक कर्मचारी को उसे कारखाने के कार्यालय में ले जाने के लिए भेज दिया। वह कर्मचारी नीलमणि को कहने लगा, ''आप उधर चलिए। सेठजी आपको वहाँ मिलेंगे।''

''वे यहाँ क्या कर रहे हैं?'' नीलमणि ने उस कर्मचारी के साथ चलते हुए पूछा।

कर्मचारी ने बताया, ''सेठजी के भाई एक नए कपड़े की कोठी खोलने कौशाम्बी गए हैं। इस कारण सेठ साहब यहाँ का काम भी देखते हैं और दूकान का भी। पहले उनके बड़े भाई यहाँ का काम देखते थे।''

''कौशाम्बी में कौन काम करेगा?''

''यह अभी निश्चय नहीं किया गया। सेठजी का छोटा भाई महेश अब सज्ञान हो गया है। कदाचित् उसके लिए ही यह नया काम खोला गया है।''

इस समय वे बैठक में पहुँच गए थे। कर्मचारी ने नीलमणि को वहाँ एक आसन पर बैठा दिया और स्वयं वहाँ से चला गया। कितनी देर तक नीलमणि वहाँ बैठी सखाराम की प्रतीक्षा करती रही। सखाराम नहीं आया। वह बैठी-बैठी उकता रही थी कि एक कर्मचारी आया और उसके लिए शीतल पेय दे गया। वह उसके सामने रखकर कहने लगा, ''आप इसका सेवन करिए। सेठजी अभी आते हैं।''

पेय लेने से नीलमणि की घबराहट कुछ कम हुई। वह पुनः स्थिर-चित्त हो प्रतीक्षा करने लगी। दो घड़ी और व्यतीत हो गई। अब वह उकता कर वहाँ से चली जाना चाहती थी कि सेठजी का एक अन्य कर्मचारी फलों की थाली ले आया। वह बोला, ''सेठजी क्षमा चाहते हैं कि आपको इतने काल तक बैठना पड़ा है। वह अब शीघ्र ही आने वाले हैं।'' विवश नीलमणि वहाँ बैठी फल खाने लगी।

वह धीरे-धीरे सब फल खा गई और अब वह उठ खड़ी हुई। इस बार सेठ सखाराम स्वयं आ गया। आते ही वह कहने लगा, ''बैठो, बैठो नील! नाराज होने की बात नहीं। यह तो दया करने का विषय है। मैं आजकल दया का पात्र बना हुआ हूँ। बताओ क्या काम है?''

नीलमणि खिलखिलाकर हँस पड़ी और बैठ गई। हँसकर उसने कहा, ''आप भी बैठिए। तभी बात कर सकती हूँ।''

सेठ बैठा तो नीलमणि ने अपने आने का कारण बता दिया। उसने कहा, ''मैं आपसे मिलकर कुछ संशय निवारण करना चाहती थी। आपने दासी के हाथ कहला भेजा कि आप तीन दिन के बाद मिल सकते हैं। मैं यह देखने आई हूँ कि ऐसा कौन-सा काम है आपको, जो तीन दिन तक मेरे गृह पर नहीं आ सकते?''

''तो देख लिया है न?''

''हाँ, वास्तव में आप दया के पात्र हैं। सत्य ही आपकी कमाई बहुत ही परिश्रम की है। दिन-भर में कितनी आय हो जाती होगी इस धन्धे से?''

''यह न पूछो नील? इतना समझ लो कि हमारे परिवार को प्रति मास इतनी आय है कि उसके प्रत्येक सदस्य को पाँच सौ स्वर्ण मिल जाता है। घर के व्यय के लिए पृथक् दिया जाता है।''

''यह कुछ भी न हुआ। मैं दो घण्टे नृत्य करती हूँ तो मुझको दो-ढाई सौ प्रतिदिन मिलता है।''

''इस पर भी मैं अपने भाग के धन में से सौ-दो सौ स्वर्ण दान-दक्षिणा में दे देता हूँ।''

''तो जो कुछ आप मुझको देते हैं वह इस धन में से ही है, अथवा वह पृथक् मिलता है?''

''हाँ, वह मैं अपने भाग में से ही देता हूँ। देखो, उस दिन मैं तुम्हारी दासियों को कुछ स्वर्ण दे आया था। वह दान कहा जा सकता है। उस दिन मैंने तुमको कुछ नहीं दिया। यदि देता तो वह मनोरंजनार्थ होता। उस दिन मनोरंजन तो हुआ नहीं था।''

''मैं समझी थी कि आप मुझसे बातें कर प्रसन्नता लाभ कर रहे थे।''

''मैं प्रसन्नता लाभ कर रहा था, परन्तु वह प्रसन्नता तुमसे बात करने से प्राप्त नहीं हुई थी। वह तुमको सीख देने पर मिली थी। जब हम किसी दूसरे का भला करते हैं, तो हमको आत्मतुष्टि होती है। यह भी दान देने के तुल्य ही है।''

''आपका अभिप्राय है कि दान देने से सुख मिलता है?''

''इसको सुख तो नहीं कहा जा सकता। हाँ, इसको प्रसन्नता कह सकते हैं। प्रसन्नता मन का गुण है, सुख शरीर का। दोनों का प्रभाव आत्मा के ऊपर होता है।''

''मैं आपसे यह जानना चाहती थी कि मैं अब क्या करूँ? मेरा मन नर्तकी के कार्य में नहीं लगता।''

''देखो नीला! मैं बहुत पढ़ा-लिखा व्यक्ति नहीं हूँ। मैंने अपनी बात तुमको बताई थी। यदि उससे तुमको कुछ लाभ प्रतीत नहीं हुआ तो तुम हमारे गुरु श्री भदन्त वात्यायनजी के पास चली जाओ। वे तुमको ठीक मार्ग बता देंगे।''

''आपकी बात कुछ समझ में आ रही है। इस पर अभी भी उसमें समझने को बहुत-कुछ है।''

''गुरु जी कौशाम्बी में हैं; तुम वहाँ जा सकती हो। यदि तुम चाहो तो परिचय-पत्र दे सकता हूँ।'

"क्या परिचय देंगे ? यही न कि मैं नर्तकी हूँ, वेश्या हूँ। ऐसे परिचय-पत्र की आवश्यकता नहीं।"

"तो कैसा परिचय-पत्र चाहती हो ? इतना मैं बता सकता हूँ कि नर्तकी अथवा वेश्या होना बौद्ध विचारधारा में इतनी बुरी बात नहीं मानी जाती, जिससे उसकी निर्वाण-प्राप्ति असम्भव समझी जाए।"

"तो मैं जाऊँगी। आपके परिचय-पत्र की आवश्यकता नहीं।"

:: 11 ::

नीलमणि ने शीघ्र-से-शीघ्र अपने काम को समेटा। उसने अपना पूर्ण धन, जो लगभग एक लाख स्वर्ण था, सेठजी को निकालकर रखने के लिए कह दिया।

उसमें से दो सौ स्वर्ण अपने साथ ले वह यात्रा पर चल पड़ी। उसके साथ एक दासी, एक रथ और एक सारथी था। वह स्वयं बहुत ही सादे सूती वस्त्र पहने हुए थी।

जब वह विहार के द्वार पर पहुँची तो वहाँ की बुरी अवस्था देख विस्मय करने लगी। विहार नगर से दो कोस की दूरी पर राजमार्ग से दूर एक ओर था। नीलमणि को अपना रथ वहाँ ले जाने के लिए मार्ग नहीं मिला। इस कारण उसने रथ को नगर में छोड़ दिया और पैदल ही वहाँ जा पहुँची।

विहार की दीवार पक्की थी, परन्तु द्वार जर्जर हो रहा था। द्वार पर एक वृद्ध भिक्षु बैठा हुआ ऊँघ रहा था।

जब सामने जाने पर भी भिक्षु सचेत नहीं हुआ तो नीलमणि ने उसको झटका देकर जगाया और पूछा, "भदन्त! प्रभु वात्यायन इसी विहार में रहते हैं क्या ?"

"हाँ; क्या काम है ?"

"मैं उनसे अपने विषय में कुछ पूछना चाहती हूँ ?"

"क्या पूछना चाहती हो ?

नीलमणि को क्रोध चढ़ आया। उसने कहा, "मैं उनसे वह जानता चाहती हूँ, जो आप नहीं जानते।"

"कैसे जानती हो कि मैं नहीं जानता ?"

"यदि आप जानते होते आप महाप्रभु होते और मुझको भेजने वाले आपके पास भेजते।"

"किसने भेजा है तुमको ?"

नीलमणि को क्रोध तो बहुत आ रहा था। इस पर भी स्वयं को नियन्त्रित

कर बोली, ''काशी के सेठ सखारामजी ने।''

सेठ सखाराम का नाम जादू का-सा प्रभाव करने वाला सिद्ध हुआ। वह वृद्ध बिना और कुछ पूछे नीलमणि को भीतर ले गया और उसको एक कच्चे परन्तु साफ-सुथरे आगार में बैठाकर महाप्रभु को सूचना देने चला गया। शीघ्र वह लौट आया और नीलमणि को महाप्रभु के आगार में ले गया।

इस काल में बौद्धधर्म की अवस्था बहुत डाँवाडोल हो रही थी और उसी के अनुरूप विहार भी जर्जर हो रहा था। विहार का भवन बहुत लम्बा-चौड़ा था, परन्तु अधिकांश आगार गिर चुके थे और उनके स्थानों पर मलबे के ढेर लगे हुए थे। कुछ आगार रहने योग्य अवस्था में थे और उनमें से कुछ में ही भिक्षु रहते थे। अधिकांश भिक्षु बड़ी आयु के थे। उनके वस्त्र फटे हुए और पैबन्द लगे हुए थे।

महाप्रभु का आगार भी कच्चा था और भीतर से गोबर किया हुआ था। इस पर भी साफ-सुथरा और लम्बा-चौड़ा था। महाप्रभु एक चटाई पर बैठे थे। उनकी चटाई के सामने एक आसन लगा दिया गया और उस पर नीलमणि को बैठने का संकेत कर दिया गया।

महाप्रभु पचहत्तर वर्ष की आयु के प्रतीत होते थे। सब बाल श्वेत हो चुके थे और मुख पर तथा शरीर के अन्य अंगों पर झुर्रियाँ पड़ चुकी थीं। इस पर भी मुख्र पर ओज प्रतीत होता था।

जब नीलमणि बैठ गई तो महाप्रभु ने पूछा, ''कहाँ से आई हो?''

''महाराज! काशी से। मैं वहाँ नर्तकी का कार्य करती थी। एकाएक मुझको अपने कार्य से अरुचि हो गई और मैं उदास रहने लगी। सेठ सखाराम मेरे प्रशंसकों में हैं। वे मुझको उदास देखकर कहने लगे भगवान् बुद्ध ने निरन्तर भ्रमण करके दुःख की निवृत्ति की थी। मैंने और व्याख्या से पूछा तो वे बता नहीं सके। अधिक जानने के लिए उन्होंने मुझको कौशाम्बी का मार्ग बता दिया। अब मैं आपकी सेवा में उपस्थित हूँ। मुझको दुःख से छुटकारा दिलवाइए।''

महाप्रभु वात्यायन नीलमणि का कथन सुनकर कुछ काल तक विचार करते रहे। फिर कहने लगे, ''पंचशील का आचरण अपनाने से दुःखों की निवृत्ति होती है। पंचशील हैं काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार से मुक्त होकर अपना व्यवहार बनाना। इसके उपाय हैं सात्विक भोजन, सात्विक वचन, सात्विक चिन्तन, सात्विक भाषण और सात्विक श्रवण। जहाँ पर इसके विपरीत कोई आचरण हो रहा हो वहाँ से पृथक् हो जाना। उक्त व्यवहार में सहायक हैं संसार का त्याग, दान, दक्षिण और महात्माओं की संगति।

''इतना कुछ करने का अभ्यास कर लो तो दुःखों से रहित होकर निर्वाण

पद की प्राप्ति होगी। यह सबकुछ एक जन्म में हो सकता है और अनेक जन्मों में भी। ज्यों-ज्यों मनुष्य इसकी ओर अग्रसर होता है, वह दुःखों से छूटकर शान्ति प्राप्त करता जाता है।''

''भ्रमण करने से क्या लाभ होगा?''

''भ्रमण करने से अनेकानेक मनुष्यों से मेल होता है। नवीन परिस्थितियों से परिचय और ज्ञान-वृद्धि होती है। इससे संसार के सम्बन्ध छूटते हैं। अभिमान इत्यादि दोषों से पृथकता होती है।''

''महाराज! मैं कुछ काल तक आपकी संगति में रहना चाहती हूँ।''

''इस विहार का नियम है कि यहाँ स्त्रियाँ नहीं रहतीं। तुम साथ वाले गाँव में रहने का प्रबन्ध कर लो। जब इच्छा हो, यहाँ आ जाया करो।''

इस प्रकार नीलमणि महाप्रभु की संगति और विहार के वातावरण में रहने लगी। यहाँ रहते हुए उसको अनुभव हुआ कि वह अपार धन, जिसको वह सखाराम के पास छोड़ आई है, सर्वथा व्यर्थ की वस्तु है। गाँव में रहते हुए आधी से कम स्वर्णमुद्रा व्यय कर वह महीने से ऊपर का निर्वाह कर सकती है। शेष धन की उसको कदाचित् जीवन-भर भी आवश्यकता नहीं होगी। यहाँ रहते हुए उसको रथ की आवश्यकता नहीं रही। वह रथ उसने विहार को दे दिया। सारथी तथा दासी को छुट्टी दे दी। इससे भी उसका व्यय कम हो गया।

दो वर्ष वह वहाँ रही। इतने काल में गाँव के सरल जीवन से उसको ऐसा प्रतीत होने लगा कि उसका पूर्व जीवन एक छलना-मात्र था। वह धन एकत्रित कर रही थी, जिसका उपभोग वह नहीं जानती थी। जहाँ तक उसकी निजी आवश्यकताओं का सम्बन्ध था, वह बहुत ही कम व्यय करने पर उपलब्ध हो जाती थी।

उसकी दृष्टि विलक्षण होने लगी। जो कुछ नगरों में सुन्दर था वह कुरूप दिखाई देने लगा। नगर में रहते हुए उसको प्रतीत हुआ था कि लोग घरों के वातावरण से ऊबकर उसका नृत्य तथा संगीत देखने की इच्छा कर उसके कोठे पर आते हैं। उसको गृहस्थ जीवन वहाँ दासतामय और दुःखप्रद लगता था। नगरवासी अपनी पत्नियों से अरुचि हो जाने पर, उससे सहवास के लिए ढेरों स्वर्ण दे जाते थे। वे व्यापारादि सांसारिक कामों से थककर धनोपार्जन बन्द कर धन व्यय करने लगते थे।

यहाँ देहात में प्रायः पति-पत्नी संतुष्ट, प्रसन्न और सुखी थे। पुरुष और स्त्रियों के मुखों पर और शारीरिक गठन में कुछ ऐसा प्रभाव था कि वे न केवल परस्पर एक-दूसरे को सुन्दर पाते थे, प्रत्युत नीलमणि को भी उनमें अनुपम सौन्दर्य दिखाई देने लगता था।

वह अति प्रसन्न थी। एक दिन उसने विचार किया कि अब उसे भारत-भ्रमण के लिए निकलना चाहिए। उसने गाँव की एक विधवा स्त्री को, जिसका नाम मोहनी था, साथ लिया और भ्रमण के लिए तैयार हो गई। जाने से पूर्व उसने अपने पिछले जीवन से अलिप्त होने के लिए अपना पूर्ण धन महाप्रभु के चरणों में रख दिया। उसने एक हुण्डी सेठ सखाराम के नाम लिखकर महाप्रभु को देते हुए कहा, ''यह धन विहार की मरम्मत तथा प्रतिदिन के व्यय के लिए है।''

इस प्रकार अपने में एक नया जीवन धारण कर वह उत्तर की ओर भ्रमण को चल पड़ी। विहार में रहने से उसको यह पता चला था कि तक्षशिला और उत्तरी भारत अभी भी बौद्ध सम्प्रदाय वालों के गढ़ हैं। वह इस आशा में उत्तर की ओर अग्रसर हुई कि कदाचित् उसको कोई और भी अधिक ज्ञानवान महात्मा मिल जाए, तो उसका निर्वाण मार्ग शीघ्र कट जाए।

वह कौशाम्बी से इन्द्रप्रस्थ और वहाँ से स्थाण्वेश्वर, लवपुर इत्यादि होती हुई काश्मीर और वहाँ से पुरुषपुर, कामभोज इत्यादि में घूमकर तक्षशिला में जा पहुँची। तक्षशिला अभी पूरे यौवन में थी। दस सहस्र से अधिक छात्र और दो सहस्र के लगभग छात्राएँ वहाँ शिक्षा पाती थीं। बौद्ध मीमांसा के साथ अन्य प्रत्येक प्रकार के सांसारिक विषय ज्योतिष, शिल्प, चित्र, संगीतादि कलाओं की शिक्षा दी जाती थी। वहाँ अब पुराण, इतिहासादि ग्रन्थों के स्थान पर जातक पढ़े जाते थे। दर्शनशास्त्र के स्थान पर धम्मपद इत्यादि ग्रन्थों की विवेचना होती थी। वहाँ धनुर्विद्या और राजनीति के स्थान पर पंचशील पर व्याख्यान होते थे।

बौद्ध भिक्षु देश-विदेश में भ्रमण कर लौटते थे तो उन देशों में बौद्ध सम्प्रदाय की अवस्था का वर्णन करते थे।

मुख्याचार्य से अनुमति ले नीलमणि महिलाओं के कक्ष में रहने लगी। सादा भोजन मिलने लगा और एक बड़े से आगार में बीस अन्य भिक्षुणियों के साथ एक पक्की बनी थड़ी उसको सोने को मिल गई।

प्रातःकाल उठ सब पुरुष और स्त्रियाँ अपने-अपने कक्ष में एकत्रित हो जाते और पूजा करते। पूजा से पहले 'बुद्धं शरणं गच्छामि, संघ शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि' का जाप होता। दो घड़ी-भर जाप के बाद किसी बाहर से आए महात्मा का प्रवचन होता और तदनन्तर सब अपने-अपने आगार में जा चिन्तन में लीन हो जाते।

माध्याह्न को सब मिलकर भोजन करते। तब विश्राम होता। मध्याह्नोत्तर पठन-पाठन का कार्य होता। सायंकाल पुनः उपासना होती, जिसमें बौद्ध मन्त्र ही मुख्य होता।

नीलमणि इस कार्यक्रम में रत हो गई। उसको इसमें रस आने लगा और वह अपने जीवन में शान्ति अनुभव करने लगी। उसे तक्षशिला में आए वर्ष के लगभग होने जा रहा था इस पर भी उसका मन यहाँ से जाने को नहीं कर रहा था। काशी से चले हुए उसको तीन वर्ष होने लगे थे। वह शरीर और मन से सर्वथा बदल गई थी।

:: 12 ::

तक्षशिला में यह समाचार आया कि स्वामी शंकराचार्य देश-भर में भ्रमण करते हुए सांस्कृतिक अभियान कर रहे हैं। पर्याप्त दिनों से वहाँ देशाटन करते हुए भिक्षु आ रहे थे, जो स्वामी जी की विचारधारा पर प्रकाश डाल रहे थे। स्वामी जी की चर्चा अब पूर्ण विद्यालय में फैल चुकी थी। सब स्वामी जी को ढोंगी, अपना प्रचार करने वाला और पक्षपातयुक्त व्यक्ति मानते थे। इस पर भी यह समाचार कि वे भारत के प्रसिद्ध बौद्ध और अबौद्ध विद्वानों को अपने विचार का बनाने में सफल हुए हैं, विस्मयजनक माना जाता था।

एक ओर विश्वविद्यालय के विद्वान आचार्य महर्षि बादरायण के अद्वैतवाद का अध्ययन कर रहे थे, जिससे वे विवाद में स्वामी जी को परास्त कर सकें, दूसरी ओर स्नातकों और विद्यार्थियों में उत्सुकता से स्वामी जी के आने की प्रतीक्षा की जा रही थी।

जब वहाँ के विद्यार्थियों को यह विदित हुआ कि नीलमणि स्वामी जी के काशी प्रवास के समय, वहाँ पर थी, तो वे उससे पूछने लगे कि वे कैसे लगते हैं युवा हैं? वृद्ध हैं अथवा प्रौढ़ावस्था के हैं? उनका धर्मसभा में किसी बौद्ध विद्वान् से भी शास्त्रार्थ हुआ था क्या?

नीलमणि ने स्वामी जी के दर्शन किए थे, परन्तु वह केवल एक ही बात जानती थी और उस बात को भी उसने अपनी दासियों के मुख से ही सुना था। वह बात उसने प्रश्नकर्त्ताओं को बता दी। उसने बताया कि स्वामी जी ने एक देवदासी का विवाह एक ब्राह्मण कुमार से करा दिया था।

''तो इसमें विशेषता क्या हुई?''

''विशेषता यह है कि धर्मसभा इस विवाह को ठीक न समझती तो देवदासी से विवाह करने वाले कुमार को प्राणदण्ड मिलता और देवदासी को वेश्यावृत्ति करने पर विवश किया जाता।''

''यह तो असभ्य जातियों का-सा व्यवहार होता।''

एक और छात्रा बोली, ''इससे यह सिद्ध हुआ कि शंकर बौद्ध है। वह अपने ढंग से असभ्य ब्राह्मणों में बौद्धधर्म का प्रचार कर रहा है।''

"पहली छात्रा का कहना था, यदि वह बौद्ध है तो फिर यहाँ के विद्वान् आचार्य इतने त्रस्त क्यों हैं ?"

इस प्रकार विद्यार्थियों में प्रचलित चर्चा आचार्यों के कानों तक भी पहुँच गई। इस पर नीलमणि को बुलाया गया और उससे शंकराचार्य के विषय में यथासम्भव जानकारी प्राप्त की गई। नीलमणि उनको भी केवल वही बात बता सकी जो उसने अन्य विद्यार्थियों को बताई थी।

इस पर एक आचार्य ने पूछा, "क्या काशिराज ने उन बालकों को मृत्युदण्ड दिया था ?"

"नहीं, नहीं।" नीलमणि का उत्तर था। उसने बताया, "जब वह बालक देवदासी से विवाह कर काशी में लौटा तो वह अपनी पत्नी के साथ काशिराज के समक्ष उपस्थित हो अपनी पूर्ण कथा बताकर व्यवस्था माँगने लगा।"

"तो उनके मन में सन्देह था कि वे पापी हैं ?"

ब्राह्मण समाज में कुछ लोग थे, जो देवदासी को देवता की सम्पत्ति मानते थे और विवाह करने वाले युवक को देवता का चोर। ब्राह्मण कुमार अपने कार्य को धर्मानुकूल मानता था और वह महाराज को इस विषय में बताना चाहता था, जिससे वह अपने समाज में रह सके।

"महाराज ने इसको चोरी नहीं माना। इस पर भी समाज में प्रचलित धर्म के विषय में राज्य का हस्तक्षेप अनुचित समझ, उन्होंने धर्मसभा बुला ली। जब धर्म-सभा के सदस्य इस विषय पर एकमत नहीं हो सके तो स्वामी जी से इस विषय में व्यवस्था माँगी गई। स्वामी जी की व्यवस्था थी कि देवदासी की पदवी पुजारी की पदवी के समान ही है और जब पुजारी के लिए विवाह वर्जित नहीं, तो दासी के लिए यह कैसे वर्जित हो सकता है।"

"ऐसा ब्राह्मणों के धर्मशास्त्र में लिखा हुआ है क्या ?"

"मैं कैसे बता सकती हूँ ? बात स्पष्ट है कि सब ब्राह्मणों ने स्वामी जी की व्यवस्था को धर्मसंगत माना है।"

इस वर्णन पर आचार्यों का भिन्न-भिन्न मत बन गया। कुछ का मत था, "यह बौद्धधर्म, अर्थात् बुद्धिवाद को ब्राह्मणों ने स्वीकार कर लिया।"

एक अन्य मत भी था। इस मत के लोग इसको स्वामी जी की छलना मात्र मानते थे। उनका कहना था कि एक अयुक्तिसंगत बात को बुद्धिवाद के आवरण में प्रचलित करने का यह ढंग है। इस मतभेद पर मुख्याचार्यजी का कहना था, "शंकराचार्य यहाँ पहुँचने वाला है। उसके विचार सुनकर हम किसी निर्णय पर पहुँच सकते हैं।

"क्या जानें भगवान् तथागत की अपार कृपा से शंकर ब्राह्मण धर्म का त्याग

कर बौद्धधर्म स्वीकार कर ले?"

इस प्रकार स्वामी शंकराचार्य की प्रतीक्षा होने लगी। स्वामी जी ने काशी से अपना सांस्कृतिक समर आरम्भ किया था। काशी से वे प्रयागराज गए। वहाँ से मिथिला, पुरी, तिरुचिरापल्ली, चिदम्बरम्, कांची, रामेश्वरम् और केरल में अपनी जन्मभूमि का भ्रमण करते हुए मालवा, गुजरात, काठियावाड़, द्वारिका में अपने मत का प्रचार करते रहे। जब वे इन प्रदेशों में अपने विचार के लोग बना, वहाँ अपने धर्म-प्रचार के केन्द्र बना चुके तो उन्होंने अपना ध्यान उत्तर की ओर किया। वे बद्रिका आश्रम में कुछ काल तक निवास कर काश्मीर जा पहुँचे। यहाँ भी उन्होंने अपना एक मठ स्थापित किया और भारत की पश्चिमोत्तरी सीमा के समीप तक्षशिला विश्वविद्यालय में पदार्पण किया।

पूर्ण देश में विद्वानों और जनता से मिलते हुए, वाद-विवाद करते हुए और अपने विचारों का प्रतिपादन करते हुए, बौद्धों के तात्कालिक गढ़ में युक्ति तथा प्रमाणों से अपने विचार का प्रसार करने के लिए पहुँच गए।

स्वामी जी का वहाँ पहुँचना एक ऐतिहासिक घटना मानी गई। बौद्ध आचार्य इस वाद-विवाद के लिए पूरी तैयारी कर चुके थे। स्वामी जी भी यह समझते थे कि अवैदिक पंथियों के इस गढ़ पर विजय प्राप्त किए बिना देश का कल्याण सम्भव नहीं। इस कारण उन्होंने यहाँ की धर्म-चर्चा को मंडनमिश्रादि के साथ चर्चा से कम महत्व नहीं दिया।

एक दिन स्वामी जी अपने साथियों सहित तक्षशिला में जा पहुँचे। काषाय वस्त्रों में संन्यासियों की मंडली को जब वहाँ के लोगों ने देखा तो समझ गए कि जिनकी प्रतीक्षा थी वे आ गए हैं। इससे सब सावधान हो मंडली की ओर देखने लगे।

यह शान्त मंडली अध्यक्ष के आश्रम की ओर चली जा रही थी और विद्यार्थियों का साहस नहीं हो सका कि आगे बढ़कर उनसे पूछें कि वे कौन हैं और कहाँ से आए हैं?

एक विद्यार्थी ने स्वामी जी को मुख्याध्यक्ष के आश्रम की ओर जाते देख, भागकर उनसे पहले ही वहाँ पहुँच सूचना दे दी कि कदाचित् स्वामी शंकराचार्य जी आ पहुँचे हैं।

अध्यक्ष, श्री महाप्रभु माधवभदन्त, यह समाचार पाते ही आश्रम से बाहर गए और आगे बढ़कर स्वामी जी को आदरसहित भीतर ले आए। वहाँ स्वामी जी और उनके साथी संन्यासियों को आदर से बैठाया गया तथा उनके निवासादि का प्रबन्ध कर दिया गया।

यह स्वाभाविक था कि स्वामी जी से अपने पक्ष की विवेचना सुनी जाए

इसके लिए आचार्यों की सभा बुलाई गई तथा मुख्य-मुख्य विद्यार्थियों को श्रोतागण के रूप में सभा में बैठने की स्वीकृति दी गई।

:: 13 ::

सभा में स्वामी शंकराचार्य जी ने अपने मत का प्रतिपादन कर दिया। उन्होंने बताया, ''भारतीय संस्कृति मेरा विषय है। संस्कृति में धर्म, देश, राष्ट्र, प्रथा और परम्परा सब सम्मिलित हैं। इन सबके समन्वय से ही मानव का, जो भारत में बसे हैं, कल्याण सम्भव है। देश, राष्ट्र, परम्परा और धर्म में समन्वय करने के लिए कुछ मूलभूत सिद्धान्त हैं। उनके आधार पर ही उक्त बातों के विषय में विचार किया जा सकता है। मैं उन मूलभूत सिद्धान्तों के विषय में फिर कहूँगा। पहले उन वस्तुओं का, जिनका समन्वय हम चाहते हैं, आपके सामने वर्णन करूँगा।

''देश एक भौगोलिक वस्तु है। यह छोटा-बड़ा होता रहता है। इसके छोटा-बड़ा होने में प्राकृतिक कारण पहाड़, नदियाँ, नाले, सागर इत्यादि प्रकृति ने बनाए हैं। अतः भारत देश सुमेरु पर्वत से लेकर काम भोज, पांचाल, स्थाण्वेश्वर, कन्नौज इत्यादि से होता हुआ बिहार, बंग देश और कामरूप तक फैला हुआ है। साथ ही यह हिमालय से आरम्भ होकर विन्ध्याचल पार कर दक्षिण पठार से होता हुआ कन्याकुमारी तथा रामेश्वरम् तक चला गया है। यह देश द्वारिका, कच्छ से आरम्भ होकर मालवा, अवन्ति मल्ल राज्य पर से होता हुआ पुरी तक फैला हुआ है। प्रकृति ने इस भूमि-खण्ड को एक होकर रहने के लिए बनाया है, परन्तु मानव अपने धन के विकारों के कारण देश के किसी खण्ड को विदेश के साथ भी मिला सकता है। इस पर भी यह निश्चित बात है कि देश अपनी प्राकृतिक सीमाओं तक पहुँचकर ही सुख और कल्याण का भागी हो सकता है। जो कुछ प्रकृति ने एक रहने के लिए बनाया है, वह टूक-टूक नहीं किया जा सकता।

''इतने बढ़े देश में एक राज्य हो, यह आवश्यक नहीं। राज्य केवल उस संगठन को कहते हैं जो सुखकारक शासन के निमित्त किया जाय। शासन का अर्थ है जनता के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति में सुविधा उत्पन्न करना। इसके लिए देश में कई राज्य हो सकते हैं।

''देश में अनेक राज्य होने पर भी राष्ट्र एक होना चाहिए। राष्ट्र उस जन-समूह को कहते हैं, जो समान भावनाओं, समान धर्म और समान परम्पराओं को रखता हो। देश में एक राष्ट्र होना चाहिए। यदि कहीं किसी देश में अनेक राष्ट्र बन जाएँ तो देश में सुख और शान्ति का जीवन नहीं चल सकता। राज्य स्थिर और सुदृढ़ नहीं रह सकते। शासन ढीला पड़ जाता है, युद्ध होते हैं, क्रान्ति

घटती है, नर-रक्तपात होता है और घोर दु:ख दारिद्र्य फैल जाता है।

''पूर्ण देश में एक राष्ट्र रखने के लिए धर्म और प्रथाएँ समान होनी चाहिए। धर्म दो प्रकार के होते हैं—सामान्य और विशेष! विशेष धर्म व्यवसाय, जाति, स्थान, काल और आयु के अनुसार निश्चय होते हैं। सामान्य 'धर्म मनुष्य मात्र के लिए एक जैसा होता हैं। विशेष धर्म भी अपनी-अपनी अवस्था में एक समान होने चाहिए।

''प्रथाएँ भी विशेष धर्म के समान होती हैं। अन्तर केवल यह होता है कि विशेष धर्म विद्वानों द्वारा निश्चय किए जाते हैं और प्रथाएँ जनसाधारण द्वारा स्वीकार की जाती हैं। प्रथाएँ वहीं तक मान्य हो सकती हैं जहाँ तक वे किसी सामान्य धर्म अथवा विशेष धर्म का विरोध न करें।

''देश, राज्य, राष्ट्र, धर्म और प्रथा, भारत देश में कुछ सिद्धान्तों पर आधारित हैं। वे सिद्धान्त हैं आत्मा का अस्तित्व, पुनर्जन्म पर विश्वास, कर्म-फल की अनिवार्यता, यम-नियम का पालन, विद्वानों की प्रतिष्ठा, धर्मानुकूल आय-व्यय करने की स्वीकृति, वर्णाश्रम धर्म, देववाणी और यथायोग्य व्यवहार।''

इस मत में विचार-भेद के लिए स्थान ही नहीं था। सब आचार्य भौचक हो स्वामी जी का मुख देखते रह गए। वे समझ रहे थे कि स्वामी जी छूटते ही अद्वैतवाद पर वार्त्तालाप करेंगे और वे उन पर प्रश्नों की झड़ी लगा देंगे।

जब स्वामी जी अपना वक्तव्य दे चुके तो उस वक्तव्य में कोई दोष न पा सकने पर मुख्याचार्य महाप्रभु माधवजी ने पूछ लिया, ''महाराज! हम आपसे अद्वैतवाद पर कुछ सुनने के लिए बैठे थे। ये तो सांसारिक बातें हैं। इन विषयों पर कुछ अधिक मतभेद नहीं है।''

स्वामी जी ने मुस्कराकर कहा, ''मैंने मूलरूप में अद्वैतवाद का प्रतिपादन कर दिया है। यदि आप नहीं समझ सके तो मैं इसकी व्याख्या कर देता हूँ।

''सुनिये, मैंने कहा है कि हमारे देश, राष्ट्र और धर्म इत्यादि की मान्यता उक्त सिद्धान्तों पर आधारित है। उन सिद्धान्तों में एक है आत्मा का अस्तित्व। जो प्राणिमात्र में आत्मा का होना मानता है, वह सब आत्माओं का ऐक्य भी मान जाएगा। जो यह मानेगा वह अद्वैतवादी हो जाएगा।''

''अनेक आत्मा दृष्टिगोचर होती हैं। हमको ऐक्य दिखाई देता नहीं। यह कैसे माना जाएगा?''

''आप मानते हैं। बौद्ध मीमांसा में सब आत्माओं का यदि प्रकृति में विलीन होना मानते हैं। बौद्ध सिद्धान्त में आदि प्रकृति ही आत्माओं की स्रोत है। यदि यह ठीक है तो सब आत्माओं का एक होना विचित्र और अदृष्ट कैसे हो गया?''

"परन्तु उस अवस्था में आत्मा का अस्तित्व ही नहीं रहता।"

"प्रश्न यह नहीं कि उस अवस्था में जो कुछ होता है, वह क्या है? इसका निश्चय फिर कर लेंगे। पहले यह सिद्ध हो गया मानना होगा कि सब आत्माएँ एकरूप हो जाती हैं। अतः अद्वैतवाद तो बौद्ध मतानुयायी मानते ही हैं।

"बौद्धमत वालों से अद्वैतवादियों का मतभेद इस विषय पर है कि निर्वाण के बाद आत्मा जड़ हो जाती है अथवा वह सचेत रहती हैं?

"बौद्ध कहते हैं कि वह जड़ हो जाती है। प्रकृति जड़ है, शान्त है, निश्चल है, संवेदनारहित है और विचारशून्य है। हम कहते हैं कि आत्मा निर्वाण-प्राप्ति अर्थात् जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाने पर सचेत, आनन्दमय और संवेदनायुक्त होती है। परन्तु यह विवाद अद्वैतवाद के पक्ष अथवा विपरीत में नहीं जाता।"

"तो इसी विषय पर विचार हो जाए कि सकल जगत् का मूल कारण प्रकृति है अथवा कोई चेतन, संवेदनायुक्त अस्तित्व।"

"पहले इतना समझ लीजिए कि आत्मा है। वह वर्तमान अवस्था में सचेत, सतर्क, संवेदनामय और सुख-दुःख की भोक्त्री है। आत्मा सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष प्रयत्न-युक्त है। यदि इसमें मतभेद हो तो बताया जाए।"

"वर्तमान अवस्था में आत्मा इन गुणों से युक्त है परन्तु यह प्रकृति की विशेष अवस्था है। वह अवस्था न रहने पर न आत्मा रहेगी न उसका गुण।"

"ठीक! अब आप यह बताने की कृपा करें कि आत्मा की वर्तमान अवस्था में सुख और दुःख दोनों होते हैं अथवा केवल एक ही?"

"दोनों होते हैं, परन्तु दुःख अधिक और सुख कम।"

"यह कम और अधिक तो जाँच का विषय है। साथ ही सांसारिक दुःख कृत्रिम उपायों से कम किए जा सकते हैं। उदाहरण के रूप में, एक व्यक्ति की प्रिय पत्नी का देहान्त हो जाता है। इससे उसको दुःख होता है। वह व्यक्ति उस दुःख के निवारण के लिए मद्य पी लेता है और इस प्रकार दुःख को भूल जाता है। महात्मा बुद्ध को एक व्यक्ति को जरा अवस्था में देखकर दुःख हुआ था। यदि वे उसको न देखते, अर्थात् प्रासाद से बाहर निकलते ही नहीं तो उनको दुःख न होता।

"इसी प्रकार एक बकरे की हत्या होती देख किसी को दुःख होता है और किसी को नहीं होता। यह दुःख मन की कोमलता पर निर्भर है। अर्थात् मन के कठोर करने से दुःख कम हो जाएगा।

"इसी कारण मैं कहता हूँ कि संसार में दुःख कम है और सुख अधिक। ऐसी सुखमय अवस्था को त्याज्य नहीं मानना चाहिए और वह अवस्था, जिसमें संवेदना नहीं रहती, स्वीकार करनी युक्तियुक्त नहीं है।

"अभिप्राय यह कि महात्माजी की निर्वाण-प्राप्ति के लिए प्रेरणा न केवल अनावश्यक हो जाती है, प्रत्युत हानिकार भी। यह एक सुखकारक अवस्था को छोड़ सुखरहित अवस्था प्राप्त करने का यत्न हो जाएगा।

"जब महात्मा बुद्ध आत्मा के लिए निर्वाण अवस्था प्राप्त करने को कहते थे तो उसको वर्तमान अवस्था के सुखों से अधिक सुखकारक मानकर ही कहते होंगे। अर्थात् निर्वाणावस्था में भी कुछ ऐसी वस्तु का होना मानते होंगे, जो संवेदनात्मक होगी।

"निःसन्देह वह अवस्था परमानन्दमय परमात्मा की होगी। अतः आत्मा मुक्तावस्था में परमात्मा हो जाती है।"

इस युक्ति के बाद न प्रमाण की आवश्यकता रही, न किसी सिद्ध महात्मा के वक्तव्य की। यों तो इस व्याख्या के बाद भी कुछ आचार्य प्रश्न करते रहे परन्तु किसी की भी युक्ति के पाँव नहीं जम सके। दर्शकगण उन आचार्यों की बातों की हँसी उड़ाते रहे।

इसी प्रकार वर्णाश्रम-धर्म पर भी वार्तालाप हुआ और स्वामी जी के तर्क के सम्मुख किसी की आपत्ति ठहर नहीं सकी।

भदन्त माधवजी ने कह दिया, "इस वाद-विवाद के बाद हमको स्वामी जी के मत और बौद्धमत में कुछ भी अन्तर दिखाई नहीं देता।"

स्वामी जी का कहना था, "मुख्याचार्यजी का कहना सत्य है। बौद्धमत भी भारतीय मतों में से एक है। प्रत्येक मतवादी अपनी-अपनी बात पर बल देते हैं। उनकी दृष्टि व्यापक न होकर एकपक्षीय रह जाती है।

"इस कारण भारत के सब मतों को मैं भारत की विभूति मानता हूँ और उनको एक ही सच्चाई का प्रतिपादन करने वाला मानता हूँ।"

इस पर एक भिक्षु जो यारकन्द से शिक्षा के लिए वहाँ आया हुआ था पूछने लगा, "एक विषय में मुझको शंका है। आपने कहा है कि भारत की सीमा कामभोज के पार तक है। भारत में एक राष्ट्र, एक धर्म और एक-समान परम्पराएँ होनी चाहिए।"

"मैंने ऐसा नहीं कहा। मेरा कथन यह है कि संस्कृति, देश, राष्ट्र, राज्य, धर्म और प्रथाएँ एक समान होनी चाहिए, इनमें समन्वय होना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं कि भारत के बाहर वालों को यहाँ का धर्म और प्रथा भली लगे तो स्वीकार नहीं कर सकते। अभी भी भू-मण्डल पर ऐसे स्थल हैं, जो भारत के बाहर होते हुए भी भारत के धर्म और प्रथाओं को मानते हैं। हम भारत वालों ने भी कुछ विदेशीय बातें ग्रहण की हैं।

"मेरा कहना है कि जो कुछ बाहर-भीतर से लेकर हमारा धर्म और प्रथाएँ

बन गई हैं अथवा बन रही हैं, वे राष्ट्र का निर्माण करती हैं। यही बात सब देशों और उनके राष्ट्रों की है।

"यदि बौद्ध सम्प्रदाय के लोग भारत के बाहर से आकर यहाँ अपना राज्य स्थापित करते हैं और भारत के सहधर्मी बौद्ध उनको सहधर्मी मान उनकी सहायता करते हैं तो क्या ठीक करते हैं ?"

"नहीं, वे ठीक नहीं करते। बौद्धमत कभी भारत के बहुसंख्यकों का मत नहीं हुआ। यद्यपि बौद्ध मीमांसा वैदिक मीमांसा का एक अंग मात्र है, इस पर भी इस अंग को पूर्ण समझने वाले भारत में अल्प-संख्या में रहे हैं। महाराज अशोक और हर्षवर्धन के काल में भी राज्य-बल से बौद्धों को बहुसंख्या के सिर पर बैठा दिया गया था। इस पर भी एक बहुत बड़ी संख्या में लोग इस एकांगी मीमांसा को एकांगी ही मानते रहे।

"अत: भारत के बौद्ध मतावलम्बियों का विदेश के बौद्धों को अपना राज्य और संस्कृति यहाँ लाने में सहायता देना राष्ट्र-विरोधी समझा जाएगा। वे विदेशी भारत में आकर बौद्ध मत के साथ-साथ अपने देशों के चलन को यहाँ के रहने वालों पर थोपना चाहते रहे हैं। इसमें किसी भी भारतीय का सहायक होना देश और राष्ट्र के प्रति विद्रोह है।

"हूण यहाँ आए। वे अपने को बौद्ध कहते थे। वास्तव में वे बौद्ध थे नहीं। न ही वे भारतीय थे। उनका यहाँ आकर अपने देश का आचार-विचार और प्रयासों को चलन देना स्वीकार नहीं हो सकता।"

इस पर एक अन्य आचार्य ने पूछ लिया, "स्वामी जी! आपने यह कहा है कि बौद्ध मीमांसा एकांगी है और वैदिक मीमांसा पूर्ण है। यह कैसे? यदि बौद्ध मीमांसा एकांगी होती तो इस पर आचरण करते हुए लोग सब प्रकार के सांसारिक कार्य करते हुए क्यों देखे जाते हैं।"

"ऐसा देखा नहीं जाता। वे अपना सांसारिक जीवन लँगड़ाते हुए ही चला पाते हैं। यही कारण है कि बौद्धधर्म का ह्रास होने लगा है और यदि बौद्धों ने अपने धर्म को विस्तार देकर पूर्ण न किया तो यह भूतल पर से लोप हो जाएगा।

"जब विस्तार पा यह बहुमुखी हो जाएगा, तो यह वेदानुकूल होगा।"

:: 14 ::

स्वामी शंकराचार्य के साथ सार्वजनिक सभा में वाद-विवाद पूर्ण रूप से स्वामी जी की विजय का सूचक हुआ, यद्यपि बौद्ध आचार्य यह नहीं मानते थे कि वे स्वामी जी के तर्क का उत्तर नहीं दे सके और कहते थे कि स्वामी जी ने बौद्धमत को भी श्रुति और उपनिषद् में वर्णित माना है। इससे उन्होंने एक प्रकार

से बौद्धमत के समक्ष मस्तक नत ही किया है। इस पर भी श्रोतागणों में अधिक व्यक्ति ऐसे थे, जो स्वामी जी की तर्क करने में योग्यता को मान गए थे और बौद्धमत को न केवल अधूरा प्रत्युत भ्रममूलक भी समझने लगे थे।

इस सभा के बाद विश्वविद्यालय के आचार्य और विद्यार्थीगण स्वामी जी के आवास पर पहुँचकर अपने मन की अनेकानेक समस्याओं पर विचार-विनिमय करने लगे। प्रात:काल सन्ध्योपासना के अनन्तर स्वामी जी अपने आवास में प्रवचन करते और सैकड़ों श्रोतागण सुनने के लिए वहाँ आ जाते थे। प्रवचनों के बाद प्रश्नोत्तर होते थे।

इसके अतिरिक्त भी मध्याह्नोत्तर एक-एक कर जिज्ञासु आते थे और स्वामी जी से अपने मन के संशयों का समाधान प्राप्त करते थे।

स्वामी जी की दिन-प्रतिदिन बढ़ रही ख्याति से विश्वविद्यालय के आचार्य चिन्तित होने लगे। ऐसे एक अवसर पर आचार्य सुधन्वा आया और स्वामी जी से एकान्त में वार्त्तालाप का अवसर माँगने लगा। स्वामी जी ने उसको समय दिया। उस समय आचार्य सुधन्वाजी ने कहा, ''महाराज! आप बौद्धमत को अधूरा मानते हैं। यह कोई बहुत बड़ी त्रुटि नहीं। समय पाकर यह पूर्ण हो जाएगी। एक समय था, जब बौद्ध मत केवल भिक्षुओं का मत माना जाता था। फिर समय आया, जब उपासकों को भी इसमें स्थान मिला। तदनन्तर ब्रह्मा, विष्णु, महेश इत्यादि देवी-देवता भी इस मीमांसा में स्थान पा गए। इसी प्रकार अन्य त्रुटियाँ भी पूर्ण हो जाएँगी। मै यह पूछना चाहता हूँ कि इस बात को छोड़, आप बौद्ध संघ में भी किसी प्रकार की त्रुटि समझते हैं क्या?''

''हाँ, बहुत बड़ी त्रुटि यह है कि मत-मतान्तरों के आधार पर एक संगठन और फिर उसी संगठन की शरण में रहने का आदेश तो मनुष्य की मानसिक स्वतन्त्रता को छीन लेने के समान है। बौद्ध मंत्र में 'धम्मं शरणं गच्छामि' के अतिरिक्त अन्य दो आदेश 'बुद्धं शरणं गच्छामि' और 'संघं शरणं गच्छामि' मानवता के विकास में बाधक हो रहे हैं।''

''यह कैसे?''

''दिन-रात इस मंत्र के जप से मनुष्य की बुद्धि महात्मा बुद्ध और बौद्ध संघ की परिधि के भीतर ही चक्कर काटने की अभ्यस्त हो जाती है। इससे बाहर विचार करने को नहीं रहता।''

''परन्तु ऐसा सब मतों में है। वेदमत में भी वेदों को स्वत: प्रमाण मानकर बुद्धि को ताला लगाने का प्रयास किया गया है।''

''वेदमत में यह बात नहीं। देखिए, मनु महाराज ने अपने धर्मशास्त्र में लिखा है—

यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्म वेद नेतरः।' अर्थात् जो तर्क से सिद्ध हो सके, उसे ही धर्म समझना चाहिए, अन्य को नहीं।''

एक दिन नीलमणि स्वामी जी के दर्शन के लिए आ गई। वह विश्वविद्यालय में होने वाले वाद-विवाद और उसमें प्रसार पाने वाली बौद्धधर्म पर अश्रद्धा को सुन रही थी। विद्यार्थीगण बौद्धधर्म की खिल्ली उड़ाने लगे थे। नीलमणि भी उनकी टीका-टिप्पणी से प्रभावित हो रही थी। एक दिन वह स्वामी जी से मिलकर अपने मन की बात पूछने चली आई। स्वामी जी को उसने अपना पूर्ण वृत्तान्त बता दिया और फिर कहा, ''महाराज! मुझको भिक्षुणी बनने के लिए कहा जा रहा है। मैं तैयार हो गई थी। कारण यह कि मुझे और कोई मार्ग सूझता नहीं। आप मुझे बताइए मैं क्या करूँ?''

स्वामी जी ने नीलमणि की कथा पर मनन किया और कहा, ''तुमको बौद्ध-शिक्षा लेते हुए दो वर्ष से ऊपर हो चुके हैं। क्या तुम अब समझ गई हो कि भिक्षुणी बनना तुम्हारी आत्मिक उन्नति के लिए उचित पग है? अथवा क्या तुम अपनी विशेष परिस्थिति के कारण ही संन्यास लेने के लिए विवश हो रही हो?''

नीलमणि इस प्रश्न के अर्थ और इस अर्थ का उत्तर ढूँढने में लग गई। इसमें उसको समय लग रहा था। वह चुप थी। स्वामी जी ने उसको चुप देख अपने कथन को और स्पष्ट करने के लिए कह दिया, ''क्या तुम्हारे मन में इतना वैराग्य उत्पन्न हो गया कि तुम संसार को तुच्छ समझ, इसको छोड़ने योग्य मानने लगी हो? अथवा तुम संसार को इसलिए छोड़ रही हो कि यह तुमको उस रूप में प्राप्त नहीं हो रहा, जिसमें तुम चाहती हो?

''देखो बेटी! मैं अपनी बात को स्पष्ट कर देता हूँ। अपने मन को टटोलकर बताओ कि यदि अब गोविन्द तुम्हारे पास आकर कहे कि चलो विवाह कर लें तो क्या तुम संसार से विरक्तता के कारण उससे विवाह अस्वीकार कर दोगी?''

नीलमणि ने पूर्ण बात समझकर कहा, ''महाराज! उसके आने की अब कोई आशा नहीं।''

''किसी बिछुड़े प्रियजन से न मिल सकने पर संन्यास नहीं होता। इस अवस्था में संन्यास लेना मन को धोखा देना होगा। बिछुड़े हुओं से मिलने का उपाय दूसरा है। वह है जप और तप।''

''पर मैं पूछती हूँ कि अप्राप्य वस्तु से सन्तोष करने के लिए संन्यास लेना ठीक नहीं क्या?''

''संतोष स्वयं तप है। इस तप का साध्य बिछड़े से मिलना है। संन्यास

साध्य नहीं है। इस कारण तप से सिद्धि प्राप्त करने के लिए वहाँ चली जाओ, जहाँ उसके मिलने की सम्भावना है और ईश्वर-प्रणिधान करते हुए उसकी प्रतीक्षा करो।

"संन्यास केवल उस अवस्था में उपयुक्त होगा, जब तुम वास्तव में संसार से विरक्त हो जाओगी अर्थात् बिछुड़ा हुआ प्रियजन मिल भी जाए तो उससे समागम की इच्छा नहीं रखोगी।"

"आपका विचार है कि यदि मैं तपस्या करूँ तो अपनी इष्ट वस्तु पा सकती हूँ।"

"तपस्या करने से इस संसार में कोई भी वस्तु अप्राप्य नहीं है।"

"परन्तु महात्मा बुद्ध तो तपस्या को व्यर्थ की बात कह गए हैं?"

"इस पर भी जो कुछ उन्होंने पाया था, वह तपस्या से ही पाया था। छः वर्ष की कठोर तपस्या से वे अपने में वह आकर्षण उत्पन्न कर सके थे जिससे जिधर जाते थे, लाखों लोग उनके पीछे लग जाते थे। उनकी तपस्या शारीरिक थी और उनके शरीर में ही अद्‌भुत आकर्षण उत्पन्न हो पाया था। यदि वे मानसिक अथवा बुद्धि की तपस्या करते तो उनके मन और बुद्धि का विकास ऐसा हो जाता कि उनकी दृष्टि एकांगी न रहकर व्यापक हो जाती और वे अपने जीवन-काल में समझ जाते कि त्याग और तपस्या संन्यास से भिन्न वस्तु है।

"तब वे छोटे-छोटे बालकों को संन्यास लेने के लिए कभी न कहते। उनको राष्ट्र की सेवा के लिए तप करने को कहते। तब वे हिंसा के अर्थ यह कभी न लेते कि दुष्ट को भी दण्ड से मुक्त कर देना चाहिए। वे सत्य से प्रेम रखने से सत्यवादियों का समर्थन करते। वे मिथ्याभाषियों से सहयोग और सहानुभूति न रख सकते। हिंसकों पर अहिंसा करने के लिए कभी न कहते।"

नीलमणि स्वामी जी का कथन सुन स्तब्ध रह गई। जब स्वामी जी कह चुके तो उसने पूछा, "आपका कहना क्या यह है कि महात्मा बुद्ध की तपस्या मिथ्या थी?"

"मिथ्या नहीं थी। थी तो वह तपस्या ही। व्रत रखना, भूखे रहकर शरीर को क्षीण करना, एक टाँग पर खड़े रहना इत्यादि-इत्यादि शारीरिक तपस्याएँ हैं और इनका परिणाम शरीर को सुदृढ़, सुन्दर, सहनशील और ओजमय बनाना है। महात्माजी ने यह किया और इसका फल पाया। यदि वे किसी सुयोग्य गुरु के पास पहुँच, वेदाध्ययन करते, मन के विकास के लिए दर्शनादि ग्रन्थ पढ़ते अथवा ज्ञान-वद्धि के लिए इतिहास, पुराण पढ़ते तो वे महात्मा बुद्ध न होते। वे किसी ऋषि की पदवी पर पहुँच जाते और संसार के कल्याण के लिए कोई मार्ग बना जाते, "किन्तु ऐसा नहीं हो सका। अब युवक-युवतियाँ आवेश में आकर

संसार छोड़ जाते हैं। वे वासनाओं से मुक्त हो नहीं पाते। उनके मन वासनाओं के अधीन होते हैं और परिणाम तुमने देख ही लिया है।''

नीलमणि के मन में प्रकाश हो रहा था। वह समझ गई थी कि संन्यास तपस्या नहीं। तपस्या संन्यास से पूर्व होनी चाहिए। साथ ही, तपस्या इन्द्रियों को वश में रखने के लिए करनी चाहिए अथवा किसी सांसारिक वस्तु को पाने के लिए? यह प्रश्न था।

इन्द्रियों पर नियन्त्रण एक बात है और इन्द्रियों में विषयों के प्रति अरुचि दूसरी बात है। अरुचि उत्पन्न होने पर ही संन्यास लेना चाहिए।

वह अपने मन में विचार कर रही थी कि क्या उसके मन में संसार से अरुचि उत्पन्न हो गई है? स्वामी जी का एक स्थूल प्रश्न था कि गोविन्द के आकर ऐसा प्रस्ताव करने पर कि वह उससे विवाह करना चाहता है, क्या वह उसमें अरुचि अनुभव करेगी? इस प्रश्न पर वह भौचक हो स्वामी जी का मुख देखती रह गई।

स्वामी जी ने उसको इस प्रकार अपने-आप में खोई हुई देखकर कहा, ''बेटी! जाओ, जो कुछ मैंने कहा है, उस पर विचार करो और भगवान् तुमको तुम्हारा मार्ग दिखाएँगे।''

नीलमणि ने उठते हुए कहा, ''महाराज! मैं आपका धन्यवाद करती हूँ। एक बार आपने काशी में मतान्ध धर्मशास्त्रियों को एक निरपराध देवदासी और उसके पति पर अन्याय करने से रोका था। आज आपने मुझ मतिमन्द को अपने-आपको जलती चिता में भस्म करने से रोका है। भगवान् आपका कल्याण करे।''

यह कहकर वह स्वामी जी के आवास से बाहर चली आई। अगले दिन उसने अपनी कम्बली समेटी और पूर्व की ओर चल पड़ी। उसका लक्ष्य-स्थान काशी था।

पाँच

गोविन्द वेश्याओं के कटरे से निकल, एक क्षण तक खड़ा हो अपने विषय में विचार करता रहा। उसने अपने मन में एक योजना बना ली। सबसे पहले वह अपना और रुक्मिणी का अन्तर कम करना चाहता था। रुक्मिणी ने बताया था कि नर्तकी का घर उससे इतना ही दूर है, जितना हिमालय से काशी। अब नर्तकी का घर छोड़ वह ऐसा ठिकाना बनाना चाहता था, जो रुक्मिणी से हिमालय जितना दूर न हो।

वह चौक में पहुँचा और एक ओर खड़ा हो अपनी करतालें खड़का कर एकतारे से स्वर ध्वनित करने लगा। उस पर वह अपना वही पुराना गीत गाने लगा, 'तुम सखा बने हो ग्वालों के पर चलन विलक्षण रखते हो।'

धीरे-धीरे सुनने वाले उसके चारों ओर एकत्रित होने लगे। आस-पड़ोस के बच्चे वहाँ आ उसके स्वर, ताल, लय के साथ तालियाँ बजाने लगे।

जब उसने गाना समाप्त किया तो लोगों ने उसको भीख देनी चाही। आज उसने यह अस्वीकार नहीं की। जब कुछ लोग भीख दे चुके तो उसने एक अन्य गीत गा दिया। इस प्रकार दो घड़ी-भर गाकर उसने अपने सामने पड़ी भीख एकत्रित कर ली और गिन डाली।. दो रजत के लगभग थे। उनको ले वह एक पांथागार में जा पहुँचा। वहाँ ठहरने का भाड़ा लिया जाता था। एक व्यक्ति के ठहरने का दस टका पांथागार के अध्यक्ष को देकर स्थान ले लिया। फिर बाजार से दूध पीकर वह अपनी अवस्था पर विचार करने लगा।

गोविन्द ने अपने लिए नित्य का एक कार्यक्रम बना लिया। वह प्रातःकाल अपना एकतारा और करताल ले कभी गंगा घाट पर, कभी चौक में और कभी गली-बाजारों में गीत गाया करता और इस प्रकार जो कुछ भीख मिलती, उससे निर्वाह करता।

एक दिन वह गीत गाता हुआ सखाराम की दूकान के आगे से निकला। उसकी मधुर ध्वनि सेठ के कानों में पड़ी। वह दुकान के भीतर बैठा बही का पिछले दिन का जोड़ मिला रहा था।

उसने गोविन्द का स्वर सुना तो पहचान गया। एकाएक उसके मन में

नीलमणि का विचार आ गया। उसने कलम वहीं पर रख दी और उठकर दुकान से बाहर आ गया। गोविन्द मस्त करताल बजाता हुआ और एकतारे से स्वर मिलाता हुआ गा रहा था—

"राधा छवि देखी मचल गयो साँवरिया।
हँस मुस्काय प्रेम रस चाखूँ।
तोय नैनन बिच ऐसे राखूँ।
ज्यों काजर की रेख भरेंगी मामरिया।
राधा छवि देखी मचल गयो साँवरिया॥"

सखाराम ने उसको आवाज दे दी, "पण्डित गोविन्दजी! पण्डित गोविन्दजी!!" गोविन्द ने गाना बन्द कर सेठ की ओर देखा तो वह भी पहचान गया। वह सखाराम के सामने आ खड़ा हुआ। सखाराम ने कहा, "सुनाओ भाई गोविन्द! मुझको पहचाना है?"

"जी हाँ। आप तो नीलमणि के मुख्य प्रशंसकों में हैं। आपको कैसे विस्मरण किया जा सकता है?"

"तो आपको नीलमणि की बैठक भी स्मरण है?"

"भली-भाँति स्मरण है।"

"तो फिर यह क्या काम पकड़ लिया है? उस स्वर्ग को छोड़ यहाँ नरक भोगने चले आए हो?"

"अपनी-अपनी पसन्द है, सेठजी! विष्ठा के कीड़ों को विष्ठा ही पसन्द आती है। वे घी, दूध में जीवित नहीं रह सकते।"

"छोड़ो इस पतित जीवन को। कहो तो नर्तकी से आपकी पुनः मैत्री करा दूँ?"

"मेरा उससे झगड़ा नहीं हुआ। मुझे उससे कोई शिकायत नहीं है। इस पर भी ऐसा ही रहना चाहता हूँ।"

"नहीं-नहीं पण्डितजी! ऐसा मत कहो। देखो, आज यहीं ठहरो। मैं आपके लिए भोजन की व्यवस्था यहीं करा देता हूँ। सायंकाल मेरे साथ चलना। यदि कोई बात है तो वह क्षमा माँग लेगी।"

"जी नहीं; अब मैं वहाँ नहीं जाऊँगा। मुझको खाने-पहनने को मिलने लगा है। इस पर भी आपकी सहानुभूति के लिए मैं आपका धन्यवाद करता हूँ।"

इतना कह गोविन्द दूकान से उतर अपने पान्थागार की ओर चल पड़ा।

गोविन्द के भीख माँगने का समाचार गजानन मिश्र को भी मिला। मिश्रजी की बैठक में बात चली तो सबका विचार हुआ कि उसका नर्तकी से झगड़ा हो

गया होगा। विरोचन के विवाह के समय गोविन्द के एक अच्छे संगीतज्ञ होने का परिचय मिल चुका था। सबको विदित हो गया था कि वह बहुत अच्छा गाता है और उसको संगीत-शास्त्र का अच्छा ज्ञान है। इसके साथ-साथ उसके स्वर में प्रभाव और माधुर्य प्रतीत हुआ था।

ऊदल का विचार था कि ऐसे योग्य व्यक्ति को अपनी जीविका चलाने के लिए गलियों में घूम-घूमकर भीख माँगने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। नगरपालक से यह सूचना मिली थी कि जब वह मस्त हो गाता है तो नगर के बाल-वृद्ध उसके सुर-ताल के साथ उसके चारों ओर नाचने-गाने लगते हैं। ऊदल इसको एक बहुत बड़ा गुण समझता था।

उसने एक दिन गजाननजी से कहा, "काका! यह काशी राज्य का अपमान नहीं क्या कि एक ब्राह्मण, जो संगीत-कला का धुरंधर विद्वान् है, काशी की गलियों में भीख माँगता फिरे?"

"वह कोई व्यवसाय क्यों नहीं कर लेता?"

"इस कारण काका! कि वह वैश्य नहीं है। उसमें धन कमाने की प्रवृत्ति नहीं है। वह ब्राह्मण है।"

"यह तुम ठीक कहते हो, पर हम क्या कर सकते हैं? सब अपने-अपने भाग्य के अधीन ही रह सकते हैं।"

"उसका जो भाग्य है, वह उससे निपट लेगा। मैं काशी के कर्त्तव्य की बात कर रहा हूँ। राज्य को उसके पालन-पोषण का भार वहन करना चाहिए और उसकी योग्यता से जनता को लाभ उठाने का अवसर मिलना चाहिए।"

"ऊदल! अपने नाना से कहो कि उसको वासुदेव के मन्दिर में कीर्तन करने के लिए नियुक्त कर लें।"

"नहीं काका! राज्य को उसका संरक्षण अपने ऊपर लेना चाहिए।"

"तो तुम उसको सुझाव दो कि वह महाराज के पास पहुँचकर अपनी योग्यता का प्रमाण दे।"

"तो अब ब्राह्मणों को राज-द्वार पर जाकर भीख माँगनी पड़ेगी?"

"भीख वह माँगता ही है। टका-टका बटोरने की अपेक्षा एक ही दानी का द्वार खटखटाए तो क्या यह अच्छा नहीं?"

"जनसाधारण उसको स्वेच्छा से देते हैं। वह किसी का द्वार खटखटाता नहीं। देखो काका, कल मैं दशाश्वमेध घाट पर स्नान करने गया था। नीलाम्बरा मेरे साथ थी। गोविन्द आँख मूँदे भगवद्-भजन के गीत गा रहा था। लोग स्नान करके आते थे और एक-आध टका उसके सामने फेंक जाते थे।

"हम वहाँ खड़े देख रहे थे। वह आँखें मूँदे वहाँ बैठा था। उसको ज्ञान

नहीं था कि कौन क्या दे रहा है। उसको हमारे वहाँ खड़े होने का भी ज्ञान नहीं था।

''भजन के बाद जब उसकी आँख खुली तो हमको देख वह इतना प्रसन्न हुआ कि मिली हुई भिक्षा को बटोरना भी भूल गया। वह नीलाम्बरा और उसके मुन्ने का स्वास्थ्य पूछने लगा। जब वह अपना एकतारा और करतालें समेट हमारे साथ चलने लगा तो मैंने उसका ध्यान भिक्षा के टकों की ओर खींचा। वह बोल उठा, 'ओह! धन्यवाद भैया! यह आज जीवन का एक विशेष अंग बन गई है।'

''इतना कह उसने टके बटोर लिए। दो रजत के लगभग थे। उनको जेब में रख वह हमारे साथ-साथ पांथागार तक आया। मेरे यह पूछने पर कि वह नर्तकी का घर क्यों छोड़ आया है, उसने बताया, 'वहाँ का जलवायु अनुकूल नहीं बैठा।'

'अस्वस्थ हो गए थे क्या?' मैंने पूछा।

'हाँ, मन से। अब ठीक हूँ। मन और बुद्धि मलिन होती जा रही थी। अब अपने को स्वस्थ अनुभव करता हूँ।' उसका उत्तर था।''

गजानन ने कहा, ''तो उसका जीवन आनन्दपूर्वक चल रहा है?''

''जहाँ तक उसका सम्बन्ध है, वह सन्तुष्ट प्रतीत होता है। मैं समझता हूँ कि प्रत्येक ब्राह्मण को ऐसा ही होना चाहिए। परन्तु काका! वह अति योग्य व्यक्ति है। उसके प्रति राज्य का भी कुछ कर्त्तव्य है?''

''पर मैं राज्य के विषय में क्या कर सकता हूँ?''

''काका! आप महाराज के पुरोहित हैं। आप महाराज से एक बार कह दें, मैं समझता हूँ कि वे कुछ-न-कुछ कर देंगे।''

गजानन को महाराज पर इतना विश्वास नहीं था। महाराज के पास बीसियों भीख माँगने वाले नित्य आते रहते थे और वे उनसे ऊब गए प्रतीत होते थे। साथ ही राज्य-कोष भले ही बड़ा हो वह असीम नहीं होता। वह जानता था कि महाराज कोष में सदा धनाभाव अनुभव करते रहते हैं। इस पर भी ऊदल का आग्रह और हठ घर में विख्यात था। गजानन ने गोविन्द की बात महाराज से करने का वचन दे दिया।

रुक्मिणी को भी यह पता चल गया था कि नर्तकी का घर छोड़ गोविन्द काशी की गलियों में भीख माँगता फिरता है। रुक्मिणी माया के साथ उसके पिता के घर गई हुई थी। वहाँ नीलाम्बरा ने बातों-ही-बातों में गोविन्द की बात चला दी। नीलाम्बरा ने कहा, ''रुक्मिणी! विवाह के अवसर पर तुम्हारा नृत्य बहुत ही अच्छा रहा था।''

''इसमें सबसे बड़ा कारण गोविन्द का मृदंग बजाना और उसका गीत गाना ही था।''

इस पर गोविन्द की बात चल पड़ी। नीलाम्बरा ने दशाश्वमेध घाट की बात बता दी। रुक्मिणी ने भी अपनी वह बात बता दी जो उससे नृत्य के बाद हुई थी। इस पर नीलाम्बरा ने कहा, "सम्भव है कि उसने तुम्हारे और अपने में अन्तर को कम करने के लिए ही नर्तकी का घर छोड़ा हो।"

"और यह सम्भव क्यों नहीं कि नर्तकी ने उसको घर से धक्के दे-देकर निकाल दिया हो?"

"निकाला होगा तो किसी अपराध के कारण ही न और नर्तकी की दृष्टि में जो बात अपराध होगी, वह बाहर के संसार की दृष्टि में गुण हो सकती है।"

"नीलाम्बरा! तुम गोविन्द से प्रेम करने लगी हो क्या?"

"प्रेम नहीं! हाँ; स्नेह तो अवश्य है। दस वर्ष तक हमने उसके पिता जी से संगीत तथा नृत्य सीखा है। सैकड़ों बार गोविन्द ने हमारे संगीत और नृत्य के साथ अपने भजनों तथा मृदंग से संगत दी है। अत: उससे स्नेह हो जाना स्वाभाविक है। वह अपनी ओर का रहने वाला, यहाँ परदेश में हमारे लिए ही पड़ा है। इस कारण उससे सहानुभूति होनी ही चाहिए।"

"इस पर भी उसने एक वेश्या के साथ पतित जीवन व्यतीत किया है।"

"किसने देखा है? मैं यह विचार करती हूँ कि यदि दोनों में अनुचित सम्बन्ध होता तो वह वहाँ जूते खाता हुआ भी पड़ा रहता। कदाचित् उसने कोई भूल की है, जिसका वह प्रायश्चित्त कर रहा है।"

रुक्मिणी यह सुन गम्भीर विचार में पड़ गई। अब पुन: उसके मन की वही अवस्था होने लगी, जो गोविन्द के विषय में प्रथम बार सूचना मिलने पर हुई थी। अब उसने मन में यह विचार किया कि वह पति होने के योग्य व्यक्ति है क्या? उसको अपने सत्य कहने का प्रमाण देना चाहिए। वह मन में सोचती थी कि नीलाम्बरा के कथन का प्रमाण मिल जाए तो पुन: विवाह के विषय में विचार किया जा सकता है।

:: 2 ::

गजानन के विस्मय का ठिकाना नहीं रहा, जब उसने महाराज को गोविन्द के पूर्ण वृत्तान्त से परिचित पाया। गजानन ने महाराज से कहा था, "महाराज! आजकल एक दक्षिणी ब्राह्मण काशी की गलियों में गा-गाकर भिक्षा माँगते देखा जाता है। वह अति योग्य संगीतज्ञ है। काशी नगरी में एक योग्य ब्राह्मण को इससे अधिक प्रतिष्ठा की आशा करनी चाहिए।"

"पुरोहित जी! गोविन्द की बात कह रहे हैं?"

"हाँ, महाराज!"

"हम काशी की जनता की परीक्षा ले रहे हैं। काशी के सेठ नीलमणि की बैठक पर सहस्रों स्वर्ण मुद्राएँ उस नर्तकी के दर्शन मात्र के लिए फेंक देते थे। हम देखना चाहते हैं कि वे एक ब्राह्मण के लिए क्या करते हैं?"

"महाराज! वह पिछले छः मास से भिक्षावृत्ति कर रहा है।"

"ठीक है, परन्तु उसका काशी में पड़े रहने का प्रयोजन अभी पता नहीं चला। यह सूचना मिली है कि एक बार आप उसमें रुचि लेते थे और उसको राज्य के पान्थागार में ठहरने में सहायक बने थे। बाद में वह रात को देरी से पांथागार में लौटने के कारण वहाँ से निकाल दिया गया था। तब वह नीलमणि के कोठे पर जाकर रहने लगा था। यद्यपि नीलमणि उसको बहुत चाहती थी, परन्तु वह कभी भी नीलमणि के शयनागार में जाता नहीं देखा गया।

"अब उसका नर्तकी से झगड़ा हो गया है और उसने पुनः निर्धनता का जीवन व्यतीत करना आरम्भ कर दिया है। नर्तकी के एक मित्र सेठ ने उसको पुनः नर्तकी के घर चलने के लिए कहा था, परन्तु वह वहाँ नहीं गया। अब नर्तकी भी कहीं लापता हो गई है।"

"तो फिर महाराज की क्या आज्ञा है?"

"गजाननजी! हम कुछ बातों को जानना चाहते हैं। उनको जाने बिना हम गोविन्द के विषय में कुछ नहीं कर सकते।"

"क्या बात है जो महाराज जानना चाहते हैं? मैं इस ब्राह्मण के विषय में कुछ ज्ञान रखता हूँ। यदि आज्ञा हो तो कहूँ? कदाचित् मैं उन प्रश्नों पर प्रकाश डाल सकूँ।"

"यह ब्राह्मण यहाँ किस प्रयोजन से आया है और फिर यहाँ क्यों टिका है? इसके साथ ही नीलमणि से इसका झगड़ा क्यों हुआ है? अब नीलमणि कहाँ चली गई है?"

इस पर गजानन ने गोविन्द की जीवन कथा, जितनी वह जानता था, बता दी। उसमें रुक्मिणी का उल्लेख भी आया।

"तो क्या रुक्मिणी उससे विवाह स्वीकार नहीं करती?"

गजानन ने रुक्मिणी के मन की अवस्था भी अपने ज्ञान के अनुसार वर्णन कर दी।

"अब उसका क्या विचार है?"

"यह तो महाराज! मैं नहीं जानता। पहले उसका कहना था कि नर्तकी के साथ उसका अनुचित सम्बन्ध है। अतः उसका अधिकार नहीं रहा कि वह उसका पति बने। परन्तु अब उसके जीवन को देख वह विस्मय कर रही है कि इस ब्राह्मण कुमार के मन में क्या है?

"महाराज को गोविन्द के विषय में रुचि लेता देख मुझको अति हर्ष हो रहा है। मुझको पूर्ण विश्वास है कि महाराज जो कुछ इस विषय में करेंगे, वह उसके कल्याण के लिए होगा।"

गोविन्द प्रिय अपने भोजनादि से बचा भिक्षा का धन चींटियों को अनाज का पिसान डालने में व्यय कर देता था। वह प्रति सायंकाल जंगल में चला जाता था और पिसान उन स्थानों पर डाल, जहाँ चीटियाँ होती थीं, सूर्यास्त तक लौट आता था। एक दिन जब वह अपने इस कार्य से लौटा तो सेठ सखाराम पांथागार के द्वार पर उसकी प्रतीक्षा में खड़ा था।

गोविन्द ने उसको पहचाना तो नमस्कार कर दी। सखाराम ने उसका मार्ग रोककर कहा, "पण्डित जी महाराज! मैं आपकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ।"

"आज्ञा करिए।" गोविन्द ने खड़े होकर पूछ लिया।

"नीलमणि के कोठे पर जाने वाले सेठ्ठियों ने एक बैठक में आपके विषय में कुछ निर्णय किया है।"

"ओह!" गोविन्द ने विस्मय से सेठ का मुख देखते हुए पूछा, "यह क्या? मैंने उनका कोई अपराध किया है क्या?"

"हाँ, आपने समाज के प्रति एक अपराध किया है। आपके इस अपराध पर बैठक में विचार हुआ है और यह निर्णय हुआ है कि आपसे यह प्रार्थना की जाए कि आप अपना व्यवहार और आचरण सुधार लें।"

"परन्तु भगवन्! मैंने कौन-सा अपराध किया है? मुझको बता दीजिए। यदि मेरी समझ में आ गई कि मुझसे कुछ किसी के भी प्रति बुरी बात हो गई है तो मैं उसको करना बन्द कर दूँगा और अपने किए के लिए प्रायश्चित्त कर लूँगा।"

"मैं इसी के लिए एक प्रहर से यहाँ खड़ा आपकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। यहाँ इस पांथागार में यह बात हो नहीं सकती। आप मेरे साथ चलिए। वहाँ कुछ अन्य लोग भी हैं, जो आपसे बात करने के लिए बैठक में नियुक्त किए गए हैं।"

"देखिए महाराज! सेठ्ठियों की सभा यहाँ की राज्य-परिषद तो है नहीं। इस कारण उसके द्वारा नियुक्त प्रतिनिधियों से मैं मिलने के लिए बाध्य नहीं हूँ। मेरी इच्छा उनसे मिलने के लिए, वहाँ जाने की नहीं हो रही।"

"तो पण्डितजी! आप वहाँ जाने की इच्छा बना लो। कारण यह कि वह सभा आपके हित में ही विचार कर रही है।"

"मैं उनका धन्यवाद करता हूँ। यदि मुझसे कुछ कहना है तो यहीं कह दें। यदि मुझसे कुछ पाप अथवा अपराध हो गया है तो उसका प्रायश्चित्त बिना उन प्रतिनिधियों से मिले भी मैं कर लूँगा।"

"इस प्रकार मार्ग तट पर खड़े, जहाँ आने-जाने वाले हमारी बात सुन लें, कोई गम्भीर बात और विचार कैसे हो सकता है?"

"तो आइए, मेरी कोठरी में आ जाइए। वहाँ आपकी बात मेरे अतिरिक्त अन्य कोई नहीं सुन सकेगा।"

विवश सखाराम गोविन्द के साथ उसकी कोठरी में जा पहुँचा। कोठरी का दरवाजा भिंचा हुआ था। वैसे दरवाजे में न कुंडी थी, न ताला लगा हुआ था।

गोविन्द ने दरवाजा खोला। भीतर अँधेरा था। गोविन्द ने भीतर जाकर कहा, "आइए सेठजी!"

"परन्तु इस अँधेरे में मुझको भय लगता है।"

"किस बात का भय है?"

"यहाँ कोई साँप-बिच्छू हो तो?"

गोविन्द ने हँसकर कहा, "नहीं हैं। होते तो अभी तक मुझको काट चुके होते। आइए, मेरा हाथ पकड़कर आ जाइए। यहाँ एक खाट है। आपको उस पर बैठा दूँगा।"

"देखो गोविन्द भैया! मैं यही तो आपसे कहने आया हूँ। और आप जो स्वयं अन्याय कर रहे हो, वही मुझको करने के लिए कह रहे हो?"

"क्या करने को कह रहा हूँ आपको?"

"देखो गोविन्द! जब तक आप इस कोठरी में दीपक नहीं जलाते, मैं इसमें प्रवेश नहीं कर सकता।"

"सेठजी! यहाँ दीपक नहीं है।"

"तो एक टके का मोल ले आओ।"

"पर मेरे पास इस समय टका है नहीं।"

"क्यों आज के मिले टके कहाँ गए?"

"आज के टकों में एक सप्ताह के लिए कोठरी का भाड़ा दे दिया है। शेष का भोजन किया है। चार टका बचा था, उसका गेहूँ का पिसान लेकर जंगल में चींटियों को डाल आया हूँ। इस समय मेरे पास कुछ नहीं है।"

"यदि इस समय आवश्यकता आ पड़े तो क्या करोगे?"

"ऐसी कौन-सी आवश्यकता आ सकती है, जो प्रात.काल तक टाली नहीं जा सकती? यह मेरा स्वभाव है कि मैं रात तक सबकुछ व्यय कर दिया करता हूँ।"

"अच्छा ऐसा करिए। ये चार टके मुझसे ले लीजिए और जाकर दीपक, तेल, बत्ती ले आइए। वह जलाइए। मैं आपसे अत्यावश्यक और लम्बी बात कहने आया हूँ।"

सेठ ने चार टके गोविन्द को दिये, जिससे वह मिट्टी का दीपक, उसमें तेल, बत्ती डाल, जलाकर ले आया। आते हुए वह हाथ से उसको ढाँपे हुए था, जिससे वह बुझ न जाए।

कोठरी में एक आलने में दीपक रख दिया गया। उसके प्रकाश में सेठ कोठरी के भीतर आ गया। उसने देखा कि बाँस की मोटे बान की बुनी हुई खाट रखी हुई थी। उस पर एक चादर बिछी हुई थी। चादर धुली हुई साफ-सुथरी थी, परन्तु उस पर तकिया नहीं था। दीवार के साथ ताँबे का एक लोटा और उसके समीप पानी से भरा घड़ा था, जिसका मुख ढँपा था। इसके अतिरिक्त कोठरी के एक कोने में गोविन्द का एकतारा और करतालें पड़ी थीं। अन्य कुछ नहीं था। सखाराम उस कोठरी को देखता हुआ खड़ा रह गया।

गोविन्द ने सेठजी को खाट पर बैठने को कहा। सेठजी बैठ गए और गोविन्द को अपने समीप बैठाकर पूछने लगे, ''देखो पण्डित! यदि कोई व्यक्ति आत्महत्या करना चाहे तो उसके लिए क्या करना चाहिए?''

''उसको समझाने का यत्न करना चाहिए।''

''क्यों समझाना चाहिए?''

''इसलिए कि मानव-जन्म बार-बार नहीं मिलता। इस जन्म में ही मनुष्य को आत्मोन्नति और मोक्ष-प्राप्ति के लिए यत्न करने का अवसर मिलता है।''

''इस पर भी यदि कोई मनुष्य न माने और आत्महत्या करने पर तुल जाए तो क्या किया जाए?''

उसको पकड़ कर राज्याधिकारियों के अधीन कर देना चाहिए और उसको तब तक बन्दी बनाकर रखना चाहिए जब तक उसका मस्तिष्क ठीक न हो जाए?''

''यदि कोई मनुष्य किसी कला में निपुण हो, जिसमें निपुणता प्राप्त करने के लिए उसको बहुत परिश्रम करना पड़ा हो और कइयों से सहयोग लेना पड़ा हो, ऐसा व्यक्ति आत्महत्या करे तो आप उसको क्या कहेंगे?''

''उसको तस्कर ही कहा जाएगा।''

''अच्छा, एक बात और बताओ। यदि कोई धनी, सेठ्ठी, बहुत-सा धन कमाकर अपने पर ही व्यय करे तो उस धनी को क्या कहेंगे?''

''धर्मशास्त्र में विधान है कि उसका धन छीन लिया जाए और उसके गले में पत्थर बाँध उसको नदी में डुबो दिया जाए।''

''गोविन्द! ये दोनों पाप आप कर रहे हैं। आप रूखी-सूखी खाकर आत्महत्या कर रहे हैं। यह आप अपने प्रति और समाज के प्रति, जिसकी कई पीढ़ियों के परिश्रम के फल से आप अपनी संगीत-विद्या सीख सके हैं, अन्याय

कर रहे हैं। आपके गुरु जी ने आपको विद्या पढ़ाई है। गुरुजी को किसी अन्य ने पढ़ाई होगी। गुरु जी और आपके सैकड़ों अन्य गायकों के अनुभव और परिश्रम का फल मिला है अर्थात् वह विद्या, जिसके आप स्वामी हैं, समाज की देन है। वह आप रद्दी की टोकरी में ही नहीं फेंक रहे, प्रत्युत अपनी हत्या कर उसकी भी हत्या कर रहे हैं।

''साथ ही आप इस विद्या को किसी को न देकर उस सेठ्ठी का-सा व्यवहार कर रहे हो, जो धन कमाकर दान-पुण्य नहीं करता। आपके अपने कहने के अनुसार ही आप तस्कर हैं।''

गोविन्द ने समस्या का इस रूप में विचार नहीं किया था। इससे वह एक बार भौंचक्का हो सेठ सखाराम का मुख देखता रह गया। जब वह विचार करने लगा तो उसको सेठ के तर्क में दोष प्रतीत होने लगा। उसने कहा, ''मैं समझता हूँ कि आपकी दोनों धारणाएँ मिथ्या हैं। देखिए, मैं आत्महत्या नहीं कर रहा। आत्महत्या तो नर्तकी के घर पर कर रहा था। अब मैं अपने शरीर और आत्मा को अधिक स्वस्थ, सुदृढ़ और संतुलित मन वाला पाता हूँ। मुझको विश्वास है कि इस प्रकार के रहन-सहन से मैं अपने जीवन को कम नहीं कर रहा, प्रत्युत इसको लम्बा कर रहा हूँ।

''मैं तस्कर भी नहीं हूँ। मैं अपनी कला को दोनों हाथों से लुटा रहा हूँ। उसका मूल्य कुछ नहीं माँगता। जो आए सुन ले और उससे आनन्द और शान्ति प्राप्त कर ले। मेरी कला से लाभ उठाने वालों को सैकड़ों मुद्राएँ भेंट में नहीं देनी पड़तीं। देखिए सेठजी! मैं समझता हूँ कि युक्ति और प्रमाण से मैंने आपकी बात का खण्डन कर दिया है। यदि और कुछ कहने को नहीं तो आप जा सकते हैं। मैं अब सोना चाहता हूँ। प्रात:काल उठकर मुझे अपने नित्य-कर्म पर लग जाना है।''

''एक बात रह गई है गोविन्दजी! आप गलियों में और घाटों पर गाने को ऊसर-भूमि पर बीज बिखेरने के समान नहीं समझते क्या?''

''मैंने उस भूमि की परीक्षा नहीं की और न ही जानता हूँ कि वह ऊसर है अथवा उर्वरा, मेरे पास साधन नहीं कि मैं उस भूमि की परीक्षा कर सकूँ। इसी कारण दोनों हाथों से बीज बिखेर रहा हूँ। कुछ बीज अवश्य निष्फल जाएँगे, परन्तु अधिकांश जम जाएँगे और फल देंगे।''

''हमारी सभा को इसमें सन्देह है। सभा का विचार है कि अधिकांश सुनने वाले एक कान से सुनते हैं और दूसरे कान से निकाल देते हैं। क्या यह ठीक न होगा कि बीज बिखेरने से पहले भूमि की परीक्षा कर ली जाए, तदनन्तर बीजारोपण किया जाए?''

"मेरे पास न साधन है, न अवकाश। मैं ऐसा नहीं कर सकता।"

"तो यह काम किसी अन्य के हाथ में दिया जा सकता है।"

"नर्तकी नीलमणि के हाथ में न?" गोविन्द खिलखिलाकर हँस पड़ा। उसने कहा, "उसकी उर्वरा भूमि की पहचान दर्शकों की जेबों के धन पर निर्भर होगी।"

"नर्तकी तो गई। आप नहीं जानते क्या?"

"गई? कहाँ?"

"हममें से कोई नहीं जानता। एक दिन मुझसे पूछ रही थी कि मेरे गुरु कहाँ हैं। कदाचित् वह वहाँ गई है और बौद्ध-भिक्षुणी बन चुकी होगी।

"नर्तकी के चले जाने पर ही हमने एक सभा बुलाकर यह निश्चय किया कि आपको प्रेरणा देकर काशी में विलुप्त होने वाली संगीत-कला की रक्षा करें। देखिए गोविन्द प्रियजी! हम चाहते हैं कि काशी में एक विशाल मन्दिर बनवा दें। उसमें आप रहें और फिर जो कोई सीखने आए, उसको संगीत की शिक्षा दें। साथ ही कभी-कभी नागरिकों के लाभ के लिए संगीत, कीर्तन, नृत्यों का आयोजन किया करें। इससे नगर में शुष्क तार्किकों द्वारा बनाए गए नीरस वातावरण में आप अपनी कला से रंग भरकर उसको रसमय बना सकेंगे। यह मन्दिर भगवती सरस्वती का हो।"

"परन्तु कठिनाई यह आएगी कि इतने बड़े आयोजन का व्यय और फिर नागरिकों के लिए किए जाने वाले आयोजनों का व्यय मेरे पास नहीं है। मैं धन एकत्रित न करने की प्रतिज्ञा ले चुका हूँ। मुझसे यह सब झंझट नहीं हो सकेगा।"

"परन्तु आपको किसने कहा है कि आप यह सबकुछ करें? यह प्रबन्ध हमारी सभा करेगी।"

गोविन्द प्रिय को यह प्रस्ताव अपनी वर्तमान परिस्थिति में एक सुधार प्रतीत हुआ। इस पर भी उसने पूछ लिया, "उस सभा में कौन-कौन हैं?"

"हैं तो बहुत से लोग। हमने इस कार्य के लिए पचास सहस्र स्वर्ण मुद्रा एकत्रित कर ली हैं। पूर्ण योजना को चालू करने के लिए एक प्रबन्ध समिति बना दी गई है। उस समिति में राज्य की ओर से एक प्रतिनिधि भी है। राज्य ने इसमें पन्द्रह सहस्र स्वर्ण दिये हैं।"

"ओह! अच्छी बात है। मैं उसमें तब तक कार्य करूँगा, जब तक मुझको अपने ढंग से कार्य करने की सुविधा रहेगी। यह मेरा वचन है। अब आप जा सकते हैं।"

"तो आप कल मेरी दूकान पर आ जाइए। तब इस कार्य की योजना पर विचार करेंगे।"

:: 3 ::

काशी में सरस्वती के मन्दिर का निर्माण हो गया। इस मन्दिर में सरस्वती की मूर्ति की स्थापना हो गई, वहाँ संगीत-नृत्य की शिक्षा का प्रबन्ध भी हो गया। लड़के और लड़कियाँ इन कलाओं में शास्त्रीय शिक्षा के लिए आने लगे। इस शिक्षा-कार्य के लिए बीसियों आगार निर्माण किए गए और कई अन्य शिक्षक भी इस कार्य के लिए नियुक्त किए गए।

शिक्षा नि:शुल्क दी जाती थी, परन्तु शिक्षा-प्राप्ति के लिए प्रवेश का अधिकार एक समिति के अधीन रखा गया था।

मन्दिर का मुख्य पुजारी गोविन्द प्रिय नियुक्त हो गया और उसकी देखरेख में कार्य होने लगा।

मन्दिर बनने के प्रथम वर्ष में ही सौ से अधिक विद्यार्थी शिक्षा पाने के लिए आ गए।

गोविन्द प्रिय के साथ कार्य करने के लिए नीलाम्बरा और रुक्मिणी भी लग गईं। नीलाम्बरा ने यह अध्यापन का कार्य सबसे पहले स्वीकार किया। फिर उसके कहने पर रुक्मिणी भी यह कार्य करने लगी। ये और अन्य अध्यापिकाएँ भी, जहाँ शिक्षा का कार्य करती थीं, वहाँ स्वयं भी अभ्यास करती थीं।

वास्तव में जब गजानन मिश्र ने महाराज से गोविन्द प्रिय के लिए राज्य को कुछ करने की प्रार्थना की थी, महाराज इससे पहले ही इस दिशा में विचार कर रहे थे। अब उन्होंने इस विचार को यह आकार दे दिया। नीलमणि के चले जाने से नगर के संगीत-प्रेमी पहले किसी अच्छी नाचने-गाने वाली नर्तकी को पाटलीपुत्र अथवा कौशाम्बी से बुलाकर वहाँ बसाने वाले थे। वे भी महाराज की यह योजना सुन, इसमें हाथ बँटाने के लिए मान गए। इस प्रकार राज्य से स्वतन्त्र, परन्तु राज्य की सहायता से यह आयोजन चलने लगा।

गोविन्द प्रिय को काम तुरन्त ही दे दिया गया। एक विशाल भवन नगर के मध्य में भाड़े पर लेकर कार्य आरम्भ कर दिया गया और नये मन्दिर का निर्माण आरम्भ कर दिया गया। इस मन्दिर के बनने में एक वर्ष लग गया। जब यह बन गया, इसकी ख्याति काशी से बाहर भी फैलने लगी। नीलाम्बरा तो उस समय से ही इस विद्यालय में कार्य करने लगी थी, जब यह अभी भाड़े के मकान में था, परन्तु रुक्मिणी इसके शिक्षक-वर्ग में तब आई जब यह नवीन भवन में कार्य करने लगा था।

गोविन्द ने जब रुक्मिणी को मन्दिर में कार्य के लिए आते देखा तो वह मन में चिर-विस्मृत अभिलाषा जाग्रत होती अनुभव करने लगा।

रुक्मिणी को भी गोविन्द को अपने मन्दिर के प्रबन्ध-कार्य में संलग्न देख संतोष होता था। वह इसका यह अर्थ नहीं लगाती थी कि वह उससे विवाह का विचार क़रने लगी है, इस पर भी काल व्यतीत होने के साथ उसके मन से वह भ्रम, जो वह उसके विषय में बना चुकी थी, दूर होता जाता था।

इस पर भी दोनों में खुलकर बात नहीं होती थी। गोविन्द के मन में यह बना रहता था कि उसने नर्तकी के घर में रहते हुए अपने को ऐसा कलुषित कर लिया है कि इस कलुष को वह जन्म-भर धो नहीं सकेगा। इसके विपरीत रुक्मिणी यह समझने लगी थी कि उसने उसको निराधार वेश्यागामी मान भारी अपराध किया है। इस अपराध से मुक्त होने के लिए उसको न जाने कब तक तपस्या करनी पड़ेगी।

इस प्रकार मन्दिर के कार्य के साथ उनके मनों की अवस्था चल रही थी। सरस्वती मन्दिर को बने दो वर्ष से ऊपर हो चुके थे। एक दिन नीलाम्बरा और रुक्मिणी सरस्वती की मूर्ति के सम्मुख बैठी दुर्गा राग का अभ्यास कर रही थीं। वे इस राग के स्वरों के भिन्न-भिन्न योग और विन्यास को बना, उस पर चर्चा कर रही थीं। वे एक-दूसरे के स्वर-विन्यास पर समालोचना करतीं और फिर उसमें सुधार कर अभ्यास करती थीं।

उनको अभ्यास करते सुन, गोविन्द भी इस समालोचना में भाग लेने के लिए वहाँ आ गया। उसे आया देख रुक्मिणी ने एक बार उसकी ओर आँखें उठाईं और फिर उसको अपनी ओर देखते हुए पा उसकी आँखें झुक गईं। गोविन्द की टकटकी अभी भी उसकी ओर ही लगी थी। इस समय नीलाम्बरा एक आलाप ले रही थी। उसने आलाप समाप्त किया और गोविन्द की ओर देख पूछा, "आचार्य जी! कैसा रहा यह योग?"

गोविन्द अभी भी रुक्मिणी की ओर देख रहा था। उसका ध्यान नीलाम्बरा के स्वरों की ओर नहीं था। इस कारण उसने नीलाम्बरा के प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। नीलाम्बरा यह देख कि आचार्य जी रुक्मिणी की रूप-माधुरी का रसास्वादन कर रहे हैं, उनका विचार छोड़ रुक्मिणी से पूछने लगी, "अच्छा रुक्मिणी! अब बताओ। क्या इसमें भी प और म का मेल ठीक नहीं बैठा?"

रुक्मिणी ने उत्तर देने के स्थान पर अपना चौतारा भूमि पर रख दिया और उठ खड़ी हुई। नीलाम्बरा ने पूछा, "यह क्या?"

उसे जाता देख गोविन्द ने कहा, "तुम बैठो, मैं जाता हूँ।" और वह वहाँ से चला गया। रुक्मिणी बैठ तो गई, परन्तु पुनः संगीत में मन नहीं लगा सकी। नीलाम्बरा ने दो-तीन और आलाप लिए और रुक्मिणी को साथ न देते देख, चौतारा भूमि पर रखते हुए कह दिया, "चलो चलें।"

रुक्मिणी ने अन्यमनस्क भाव में पूछा, "कहाँ?"

"अपने घर मुन्ने को दूध देने का समय हो गया है।" यह नीलाम्बरा का दूसरा पुत्र था।

रुक्मिणी उठी और उसके साथ मन्दिर से बाहर निकल गई। नीलाम्बरा का घर सरस्वती मन्दिर से कुछ अन्तर पर था। इस पर दोनों पैदल चल पड़ीं। कुछ दूर तक तो वे अपने-अपने विचारों में लीन चुपचाप चलती रहीं। फिर नीलाम्बरा अपने मन में उठ रही बात को कहने लगी। उसने कहा, "रुक्मिणी बहन! एक बात कहूँ? रुष्ट तो न हो जाओगी?"

रुक्मिणी ने उत्तर नहीं दिया। केवल वह प्रश्न-भरी दृष्टि से नीलाम्बरा की ओर देखने लगी। इस पर नीलाम्बरा ने कह दिया, "मैं समझती हूँ कि अब तुम्हारा विवाह हो जाना चाहिए।"

"क्यों?"

"क्यों? तो क्या तुम नहीं जानतीं कि विवाह क्यों किया जाता है? जब किसी से प्रेम हो जाता है, तो उससे विवाह कर ही लेना चाहिए।"

"किससे प्रेम हो गया है और किसको हो गया है?"

नीलाम्बरा ने मुस्कराते हुए रुक्मिणी की आँखों में देखते हुए कहा, "दाई से पेट छिपाया नहीं जा सकता रुक्मिणी! सत्य बताओ। तुमको मेरी सौगन्ध है, जो झूठ बोला तो। तुम आचार्य जी से प्रेम नहीं करतीं क्या?"

रुक्मिणी गम्भीर विचार में डूब गई। दोनों चुपचाप कुछ दूर और निकल गईं। एकाएक रुक्मिणी खड़ी हो नीलाम्बरा के कन्धे पर हाथ रख, उसको खड़ा कर कहने लगी, "मैं नहीं जानती कि प्रेम के क्या लक्षण हैं। एक लक्षण तो तुमने देखा था। वैद्यजी ने उसको काम-ज्वर कहा था। वह लक्षण मुझमें है नहीं। फिर कैसे कहूँ कि मेरे मन में प्रेम है।"

"उस दिन गोपाल बीमार हुआ था तो वैद्यजी कहने लगे कि वायु कुपित हो गई है। उसे ज्वर था। फिर एक दिन मदन को दस्त लगे तो भी वैद्यजी बोले कि वायु कुपित हो गई है। इस पर मैंने पूछा कि ज्वर आने पर भी वायु कुपित और दस्त होने पर भी वायु कुपित? भला एक ही दोष में एक ही लक्षण क्यों नहीं होते? इस पर वैद्यजी ने बताया था कि दोष केवल तीन हैं, परन्तु रोग अनेक हैं। दोष अकेला है, दो हैं अथवा तीनों हैं; दोष कुपित हैं, दूषित हैं अथवा विकृत हैं; इसी प्रकार दोष रस में है, रक्त में है, अथवा मांस-मेदादि किसी धातु में? अर्थात् एक ही दोष में अनेक बातें हो सकती हैं। यही बात प्रेम की है। यदि प्रेम रक्त में चला जाए तो ज्वर हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हारा प्रेम रक्त में नहीं गया, प्रत्युत मस्तिष्क में चला गया है। इसी से तुममें

लज्जा, संकोच, बुद्धि-विभ्रंश इत्यादि लक्षण प्रकट हो रहे हैं।''

''किसी वैद्यराज से यह विद्या पढ़ने लगी हो?'' रुक्मिणी ने पूछा।

''तुम्हारे जीजाजी से। वे आजकल आयुर्वेद का अध्ययन कर रहे हैं।''

दोनों हँसने लगीं। कुछ ठहरकर नीलाम्बरा ने कहा, ''रुक्मिणी बहन! यह प्रेम-रोग बहुत भयंकर होता है। मैं तो इसका स्वाद ले चुकी हूँ। इससे कहती हूँ किसी वैद्य से निदान कराकर चिकित्सा करानी चाहिए। कहीं यह न हो कि बुद्धि विभ्रंश से मति भ्रष्ट हो जाए और मति भ्रष्ट से भ्रम अथवा उन्माद हो जाए।''

''निदान तुमने कर दिया है। अब किसी वैद्य को दिखाने की क्या आवश्यकता है?''

''मैं अभी नौसिखिया ही हूँ। कहो तो तुम्हारे जीजाजी के गुरु जी से सम्मति ले लें?''

''कौन हैं वे?''

''पण्डित गजाननजी। तुम्हारे वर्तमान पिता।''

''मैं समझती हूँ कि जिस रोग का तुमने नाम लिया है, वह मुझको नहीं है। अत: किसी से निदान कराने की आवश्यकता नहीं।''

''परन्तु कुछ रोग ऐसे होते हैं कि रोगी उनमें ग्रस्त होने पर भी मानता नहीं कि वह रुग्ण है। वह कष्ट में होता हुआ भी कष्ट में होना स्वीकार नहीं करता। उन्माद रोग का रोगी अपने को बुद्धिमान और संसार-भर को पागल समझने लगता है। मुझको सन्देह हो रहा है कि कुछ ऐसी ही बात तुममें हो रही है। देखो बहन, मैं वैद्यजी को तुम्हारे लक्षण बता दूँगी। शेष वे जानें उनका काम जाने।''

''क्या लक्षण देखा है तुमने मुझमें?''

''अभ्यास करते-करते एकदम रुक जाना और फिर मन को अभ्यास पर न लगा सकना। प्रेमी को देखकर मुख लाल हो जाना और वाक्-शक्ति का लोप हो जाना। प्रेमी के साथ एक ही आगार में हो जाने पर वहाँ से बाहर भाग जाना इत्यादि।''

इस पर दोनों हँसने लगीं। इस समय सुरेश्वर भट्टजी का गृह आ गया और वे भीतर चली गईं।

भीतर ऊदल छोटे बच्चे को कन्धे के साथ लगा, कूद-कूदकर उसको रोने से चुप करा रहा था। उसको इस प्रकार और 'मदु-मदु' कहकर चुप कराते देख दोनों हँसने लगीं। हँसते हुए रुक्मिणी ने कहा, ''वैद्यजी! यह बीमार नहीं है जो वैद्य के कहने से मान जाएगा। यह भूखा है और दूध माँग रहा है।''

"भूखा है ? तब यह इसकी माँ का काम है।"

नीलाम्बरा ने बच्चे को लेकर छाती से लगा लिया। बच्चा छाती की कोमलता का अनुभव कर और समझ कि उसके भोजन की सामग्री समीप है, चुप हो गया। नीलाम्बरा ने बच्चे को दूध पिलाते हुए कहा, "देखिए जी! आपके आयुर्वेद के ज्ञान की परीक्षा के लिए एक रोगी लाई हूँ। तनिक इसकी नाड़ी को देखकर बताइए कि इसको क्या रोग है ?"

"रुक्मिणी बहन बीमार हैं ? तब तो पिता जी से सम्मति लेनी चाहिए। मैं अभी आधा वैद्य ही हूँ।"

"उनसे भी पूछ लेंगे।" रुक्मिणी ने हँसते हुए कहा, "यदि छोटे वैद्य से ही सन्तोष हो जाए तो बड़ों को कष्ट देने की क्या आवश्यकता है ?"

"तो बैठो।" बिछी चटाई पर रुक्मिणी को बैठा, स्वयं एक चौकी पर बैठ ऊदल उसके बाएँ हाथ की नाड़ी देखने लगा। इस समय आगार में विरोचन और माया आ खड़े हुए। विरोचन ने ऊदल को रुक्मिणी की नाड़ी पकड़े देख बहुत लम्बा मुख बना गम्भीर भाव में पूछा, "क्या है, दादा ?"

ऊदल ने चिन्ता का भाव बनाकर कहा, "विरोचन भैया! तनिक तुम भी देखना। एक अति भयंकर रोग के लक्षण प्रतीत हो रहे हैं।"

रुक्मिणी की नाड़ी देखने के लिए विरोचन ने हाथ बढ़ाया। रुक्मिणी ने उसको भी हाथ दिखा दिया। विरोचन ने नाड़ी देखकर कहा, "सत्य ही है। तुम्हारी पूर्ण अवस्था पिता जी को बतानी ही पड़ेगी। क्यों ऊदल दादा! क्या विचार है ?"

"हाँ विरोचन! मैं समझता हूँ कि इसको तुरन्त लंघन कराना चाहिए, जिससे इसके दोष कुपित न हो जाएँ ?"

सब खिलखिलाकर हँसने लगे। मायाविनी ने कहा, "रुक्मिणी बहन के लिए डोली मँगवाऊँ ?"

"नहीं बहन!" नीलाम्बरा ने कहा, "डोली चिकित्सा नहीं करेगी, हाँ चिकित्सा से डोली मिलेगी।"

"देखो विरोचन! हँसी छोड़ो। मैं सब प्रकार से स्वस्थ हूँ। मैं रुग्ण नहीं और मुझको चिकित्सा की आवश्यकता नहीं।"

"ठीक है, ठीक है।" ऊदल ने कहा, "इस रोग के रोगी अपने को स्वस्थ समझते हैं और ऐसे ही कहा करते हैं, जैसे तुम कह रही हो। तुम्हारे विषय में काका से कहना ही होगा।"

"क्या कहना होगा ?"

"तुम्हारे रोग का निदान।"

"क्या निदान है मेरे रोग का?"

"यह रोगी को नहीं बताया जा सकता।"

"ऊदल भैया! यदि ऐसे ही चिकित्सा करने लगे तो तुम्हारा काम चल चुका।"

:: 4 ::

इस पर भी गजानन के सामने रुक्मिणी के विषय में चर्चा हो गई। नीलाम्बरा का अनुमान उनको बता दिया गया और उनका निश्चित मत बन गया कि अब रुक्मिणी का विवाह गोविन्द प्रिय से हो जाना चाहिए।

परन्तु दूसरी ओर परिस्थिति ने करवट ली। जिस दिन नीलाम्बरा और रुक्मिणी के सामने से गोविन्द घबराकर लौट गया था, उसी सायंकाल नीलमणि सरस्वती मन्दिर में प्रवेश पाने के लिए पहुँच गई। वह सेठ सखाराम से पत्र लाई थी। सेठजी ने लिखा था, 'पत्रवाहिका नीलमणि सरस्वती मन्दिर में संगीत की शिक्षा लेने और साथ ही नृत्य सिखाने के लिए प्रवेश पाना चाहती है। मेरी सम्मति है कि इसको प्रवेश मिलना चाहिए।"

जब वह पत्र के साथ गोविन्द के सामने उपस्थित हुई तो गोविन्द आश्चर्य में मुख देखता रह गया। उसके मुख से अनायास निकल गया, "तुम? तुम सरस्वती मन्दिर में शिक्षा पाना चाहती हो?"

"हाँ।"

"तुम सीखकर क्या करोगी? तुम पहले ही बहुत कुछ जानती हो।"

"मैं और सीखना चाहती हूँ और इस शिक्षा के विनिमय में अपने से कम जानने वालों को सिखा भी दिया करूँगी।"

"नीलमणि देवी! तुम यहाँ किसलिए आई हो? यह सीखना-सिखाना तो बहाना मात्र प्रतीत होता है।"

"मैं समझती हूँ कि आपका अनुमान ठीक है। मैं यहाँ एक उद्देश्य से आई हूँ।"

"क्या उद्देश्य है तुम्हारा?"

"मैं अपने पूर्व कर्मों का प्रायश्चित्त करना चाहती हूँ।"

"प्रायश्चित्त इत्यादि की बात छोड़ो। मैं कहता हूँ कि यदि तुम्हारा मुझसे किसी प्रकार का सम्बन्ध बनाने का विचार है तो व्यर्थ है। उसके सफल होने की आशा नहीं हो सकती।"

मैंने यह नहीं कहा। मेरे प्रायश्चित्त का अर्थ यह नहीं कि मैं आपसे अपना सम्बन्ध बनाना चाहती हूँ। आपका मुझसे सम्बन्ध बनता है अथवा नहीं, यह इस प्रायश्चित्त के अन्तर्गत नहीं है।"

''सम्बन्ध दो पक्षों की ओर से ही हो सकता है।''

''नहीं, यह आवश्यक नहीं। एक पक्षीय सम्बन्ध भी हो सकता है। जैसे भक्त का ठाकुरजी से होता है। मैं वैसा सम्बन्ध ही बनाना चाहती हूँ।''

''तो तुमने मुझको पत्थर का ठाकुर समझ लिया?''

''जी नहीं, भगवान् का प्रतिनिधि। देखिए गोविन्दजी! अब मैं वह नीलमणि नहीं रही, जो तीन वर्ष पूर्व थी। मैंने स्वयं को बदलने के लिए घोर तपस्या की है। अब मैं उस तपस्या की सफलता की परीक्षा करने आई हूँ।''

''क्या तपस्या की है तुमने?''

''मैंने अपना व्यवसाय छोड़ दिया है। उस व्यवसाय से उपलब्ध धन मैंने दान कर दिया है। अब मेरे पास तन पर के वस्त्रों के अतिरिक्त कुछ नहीं है। मेरा अपनी कला और रूप पर अभिमान चूर-चूर हो चुका है। मैं अब एक गाय की भाँति शील-स्वभाव वाली स्त्री बन गई हूँ। अब उसकी परीक्षा का समय आ गया है।''

''पर यह सब तुमने क्यों किया है?''

''अपने देवता को रिझाने के लिए। पहले तो मैंने उनको भी अन्य मनुष्यों की भाँति पत्थर समझा था। मैं समझी थी कि कारीगर ने उन्हें बहुत सुन्दर गढ़ा है और उनको उठाकर अपने मन्दिर के एक कोने में प्रतिष्ठित करके रखूँगी। मैंने उनकी प्रतिष्ठा की। परन्तु समझा पत्थर मात्र ही। उनसे मेरे मन्दिर की शोभा तो बढ़ गई, परन्तु मेरा उनको पत्थर समझना भूल प्रतीत हुई। मैंने अभिमान किया और वे देवता मन्दिर को सूना छोड़ चले गए।

''अब मैं अपनी भूल समझ रही हूँ। मैंने उनको पत्थर की मूर्ति ही समझा था, परन्तु वे एक जीवित, ज्योतिर्मय, चलायमान और इच्छा रखने वाली शक्ति निकले। वे मेरे मन्दिर में स्थापित अन्य मूर्तियों से भिन्न निकले।

''मैंने तपस्या की है, परन्तु अभी प्रायश्चित्त नहीं किया। वह करने यहाँ आई हूँ।''

''पर मैं पूछता हूँ कि तुमने मुझको अपने त्याग-तपस्या का केन्द्र क्यों बनाया है। में ब्राह्मण हूँ। मेरे हाथ में धन नहीं रह सकता। मैं सदैव निर्धन बना रहूँगा। तुम जो स्वर्ग में लोट-पोट होती रही हो, वह एक निर्धन ब्राह्मण की बनकर रह नहीं सकोगी। रहोगी भी तो अत्यन्त कष्ट पाओगी।''

''मैंने सब विचार कर लिया है और एक निश्चय पर पहुँच गई हूँ। मेरा निश्चय यह है कि मैं आपसे प्रेम करती हूँ और मुझको आपके समीप ही कहीं रहना चाहिए। आपसे मैं कुछ नहीं माँगती।

गोविन्द को नीलमणि का इस समय इस प्रकार वहाँ आ पहुँचना एक

विचित्र बात प्रतीत हुई। आज ही रुक्मिणी के अभ्यास करते समय, उसका वहाँ उसके सम्मुख जाना और वहाँ से उसके घृणा के व्यवहार को देख चला आना घटा था। वह मन में विचार कर रहा था कि उसके और रुक्मिणी के भीतर एक खाई है और वह खाई भ्रममूलक होते हुए भी पटती दिखाई नहीं देती थी।

अब यह स्त्री उसके सामने उपस्थित है। यह अभिमान की मूर्ति, धन की लोभिनी और अद्वितीय सुन्दरी अब उसके सम्मुख निरभिमान हो, उसके चरणों पर लोट-पोट हो रही है। यह अब सर्वथा उसकी इच्छानुसार रहने के लिए आई है।

उसको ऐसा प्रतीत हो रहा था कि एक अनमोल मोती उसके पाँव के समीप धूलि-धूसरित पड़ा है। वह चाहे तो उसको उठा, धो-पोंछ कर अपने हृदयस्थल में रख सकता है।

वह मान गया। उसने कहा, ''नील! में तुमसे विवाह करने का इच्छुक था। यदि चाहो तो विवाह अब भी हो सकता है। मैं घर-गृहस्थी का भूखा हूँ। परन्तु तुमने एक बार कहा था कि तुमको बच्चे पैदा करने में रुचि नहीं। तुम बन्धन में बँधना नहीं चाहतीं, तुम एक पक्षी की भाँति स्वतन्त्र रहना चाहती हो। यह विवाहित जीवन में हो नहीं सकता।

''विवाहित जीवन में पति-पत्नी दो शरीर में एक प्राण की भाँति हो जाते हैं। दोनों का एक कर्त्तव्य हो जाता है। वह है मानव समाज को आगे-आगे ही ले जाने में लग जाना। यह तुमसे हो सकेगा क्या?''

''मैं कर्त्तव्य-पालन का पूर्ण यत्न करूँगी। मैं अपनी नौका आपके बजरे के साथ बाँधने के लिए आई हूँ। आप बन्धन ऐसा सुदृढ़ बनाएँ कि यह टूट न सके।''

इस प्रकार चिर-प्रतीक्षित सम्बन्ध का निर्णय हो गया। गोविन्द ने कहा, ''अभी तुम यहाँ ठहरो। शेष एक-दो दिन बाद निर्णय करेंगे।''

नीलमणि को एक आगार में ठहरने को कह दिया गया। आज गोविन्द को कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि उसके मन से एक भारी बोझ उतर गया है। वह निश्चिन्त हो सोया। उसको जीवन-पथ पर का मोड़ निकल गया प्रतीत होने लगा था।

:: 5 ::

नीलमणि तक्षशिला से चली और पैदल ही, मार्ग में भिक्षा माँग निर्वाह करती हुई दो मास में काशी आ पहुँची। काशी में गोविन्द के अधीन सरस्वती मन्दिर की बात सुन, वह सेठ सखाराम के पास जा पहुँची।

सखाराम नीलमणि को एक भिक्षुणी के पहरावे में अपने सामने खड़ी देख

चकित रह गया। फिर अपनी दी हुई सम्मति कि वह उसके गुरु से मिले, स्मरण कर सब समझ गया। उसने कहा, ''नील! बहुत-बहुत बधाई हो। मैं समझता हूँ कि अब तुम ठीक-ठीक मार्ग पर चल पड़ी हो। भगवान् तथागत की तुम पर कृपा प्रतीत होती है। तुम सर्वथा स्वस्थ और सबल प्रतीत होती हो।''

''सेठजी! कदाचित् इन वस्त्रों को देखकर आप मुझको बधाई दे रहे हैं। परन्तु मैं इनको आज उतार रही हूँ।''

''क्यों?''

''केवल मार्ग में भिक्षा माँगने में सुविधा के विचार से मैं इनको पहने हुए थी। ये तक्षशिला से चलते समय पहने थे। भारतवर्ष में इन वस्त्रों का अभी भी बहुत मान है और एक स्त्री को अकेले यात्रा में बहुत सहायक सिद्ध हुए हैं।

''मुझको तक्षशिला में संन्यास लेने के लिए कहा जा रहा था और मैं संन्यास लेने ही वाली थी कि वहाँ स्वामी शंकराचार्य जी पहुँचे गए। उनसे इस विषय में राय लेने पर मेरी समझ में आ गया कि मैं अभी संन्यास लेने की अधिकारिणी नहीं। उन्होंने कहा था कि संन्यास वैराग्य का अभ्यास करने का स्थान नहीं। यह तो विरक्त मनुष्यों के लिए कर्म-क्षेत्र है। अतः संन्यास का विचार छोड़ गोविन्दजी की खोज में चल पड़ी। मेरा विचार था कि वे अभी काशी में होंगे।

''यहाँ आकर पता चला है कि वे सरस्वती मन्दिर के अध्यक्ष हैं और आप उस मन्दिर के प्रबन्धकों में हैं। इस कारण आपसे उस मन्दिर में रहने और संगीत सीखने तथा सिखाने की स्वीकृति पाने के लिए यहाँ चली आई हूँ। आप मुझको वहाँ रहने की स्वीकृति प्रदान करें।''

''तुम्हारा विचार है कि वह अभी भी तुमसे सम्बन्ध बनाने के लिए तैयार हो जाएगा।''

मैंने इस विषय में विचार नहीं किया। मैं उनको, अपने साथ सम्बन्ध बनाने के लिए, कहने नहीं आई। मैं तो अपना सम्बन्ध उनसे बनाने के लिए आई हूँ। मैं मन्दिर में प्रतीक्षा करूँगी, कार्य करूँगी और अपने भाग्य की परीक्षा करूँगी।''

सखाराम खिलखिलाकर हँस पड़ा और कहने लगा, ''तो तुम उस पर वेश्याओं के-से कटाक्ष चलाकर उसको अपने अधीन करने का विचार रखती हो?''

''वे कटाक्ष उन पर असफल सिद्ध हो चुके हैं। उनके पुनः चलाने से क्या लाभ होगा? मैं एक और कला सीखकर आई हूँ। वह है त्याग और तपस्या की। इसमें हाव-भाव और कटाक्ष कुछ नहीं करते। इसमें मन का मन से सम्बन्ध बनता जाता है।''

"मुझको भय है कि कहीं वह तुमसे भयभीत हो भाग न जाए और हमारा दो लाख स्वर्ण, जो आज तक मन्दिर पर व्यय हो चुका है, व्यर्थ न चला जाए।"

"देखिए सेठजी! मैं कुछ भी ऐसा नहीं होने दूँगी। मुझको विश्वास है कि उनको भागने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। यदि उनको मेरे रहने से कुछ भी असुविधा हुई तो मैं स्वयं वहाँ से चली जाऊँगी।"

इस प्रकार सखाराम से पत्र लेकर वह गोविन्द से मिलने मन्दिर में पहुँच गई। नीलमणि के सरस्वती मन्दिर में पहुँचने के दूसरे दिन नीलाम्बरा और रुक्मिणी अपने काम पर मन्दिर में नहीं आईं। उस दिन घर में रुक्मिणी के विषय में परामर्श हो रहा था। रुक्मिणी अपने मन में निश्चय नहीं कर सकी थी कि उसके मन की अवस्था का क्या अर्थ निकलता है। जब गजानन के समझाने पर कि उसकी अवस्था में उसका गोविन्द से विवाह हितकर होगा, वह मान गई तो गोविन्द से बात करने के ढंग पर विचार होने लगा। इस प्रकार सबकुछ निश्चय होते-होते रात हो गई। नीलमणि के काशी और सरस्वती मन्दिर में पहुँचने के तीसरे दिन गजानन नीलाम्बरा और रुक्मिणी को साथ लिए हुए मन्दिर में पहुँचे। वे रुक्मिणी के विवाह के विषय में बात करने आए थे।

जब वे मन्दिर में पहुँचे, मन्दिर के प्रांगण में नीलमणि के दर्शन हुए। वह वहाँ खड़ी हुई स्नान के बाद अपने बाल सुखा रही थी। नीलाम्बरा ने उसको तुरन्त पहचान लिया। रुक्मिणी और गजानन को उसे पहचानने में समय लगा।

नीलाम्बरा उसको देख भौंचक्की हो खड़ी रह गई। उसे खड़ा देख गजानन और रुक्मिणी खड़े हो नीलाम्बरा को देखने लगे। इस पर नीलाम्बरा ने रुक्मिणी को कहा, "वह देखो, कौन है?"

"रुक्मिणी ने ध्यान से खुले केश वाली नीलमणि को प्रांगण के बीचोबीच खड़े देखा। गजानन भी उसको देखने लगा। दोनों ने एक ही समय पहचाना और दोनों के मुख से निकल गया, "यह यहाँ और फिर आज ही?"

तीनों के मन में अपने कार्य की सिद्धि में, जिसके लिए वे आए थे, सन्देह उत्पन्न हो गया। नीलमणि का ध्यान दूसरी ओर था।

गजानन इत्यादि नीलाम्बरा के आगार में चले गए। वहाँ उससे नृत्य सीखने के लिए आई कुछ शिष्याएँ बैठी थीं। उनको नीलाम्बरा ने छुट्टी दे दी। कह दिया आज शिक्षा नहीं होगी।

जब लड़कियाँ चली गईं तो तीनों बैठकर विचार करने लगे। नीलाम्बरा ने कहा, "काका! यह अपशकुन है। इसकी उपस्थिति में कार्य-सिद्धि असम्भव जान पड़ती है।"

इस पर रुक्मिणी ने कहा, "पिता जी! मैं चाहती हूँ कि इस विषय में आज

अन्तिम निर्णय हो जाना चाहिए। बात को बीच में लटकते रहने देना अनिष्टकारी हो सकता है।''

इतना विचार कर तीनों गोविन्द के आगार में जा पहुँचे।

गोविन्द से शिष्टाचार की बात कर गजानन ने अपने मन की बात करने के लिए कह दिया, ''मैं आज आपसे एक अत्यावश्यक विषय पर बात करने आया हूँ। जब आप पहली बार मुझको मिले थे, तब आपने काशी में आने का एक प्रयोजन बताया था। आपने कहा था कि आप रुक्मिणी को ढूँढ़कर उससे विवाह करने की इच्छा रखते हैं। इस विषय में आपका अब क्या विचार है?''

गोविन्द इस परिस्थिति में बहुत चिन्ता अनुभव करने लगा। उसने गम्भीर हो कहा, ''देखिए मिश्रजी! मैंने आते ही बहन नीलाम्बरा द्वारा अपनी इच्छा की सूचना रुक्मिणी तक पहुँचा दी थी। उस सूचना का उत्तर साढ़े चार वर्ष तक नहीं मिला। पहले रुक्मिणी के रहने का स्थान नहीं बताया गया। अब दो वर्ष से ऊपर इस मन्दिर में हमें इकट्ठे कार्य करते हो गए हैं और अभी भी मेरे सन्देश का उत्तर नहीं मिला। मुझको बहुत खेद से कहना पड़ता है कि दो दिन हुए मैंने किसी अन्य को विवाह करने का वचन दे दिया है। अब मैं विवश हूँ। मैं अपने मन की उत्कंठा को पूर्ण नहीं कर सकता।''

''आपका अभिप्राय नर्तकी नीलमणि से है क्या?''

''जी हाँ; वह परसों सेठ सखाराम का पत्र लेकर यहाँ आई थी। सेठजी ने लिखा है कि उसको इस मन्दिर में काम करने की स्वीकृति दी जाए। बातों-ही-बातों में उसने मेरे साथ अपने व्यवहार पर पश्चाताप प्रकट किया और फिर हमने निश्चय कर लिया कि हम विवाह करेंगे। कल मैंने उससे विवाह की तिथि भी निश्चय कर ली है। आगामी पूर्णिमा को हमारा विवाह होगा। ऐसी अवस्था में रुक्मिणी से विवाह न कर सकने का मुझे भारी खेद है।''

''आपके कहने का यह अर्थ प्रतीत होता है कि अब भी रुक्मिणी से विवाह करने पर आपको प्रसन्नता ही होती।''

''मैं ठीक बात नहीं कह सकता कि इस वचन के अभाव में मैं क्या करता। आज यह कहना अति कठिन है कि रुक्मिणी के, इतने काल के पश्चात् मेरे प्रस्ताव का उत्तर देने की क्या प्रतिक्रिया मेरे मन पर होती? अब बात दूसरी है। मुझको नीलमणि से सम्बन्ध बदलने में कोई कारण प्रतीत नहीं होता। अब विवाह की तिथि भी निश्चय हो चुकी है।''

रुक्मिणी उठ खड़ी हुई। उसके मुख का रंग उड़ गया था और उसके मस्तिष्क में निराशा के बवंडर उठने लगे थे। उसकी टाँगों में कम्पन और अस्थिरता उत्पन्न हो गई थी।

नीलाम्बरा भी उठ खड़ी हुई और दोनों गोविन्द के आगार से बाहर आ गईं। गजानन ने पीछे से आवाज दे दी, "तुम लोग घर चलो, मैं आता हूँ।"

गजानन वहाँ बैठा रहा। उसने कहा, "गोविन्दजी! यह बात रुक्मिणी के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। वह तीन वर्ष से यह आशा बाँधे हुए थी कि तुम उससे प्रस्ताव करोगे।"

"मिश्रजी! बात यह है कि मैं नर्तकी के घर पर रहता था। बहुत व्यक्ति ऐसे थे, जो यह संदेह करते थे कि मेरा नर्तकी से अनुचित सम्बन्ध है। यद्यपि मैं जानता हूँ कि मैं सर्वथा निर्दोष हूँ, तो भी यह मैं कैसे समझ सकता था कि रुक्मिणी भी मुझको ऐसा ही समझती है, जैसा मैं था?

"यह ठीक है कि रुक्मिणी से मेरा पुराना नेह है, परन्तु पिछले दो वर्ष से मन्दिर में रहते हुए, एक बार भी उसने यह प्रकट नहीं किया कि वह मुझको स्वच्छ, पवित्र मानती है। साथ ही नीलमणि बुरी नहीं है। जो कुछ उसमें दोष था, उसके लिए वह प्रायश्चित्त कर चुकी है।"

"तो अब कुछ नहीं हो सकता?"

"मुझको तो अपना भावी जीवन नीला से ही सम्बद्ध प्रतीत होता है।"

:: 6 ::

नीलाम्बरा के आगार से लौटती हुई विद्यार्थिनियों को नीलमणि ने देखा तो उसने उनसे पूछ लिया, "अभी तुम आई थीं और अभी जा भी रही हो?"

"हाँ! नृत्य सीखने आया करती हैं। अध्यापिकाजी ने आज छुट्टी दे दी है।"

"क्यों?"

"हम नहीं जानतीं। कदाचित् वे मन्दिर के प्रबन्ध के सम्बन्ध में व्यस्त हैं।"

नीलमणि ने कुछ विचार कर कहा, "यदि तुमको आपत्ति न हो तो आओ मैं कुछ बता देती हूँ।"

"तो आप भी नृत्य की शिक्षा देती हैं?"

"हाँ। मैं भी इसी काम के लिए नियुक्त हुई हूँ।"

एक लड़की ने कह दिया, "बिना अध्यक्ष महोदय की आज्ञा के हम किसी से शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकतीं।"

"तो आओ। अध्यक्ष महोदय से पूछ लें।"

इतना कह नीलमणि उन लड़कियों के साथ अध्यक्ष के आगार की ओर चल पड़ी। इस समय तक नीलाम्बरा इत्यादि अध्यक्ष के आगार में पहुँच चुकी

थीं और पुरोहित जी गोविन्द से बात करने लगे थे।

नीलमणि जब आगार के बाहर पहुँची तो भीतर बातचीत हो रही थी। उसके कान में विवाह का शब्द पड़ा तो वह द्वार के बाहर ही ठिठककर खड़ी हो गई। उसको सन्देह हो रहा था कि गोविन्द को उसके साथ विवाह करने से मना किया जा रहा है। उसके मन में यह भय समा गया था कि ये लोग उसके पूर्व जीवन से परिचित होने के कारण, उसके एक ब्राह्मण और सरस्वती के मन्दिर के अध्यक्ष के साथ विवाह को पसन्द नहीं करते।

वह ध्यान देकर और द्वार के साथ कान लगाकर उनकी बातें सुनने लगी। जो कुछ बात गजानन और गोविन्द के मध्य हुई, वह उसने सुन ली। जब नीलाम्बरा रुक्मिणी के साथ आगार के बाहर आने लगी तो वह द्वार से हटकर खड़ी हो गई। रुक्मिणी और नीलाम्बरा आगार से निकलीं और अपने मन के उद्गारों में लीन, बिना देखे कि वहाँ कौन खड़ा है, वहाँ से प्रांगण और फिर मन्दिर के बाहर निकल गईं।

नीलमणि नीलाम्बरा को पहचानती थी, रुक्मिणी को उसने पहले कभी नहीं देखा था। उसने उन लड़कियों से, जो अभी तक उसके समीप अध्यक्ष से मिलने के लिए खड़ी थी, पूछा, ''ये कौन हैं?''

''नृत्य तथा संगीत की अध्यापिकाएँ हैं?''

''संगीत की अध्यापिका का क्या नाम है?''

लड़कियों ने बताया, ''रुक्मिणी देवी वारांगल।''

''ओह!'' नीलमणि सब समझ गई। वह गम्भीर विचार में डूबी हुई अपने आगार में चली गई। वह अपने विचार में पुनः गम्भीर होकर विचार करने लगी। वह सोचती थी कि कहीं वह किसी दूसरे की वस्तु तो उठा नहीं ले जा रही?

दूसरी ओर गोविन्द भी उस दिन की बातों से अनिश्चित मन हो विचार करने लगा था। नीलमणि रुक्मिणी से अधिक सुन्दर थी। वह नृत्य और संगीत में भी पर्याप्त प्रवीण थी। इस पर भी उसके मन में अब फिर सन्देह होने लगा था कि वह एक निष्ठावान गृहिणी बनकर रह सकेगी क्या? उसका पूर्व जीवन उसके वचनों पर सन्देह उत्पन्न करने में सहायक हो रहा था।

गोविन्द को परिवार चलाना था। उसको गृहस्थ बन अपना जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत करना था। इसके लिए रुक्मिणी अधिक उपयुक्त प्रतीत होती थी। पिछले दिन जब उसने नीलमणि से विवाह की बात पक्की की थी, रुक्मिणी उसके सम्मुख नहीं थी। उसको विश्वास हो रहा था कि वह उससे घृणा करती है। आज, उसको बात सर्वथा विपरीत लगी थी। उसको बताया गया था कि

रुक्मिणी उससे प्रेम करती थी और उसके नर्तकी के कोठे पर जाकर रहने पर उसके मन में, उसके भ्रष्ट हो जाने का सन्देह उत्पन्न कर दिया था।

इस पर भी यह मन में विचार करता था कि उसने वचन दिया है और यह एक पुरुष का काम नहीं कि वचन भंग करे। इस वचन की बात ने उसके मन में उठ रहे रुक्मिणी के सम्बध के विचार समाप्त कर दिये। उसने यह विचार कर कि जो होना था सो हो गया, रुक्मिणी को मन से निकाल दिया और मन्दिर के कार्य में लग गया।

मध्याह्न के भोजन के पश्चात् नीलमणि उससे मिलने आई और इधर-उधर की बातें करते हुए पूछने लगी, ''आज आपसे प्रात:काल दो स्त्रियाँ मिलने आई थीं। वे कौन थीं?''

''क्यों? क्या बात है?'' गोविन्द ने सतर्क होकर पूछा।

''ऐसे ही पूछ रही हूँ। जब वे आई थीं तो उनके मुख खिले हुए थे और जाने के समय दोनों रोती हुई प्रतीत होती थीं।''

गोविन्द ने सबकुछ बता देना उचित समझ कहा, ''उनमें से एक रुक्मिणी थी। वही रुक्मिणी, जिसकी खोज में मैं यहाँ आया था।''

''ओह! तो आप उसको पा गए हैं? कहाँ थी वह इतने दिन तक?''

''यहीं थी। आरम्भ में तो वह मेरी सत्यता की परीक्षा कर रही थी। वह मुझको छिप-छिपकर देख रही थी। जब उसने देखा कि मैं तुम्हारे कोठे पर रहने लगा हूँ तो मुझको पतित समझ छोड़ बैठी थी। अब दो वर्ष से वह इसी मन्दिर में संगीत सिखाने का काम कर रही है और इस काल में मेरे चरित्र की परीक्षा कर मुझसे विवाह की बात करने आई थी। वह दो दिन देरी से पहुँची है। अब बात तुमसे हो चुकी है।''

''यदि मार्ग में मुझको दो दिन की देरी हो जाती, तो उस बेचारी का भला हो जाता न?''

''क्या होता, मैं कह नहीं सकता। मैंने वैसी परिस्थिति की कल्पना पर बहुत विचार किया है कि तब मैं क्या करता? मैं कुछ विचार नहीं कर सका। अन्त में यह समझ पाया हूँ कि कुछ भी हो, अब तो तुम्हारा मेरा वचन हो चुका है, वह टूट नहीं सकता।''

नीलमणि यह बात सुन गम्भीर विचार में पड़ गई। उसको इस प्रकार विचार-मग्न देख गोविन्द ने कहा, ''हमारा निश्चय है कि आगामी पूर्णिमा को हम विवाह-सूत्र में बँध जाएँगे।''

''पर मैं पूछती हूँ कि उस बेचारी का क्या होगा?''

''किसका क्या होगा?''

"रुक्मिणी का। वह आपसे विवाह करने के लिए आई थी और आपने अस्वीकार कर दिया है।"

"एक समय मैं उससे विवाह करने आया था और उसने निश्चय करने में देरी कर दी। अब मैं क्या कर सकता हूँ? तुम्हारे साथ बातचीत हो चुकी है।"

"जब एक लड़की विवाह की याचना करे तो कौन पुरुष होगा जो इन्कार करेगा? यह पौरुष नहीं है।"

"इस प्रकार तो एक सुन्दर पुरुष को बीसियों विवाह करने पड़ेंगे। मुझसे यह नहीं ही सकेगा।"

"बीसियों की बात मैं नहीं कर रही, एक की ही बात कह रही हूँ।"

"नहीं नीला! मैं ऐसा नहीं कर सकता। मैंने तुमको विवाह करने का वचन दिया है और मैं उसका पालन करूँगा।"

"मैं आपको वचन-मुक्त करती हूँ।"

"वचन तुमने माँगा था क्या? मैंने स्वेच्छा से दिया था। तुम केवल मेरी संगति चाहती थीं। मैंने ही यह शर्त लगाई थी कि पति-पत्नी बनकर रहें।"

"तो आप दो पत्नियाँ नहीं बना सकते क्या?"

"दो? नहीं; मैं चक्की के दो पाटों में पिसना नहीं चाहता।"

"आप क्या पिसेंगे? आप चक्की चलाएँगे और दो पाटों में गृहस्थरूपी पिसान बहुत बारीक पिसेगा।"

"नहीं-नहीं, नीला! नहीं; ऐसा नहीं हो सकेगा।"

नीलमणि चुप हो गई। उसके मन में आया कि वह यह प्रस्ताव किसी अन्य के विषय में कर रही है। वह नहीं जानती कि रुक्मिणी उसके साथ पति को बाँटकर भोग करना पसन्द करेगी अथवा नहीं। इस विचार पर उसके मन में आया कि यह प्रस्ताव रुक्मिणी के सामने रखना चाहिए। अब तक वह सहपत्नी बनना पसन्द न करे। तब तक यह प्रस्ताव गोविन्द के सामने रखना व्यर्थ है।

इस पर भी उसने एक बांत गोविन्द को कही, "देखिए जी! मैं यह समझती हूँ कि आप प्रेम तो रुक्मिणी से करते हैं। किसी कारण-विशेष से रुक्मिणी के विवाह के लिए तैयार होने में देरी हो गई और आप मुझसे वचनबद्ध हो गए। ऐसी अवस्था में मैं अनुभव करती हूँ कि आपने मुझको कामचलाऊ पत्नी बनाया है। मैं इसमें अपमानित हो गई अनुभव करती हूँ।"

"नहीं; नीला! यह बात नहीं। तुम उससे अधिक सुन्दर और शिक्षित हो। तुमको उस पर उपमा मिलनी चाहिए और यह मैं दे रहा हूँ।"

नीलमणि ने कुछ उत्तर नहीं दिया।

:: 7 ::

उसी सायंकाल नीलमणि पुरोहित जी के घर का पता पूछ वहाँ जा पहुँची। घर का द्वार खटखटाने पर दासी आई तो उसने कह दिया, ''रुक्मिणी देवी से मिलने आई हूँ।''

''क्या नाम बताऊँ?''

''एक अपरिचित स्त्री।''

''वे इतने परिचय से मिलना नहीं चाहेंगी। वे कुछ रुग्ण हैं।''

''तो उनसे कह दो कि उनके रोग की चिकित्सा बताने आई हूँ।''

''पूछती हूँ।'' इतना कह दासी भीतर चली गई। नीलमणि द्वार पर खड़ी प्रतीक्षा करती रही। वह अभी वहाँ ही खड़ी थी कि ऊदल और नीलाम्बरा रुक्मिणी के स्वास्थ्य के विषय में पता करने आ गए। वे दोनों नीलमणि को द्वार पर खड़े देख चकित रह गए। नीलमणि नीलाम्बरा को पहचान गई, इस कारण भूमि की ओर देखती खड़ी रही। उसे चुप देख नीलाम्बरा ने पूछ लिया, ''आप यहाँ क्या कर रही हैं?''

''रुक्मिणीजी से मिलने आई थी। दासी के हाथ सन्देश भेजा है।''

एक क्षण तक ऊदल और नीलाम्बरा उसके कहने का अर्थ समझते रहे। ऊदल ने पूछ लिया, ''क्या काम है आपका उनसे?''

''उनसे ही बताने का है।''

इस पर नीलाम्बरा ने कहा, ''तो आइए भीतर आ जाइए। यहाँ खड़ा रहना तो ठीक प्रतीत नहीं होता।''

''घर की स्वामिनी जब तक न कहे, कैसे भीतर जा सकती हूँ?''

''मैं उसकी ओर से आपको आमन्त्रित करती हूँ, आइए।''

इस पर ऊदल भी बोल उठा, ''आइए, आइए। रुक्मिणी इनकी बहन लगती हैं और ये मेरी पत्नी हैं।''

नीलमणि मुस्कराई और उनके साथ भीतर बैठक में चली गई। इस समय दासी आई और बोली, ''रुक्मिणी बहन कहती हैं कि उनका मन आज ठीक नहीं। आप कल आ सकें तो ठीक है।''

इस पर नीलाम्बरा ने कह दिया, ''आप बैठिए। मैं पूछकर बताती हूँ। कदाचित् वे नहीं जानतीं कि कौन आया है?''

नीलाम्बरा भीतर गई और शीघ्र ही लौट नीलमणि को भीतर ले गई। रुक्मिणी पलंग पर बैठी उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। नीलमणि को पलंग के सामने रखी चौकी पर बैठने को कह; नीलाम्बरा रुक्मिणी के समीप पलंग पर

ही बैठ गई। बातें नीलमणि ने आरम्भ की। उसने कहा, "मुझको बहुत खेद है कि तुम दौड़ में मुझसे पीछे रह गई हो। मैंने तुम्हारी पूर्ण कथा आज आचार्य जी से सुनी है। मैं वास्तव में अपने को इस योग्य नहीं मानती कि तुमसे प्रतिस्पर्धा करती और फिर तुमको पछाड़ती। यह जो कुछ हुआ है, एक घटना मात्र है। मैं इसका प्रतिकार कर तुम्हें उचित स्थान पर आसीन करना चाहती हूँ। परन्तु इसके लिए कोई मार्ग नहीं मिल रहा। मैंने समझा कि कदाचित् तुमसे विचार-विनिमय करने पर कोई मार्ग सूझ पड़े।"

"क्या होगा इससे?"

"यदि सुझाव मिल गया तो गोविन्दजी की पत्नी बन सकोगी।"

"मेरी अब इच्छा नहीं है। मैं विवाह नहीं करूँगी।"

"किसी से भी नहीं?"

"नहीं।"

"इसका अर्थ यह निकला है कि तुम गोविन्दजी से बहुत प्रेम करती हो।"

रुक्मिणी ने कुछ उत्तर नहीं दिया। इस पर भी उसकी आँखें डबडबा आईं। नीलाम्बरा और नीलमणि दोनों देख रही थीं। कुछ देर तक विचार कर नीलमणि ने कहा, "मैंने उनसे कहा है कि वे तुमसे विवाह कर लें। मैं उनको छोड़ने के लिए तैयार हूँ। वे अभी तक नहीं माने।

"मैं तुमसे मिलकर यह कहने आई हूँ कि यदि मैं यहाँ से भाग जाऊँ और उनको तुम्हारे लिए छोड़ दूँ तो तुम उनसे कैसा व्यवहार रखोगी ?"

"क्या मतलब है तुम्हारा इससे?" नीलाम्बरा ने स्पष्टीकरण के लिए पूछ लिया।

"अभिप्राय यह है कि मैं इसका स्थान लेना नहीं चाहती; परन्तु मेरे चले जाने पर यह अपना स्थान ले सकेगी ?"

"यह कैसे कहा जा सकता है?" नीलाम्बरा ने उत्तर देते हुए कहा, "विवाह एकपक्षीय क्रिया नहीं है। पति यदि पति बनना पसन्द न करे तो स्त्री पत्नी बन जाने पर भी क्या कर सकती है? मेरा अनुमान है कि गोविन्दजी तुम्हारे चले जाने पर रुक्मिणी से विवाह करना स्वीकार नहीं करेंगे।"

"क्यों? क्या वे इनसे प्रेम नहीं करते अथवा ये उनसे प्रेम नहीं करतीं? जब दोनों परस्पर प्रेम करते हैं और इसका प्रमाण तो है ही। मेरे चले जाने से इनको अपना स्थान ले ही लेना चाहिए।"

"नहीं;" रुक्मिणी ने बीच में बात काटते हुए कहा, "जो भाग्य में लिखा है, उसको कोई टाल नहीं सकता। यदि विवाह होना होता तो आज से चार वर्ष

पूर्व हो चुका होता। मेरा विवाह ही नहीं बधा। यही कारण है कि ठीक समय पर कोई-न-कोई बाधा बन जाती है।''

''भाग्य किसने देखा है। यही तो भाग्य की विषमता है। यदि सबको अपना-अपना भाग्य पहले ही विदित हो जाता, तो कोई पुरुषार्थ न करता। देखो रुक्मिणी! मैंने संसार का भोग जी भरकर किया है। मैं चली जाऊँगी तो मेरे साथ कुछ विशेष बात नहीं होगी। इस पर भी मैं आश्वासन चाहती हूँ कि तुम उनसे विवाह कर लोगी, और उनको सुखी रखोगी।''

''मुझसे यह नहीं हो सकेगा। जीवन-भर मैं यही अनुभव करती रहूँगी कि मैंने किसी को उसके उचित अधिकार से वंचित किया है। इसकी स्मृति से मेरा जीवन नीरस हो जाएगा और मेरी आत्मा मुझको सदा कोसती रहेगी।

''तो तुम मुझको उनकी पत्नी बनने की अधिकारिणी मानती हो?

''यह मेरे मानने की बात नहीं है। यह तो वर्तमान परिस्थिति सिद्ध कर रही है। इसी प्रकार उनको तुम जैसी सुन्दर स्त्री को पत्नी बनाने से वंचित कर देने पर वे मुझको कभी क्षमा नहीं करेंगे।''

''नहीं नीलमणि! तुम जीतीं मैं हारी। मैंने अपने हारने पर सन्तोष कर लिया है। अब मुझको प्रलोभनों में मत डालो। जाओ, उनको सुखी रखने का यत्न करो। मैं तुम्हारी बहुत अनुगृहीत हूँगी।''

नीलमणि मन की इस भावना से गम्भीर हो गई। वह नहीं समझ सकी कि किस प्रकार इसको अपने प्रस्ताव पर राजी करे। जब समझ नहीं सकी तो उठकर नीलाम्बरा की ओर देखकर बोली, ''मैं समझती हूँ कि अभी भी हम दोनों भटक रही हैं। दोनों को कोई मार्ग नहीं मिल रहा। इस कारण यदि आपत्ति न हो तो फिर मिलने आऊँ?''

''कोई मार्ग हो भी सकता है क्या?'' नीलाम्बरा का प्रश्न था।

इस पर नीलमणि पुनः चौकी पर बैठ गई और कहने लगी, ''एक मार्ग मुझको सूझा है। यदि रुक्मिणी बहन मान जाएँ तो उसकी पूर्ति के लिए यत्न किया जा सकता है।''

''क्या?'' नीलाम्बरा ने उसकी आँखों में देखते हुए पूछा।

''देखिए, यदि ना-पसन्द हो तो किसी से कहिएगा नहीं। और यदि इसमें रुचि हो तो पहले मुझको बता दीजिएगा। कारण यह है कि इस प्रस्ताव में एक तीसरा व्यक्ति भी है और उसकी स्वीकृति भी आवश्यक है।''

''हम दोनों सह-पत्नी बन जाएँ तो कैसा रहे? दोनों का एक ही समय में विवाह हो जाए तो ऊँच-नीच का प्रश्न नहीं रहेगा। मैं वचन देती हूँ कि इनके अधिकार अपने से अधिक मानूँगी।''

रुक्मिणी ने गम्भीर भाव बनाते हुए कहा, ''यह सब कोरी कल्पना है। वास्तव में मेरी हँसी उड़ाने के लिए यह प्रस्ताव किया जा रहा है।'' नीलमणि ने अब पुनः चौकी पर से उठते हुए कहा, ''इस प्रकार जल्दी में कुछ भी निर्णय करने की आवश्यकता नहीं। मैं कल फिर आऊँगी और इस योजना पर पुनः विचार करूँगी। तब तक इसको तुम दोनों अपने मन में रखना।''

रुक्मिणी और गोविन्द को अपनी योजना पर तैयार करने के लिए नीलमणि को अपनी पूर्ण चतुराई का प्रयोग करना पड़ा। जब दोनों मान गए तो फिर गजानन, विरोचन और उसकी माता को मनाने के लिए यत्न करना पड़ा।

इस प्रकार पूर्णिमा के दिन गोविन्द प्रिय का दो पत्नियों से विवाह हो गया और यह विवाह काशी-भर के लोगों में चर्चा का विषय बन गया।

छह

जनसाधारण पसन्द और ना-पसन्द की दोनों बातें, समय पाकर जीर्ण हो जाती हैं और जनता के मस्तिष्क से निकल जाती हैं। यही अन्त गोविन्द के दो पत्नियों से एक ही रात विवाह की बात का हुआ। बहुत चर्चा हुई, परन्तु सब फेन की भाँति समाप्त हो गई और गोविन्द काशी के सरस्वती मन्दिर का आचार्य दो पत्नियों के साथ और उनसे हो रहे बाल-बच्चों के साथ सुख-सुविधायुक्त और आनन्दमय जीवन व्यतीत करता रहा।

रुक्मिणी का प्रथम पुत्र नारायण, सब प्रकार से सबल और स्वरूपवान अब पाँच वर्ष का हो गया था। वह मन्दिर में बहुत ऊधम मचाता रहता था। गोविन्द को यह लड़का अति प्रिय था और वह अभी से इसकी शिक्षा का प्रबन्ध कर रहा था।

अष्टाध्यायी में से महेश्वर के सूत्र वह अभी से कण्ठस्थ कर रहा था। रुक्मिणी को पति के मन में इस बालक के लिए अन्य सबसे अधिक स्नेह देख अति दुःख होता था। वह देखती थी कि गोविन्द नीलमणि के बड़े लड़के निरंजन पर विशेष ध्यान नहीं दे रहा। अतः वह उससे प्रायः कहा करती थी, ''देखिए, निरंजन की ओर आप उचित ध्यान नहीं देते। इस कारण उसका मन पढ़ने-लिखने में नहीं लगता।''

''तो तुम उस पर अधिक ध्यान दिया करो। वह कोई पराया तो है नहीं।''

रुक्मिणी समझ गई और इसके बाद वह नीलमणि के बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध स्वयं करने लगी।

नारायण जहाँ लड़ाई-झगड़े में निरंजन को पछाड़ देता था, वहाँ निरंजन पढ़ाई में उससे आगे निकल गया। नारायण वाद्य-यन्त्रों के पीछे पड़ा रहता था, परन्तु निरंजन स्वर-साधन में लगा रहता था।

एक दिन नारायण और निरंजन घर पर बैठे परस्पर प्रतिस्पर्धा कर रहे थे। दोनों के हाथ में पाटी थी और नीलमणि ने दोनों को करने के लिए गणित का प्रश्न दिया हुआ था। नारायण अभी उत्तर निकाल ही रहा था कि निरंजन ने प्रश्न समाप्त कर पाटी पर सरस्वती देवी का चित्र बनाना आरम्भ कर दिया। इस

समय रुक्मिणी वहाँ आ गई। वह दोनों बालकों के पीछे खड़ी हो देखने लगी कि वे क्या कर रहे हैं? नारायण अभी भी उँगलियों पर गिनती कर प्रश्न का उत्तर निकाल रहा था। निरंजन सरस्वती के हाथ में वीणा बना रहा था।

रुक्मिणी ने आवाज़ देकर पूछा, ''क्या कर रहे हो, निरंजन?''

''भगवती सरस्वती का चित्र बना रहा हूँ।''

''प्रश्न क्यों नहीं कर रहे?''

''वह तो मैं कभी का कर चुका हूँ।''

''तो दिखाते क्यों नहीं?''

''नारायण भैया ने तो अभी किया नहीं। हम साथ-साथ दिखाएँगे।''

''ओह! तो तुमको अपनी योग्यता प्रकट करने की आवश्यकता नहीं?''

''हम एक समान हैं—साथ-साथ चलेंगे।''

इस पर रुक्मिणी ने कहा, ''पर तुम चित्र बनाने में तो आगे निकल ही गए हो।''

निरंजन ने चित्र पर स्याही पोतकर कहा, ''अब इसमें भी साथ हो गया हूँ।''

इस समय नारायण ने भी प्रश्न समाप्त कर लिया और नीलमणि को दिखा दिया। वह गलत था। दो, तीन और पाँच का जोड़ नौ किया गया था। निरंजन की पाटी देखी गई तो उस पर जोड़ ठीक था।

''देखो नारायण! तुमने इतना समय भी लगाया और फिर भी गलत किया?''

''उत्तर निकाल तो लिया है बड़ी माँ!''

रुक्मिणी हँस पड़ी। उसने हँसकर कहा, ''तुम तो मृदंग ही बजाया करोगे। यह गणित-वणित तुम्हारे वश की बात नहीं है।''

''तो मैं मृदंग बजाऊँगा।'' नारायण ने कूदते हुए कहा।

इस समय गृह के नीचे से किसी का 'नारायण हरि' कहने का शब्द सुनाई दिया।

नारायण ने अपनी पाटी भूमि पर फेंकी और कहने लगा, ''बड़ी माँ! एक साधु भिक्षा माँग रहा है।''

''तो उसे कहो, ठहरे।''

निरंजन ने दो छलाँग लगाईं और खिड़की में से मुख निकाल कह दिया, ''स्वामी जी! ठहरिए।''

रुक्मिणी के उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना नारायण सीढ़ियाँ उतर गया और स्वामी जी को बोला, ''महाराज! पधारिए। छोटी माँ भोजन ला रही हैं।''

साधु घर में आ गया। नारायण उसको बैठक में ले गया और एक ओर चटाई बिछाकर बोला, ''आप बैठिए। मैं हाथ धोने के लिए जल लाता हूँ।''

नारायण प्रांगण में जल लेने के लिए चला गया। साधु पालथी मारकर चटाई पर बैठ गया।

नीलमणि ने रुक्मिणी को कहा, ''थाल में भोजन, तस्मै, शाक-भाजी परस कर ले जाओ।''

नीचे से नारायण की आवाज आई, ''छोटी माँ! मैंने महाराज के हाथ धुला दिए हैं।''

रुक्मिणी ने एक बड़ी आयु के पुरुष के लिए भोजन थाली में परस लिया और उसको उठकर नीचे चली गई। निरंजन भागकर मन्दिर में चला गया। उसको अपने पिता के गाने की आवाज आने लगी थी।

रुक्मिणी को खाना ले गए अभी आधी घड़ी भी नहीं हुई थी कि नारायण भागता हुआ ऊपर आया और नीलमणि से धीरे से बोला, ''बड़ी माँ! छोटी माँ स्वामी जी के चरण-स्पर्श कर रो रही हैं।''

''सत्य? और स्वामी जी क्या कह रहे हैं?''

''कह रहे हैं बेटी! में तुमसे नाराज नहीं हूँ।'' मैंने पूछा, 'माँ, ये कौन हैं?' तो कहने लगीं, 'ये तुम्हारे बाबा हैं।'

''बाबा! तो जाओ छोटी माँ से पूछो, पिता जी को बुला लाऊँ?''

''सावनी बुलाने गई है।''

''तो तुम यहाँ किसलिए आए हो?''

''आपको बुलाने। छोटी माँ ने बुलाया है।''

''और किस-किसको बुलाया है!''

''निर्मल, नीति को भी बुलाया है।''

''तो जाओ, उनको भी बुला लाओ। हाँ, और देखो। साथ ही निरंजन और मधु को भी साथ बुला लाना।''

इस प्रकार पूर्ण परिवार पलक की झपक में एकत्रित हो गया। स्वामी जी रमणाचार्य ही थे। रमणाचार्य चटाई पर चौकी लगाए बैठे थे और सामने परोसा भोजन रखा था। गोविन्द तरल आँखों से सामने बैठा था। उसके पीछे रुक्मिणी और नीलमणि थीं। गोविन्द के पाँच बच्चे अपनी-अपनी माँ के पास बैठे थे।

गोविन्द ने अपनी पूर्ण कथा बता दी और अपनी पत्नियों और बच्चों का परिचय दे दिया। इस पर रमणाचार्य ने भी अपना वृत्तान्त सुना दिया। उन्होंने बताया, ''मैंने तिरुचिरापल्ली में महाराज त्रिभुवन कीर्ति के समक्ष उपस्थित हो अपना निवेदन कर दिया था। मेरा कहना था कि उत्तरी भारत में धर्मविकृत हो

गया है। वहाँ बौद्ध और जैन मतों के प्रभाव से श्रुति-धर्म में विकार आ गया है। अतः धर्म की रक्षा के लिए कोई उपाय किया जाए।

"इस पर महाराज ने आज्ञा दे दी कि कांची के पण्डितों को इस प्रश्न पर व्यवस्था देने के लिए बुला लिया जाए। महाराज का निमन्त्रण कांची पहुँचा। उस धर्मसभा के बुलाने में डेढ़ वर्ष से ऊपर लग गया। उस समय तक स्वामी शंकराचार्य जी की ख्याति दक्षिण में पहुँच चुकी थी। श्री स्वामी जी का वक्तव्य जो उन्होंने कुमारिल भट्ट जी की देह त्यागने के समय दिया था और उनके परम प्रिय शिष्य प्रभाकराचार्यजी के साथ शास्त्रार्थ में दिये गए प्रवचन की गूँज कांची में पहुँच चुकी थी। अतः जब धर्म-सभा का निश्चय हुआ तो महाराज की ओर से स्वामी जी को भी उसमें उपस्थित होने का निमन्त्रण भेज दिया गया। स्वामी जी आए तो कोई उनसे तर्क नहीं कर सका। स्वामी जी के तेज के सम्मुख किसी की आँखें ठहर नहीं सकीं। उनकी व्यवस्था ही मान्य रही।

"चिदम्बरम् में मेरे पहुँचने से पूर्व ही स्वामी जी की विजय का समाचार पहुँच चुका था और दो देवदासियाँ गायत्री और भागीरथी मेरी प्रतीक्षा किए बिना विवाह कर चुकी थीं। फिर वे मन्दिर में कभी आतीं और कीर्तन कर चली जाती थीं। इस पर भी लोग अपनी लड़कियों को लाते और देवदासी बनाने के लिए दे जाते।

"इस समय स्वामी जी चिदम्बरम् में आकर ठहर गए। उनके आने पर मेरी उनसे बातचीत हुई और मुझको उन्होंने संन्यास लेने के लिए तैयार कर लिया। मैं माधव को मन्दिर का प्रबन्ध देकर संन्यास ले स्वामी जी के साथ हो लिया।

"अब मैं बद्रिकाश्रम से लौट रहा हूँ। स्वामी जी वहाँ पहुँच देशव्यापी प्रचार और धार्मिक संगठन का कार्य करने में संलग्न हैं। उनके सैकड़ों शिष्य भारतवर्ष के कोने-कोने में उनका संदेश पहुँचा रहे हैं। मैं भी उनमें से एक हूँ।"

"स्वामी जी ने चार मठ स्थापित कर दिये हैं। एक कांची में, दूसरा पुरी में, तीसरा द्वारिका में और चौथा बद्रिकाश्रम में। भारत के चार भाग कर प्रत्येक भाग में कार्य के लिए इन मठों के अधीन चार संगठन बनाए गए थे। मुझको आज्ञा मिली है कि मैं दक्षिण में कांची के आचार्य के अधीन रहकर कार्य करूँ। मैं उधर ही जा रहा हूँ।"

:: 2 ::

स्वामी रमणजी के काशी में आने की धूम मच गई। मन्दिर में उनके संगीत-समारोह होने लगे और काशिराज से लेकर एक साधारण-से-साधारण संगीत-प्रेमी को रमणजी के कीर्तन सुनने का अवसर मिलने लगा।

एक मास तक स्वामी रमणजी काशी में रहे और एक मास पर्यन्त सरस्वती मन्दिर के दर्शकों और श्रोतागणों का ताँता बँधा रहा। स्वामी जी प्रातःकाल ब्रह्म मुहूर्त्त में अपना पूजन आरम्भ करते थे और मन्दिर के बाहर प्रांगण में श्रोतागणों की भीड़ लग जाया करती थी।

सायंकाल प्रांगण में एक मंच पर बैठ वे संगीत तथा नृत्य करते और कराते थे और काशी के संगीत-प्रेमी वहाँ घण्टों बैठ यह देखा करते थे। जब वे विदा होने लगे तो काशीराज ने उनको काशी की धर्मसभा में सम्मानित किया और उनके दीर्घ जीवन के लिए भगवान् से प्रार्थना की, जिससे वे देश और राष्ट्र के कल्याण के लिए कार्य कर सकें।

जब तक स्वामी रमणजी काशी में रहे, विरोचन उनके सम्पर्क में आता रहा। वह उनसे स्वामी शंकराचार्य के विषय में जानकारी प्राप्त करता रहता था। उसको रमणजी की बातों से यह प्रतीत हुआ था कि स्वामी जी का स्वास्थ्य बिगड़ रहा है। वे बद्रिकाश्रम के मठ में ठहरे हुए हैं। उनकी प्रबल इच्छा है कि एक बार पुनः भारत-भर का भ्रमण करें। वे एक ओर अपने बनाए संगठन के कार्य को अपनी आँखों से देखना चाहते हैं और दूसरी ओर वे पुनः देश की जनता की मानसिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, परन्तु स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण विवश हैं। अब वे भ्रमण के कष्ट को सहन नहीं कर सकते।

यह समाचार विरोचन के लिए अति चिन्ताजनक था। वह इसका कोई उपाय करना चाहता था। एक दिन उसने अपने पिता से कहा, ''पिता जी! मेरा मन कहता है कि हमको बद्रिकाश्रम की यात्रा के लिए जाना चाहिए।''

''क्यों?''

''श्री स्वामी शंकराचार्य जी वहाँ रुग्ण पड़े हैं।''

''तो तुम क्या करोगे?''

''पिता जी! मैं चलूँगा तो आप भी चलेंगे और आप वैद्य तो हैं ही। उनके जीवन की रक्षा के लिए कुछ करना ही चाहिए।''

''विरोचन! स्वामी जी का जीवन इतने कम मूल्य का नहीं कि मेरे-जैसे साधारण कोटि के वैद्य की रक्षा में वह दे दिया जाए।''

''पिता जी! आप उनको जाकर यहाँ लिवा लाइए। मैं तो उनकी सेवा-शुश्रूषा के लिए आपके साथ जाना चाहता हूँ।''

''इसके लिए तुमसे अधिक योग्य लोग वहाँ होंगे।''

''इस पर भी मैं जाना चाहता हूँ।''

''तो सब चलेंगे।'' वास्तव में गजानन को सदा सन्देह बना रहता था कि विरोचन कहीं संन्यास न ले ले। इस कारण वह स्वयं, विरोचन की माता और

माया भी बद्रिकाश्रम को जाने के लिए तैयार हो गए।

माया के साथ जाने में विरोचन को आपत्ति थी। उसके चार बच्चे थे। उसने माया को कहा भी कि वह न जाए। कोई बच्चा रुग्ण हो गया तो क्या होगा?

इस पर भी माया हठ करती रही।

माया के मन में भी वही सन्देह था, जो गजानन के मन में था। उसने अपनी सास से कहा तो बात खुल गई। इस पर विरोचन ने चिढ़कर कहा, "तो क्या आर्य घरों की स्त्रियाँ अब हमारे वर्णाश्रम धर्म को पालन करने में भी बाधा बनने लगी हैं?"

"तो क्या तुम्हारी अवस्था संन्यास लेने की हो गई है ?" माँ का प्रश्न था।

"मैं समझता हूँ, मैंने अपने गृहस्थ का पालन कर लिया है। माया के चार बच्चे हो चुके हैं और कितने चाहिए?"

इस युक्ति को सुनकर गजानन चिन्ता में अपने लड़के का मुख देखने लगा। विरोचन की माँ ने कहा, "यह बात नहीं विरोचन! तुम गाड़ी को घोड़े के आगे लगाने का यत्न कर रहे हो। यदि तुम्हारे पिता संन्यास लें तो मैं तुम्हारे लिए घर पर रह सकती हूँ, परन्तु तुम्हारे घर से चले जाने पर मैं किसके लिए घर पर रहूँगी।"

गजानन यह अयुक्तियुक्त बात सुनकर हँसने लगा। विरोचन इससे गम्भीर हो गया। वह माँ की बात में तथ्य समझता था। इस पर भी वह यह नहीं चाहता था कि वह अपने पिता को संन्यास लेने के लिए कहे। इसके साथ ही उसकी अन्तरात्मा कहती थी कि उसके पिता श्री स्वामी जी महाराज का स्थान ग्रहण नहीं कर सकते और वह युवा होने के कारण स्वामी जी का स्थानापन्न होने का अधिक सफलता से यत्न कर सकता है। इस पर भी वह न अपने पिता जी से कह सकता था कि वे संन्यास लें और न ही वह उनको यह कह सका कि वे घर पर उसके बच्चों के पालन-पोषण के लिए बैठे रहें।

हँस चुकने पर गजानन ने कह दिया, "देखो भाग्यवान्! यद्यपि तुम्हारी युक्ति विरोचन को जाने से रोकने में सफल होती दिखाई नहीं देती, इस पर भी उसने मुझको सुझाव दे दिया है कि मुझको अब यहाँ से चलना चाहिए। तो सब चलो। मैं वहाँ स्वामी शंकराचार्य जी से ही दीक्षा लेने का यत्न करूँगा।"

विरोचन की माँ ने कह दिया, "ठीक है। विरोचन के पिता अब लोकसेवा के लिए जाएँ, तभी विरोचन घर-गृहस्थी का उत्तरदायित्व अपने कन्धे पर समझने लगेगा।"

:: 3 ::

बद्रिकाश्रम से कुछ ही दूर एक तप्त जल के कुण्ड के किनारे पर श्री स्वामी शंकराचार्य जी ने अपनी माता आर्यम्बा की पुण्य-स्मृति में बद्रीनारायण का मन्दिर बनवाने का विचार किया था। अपने क्षीण हो रहे स्वास्थ्य में भी उस मन्दिर को बनवाने के लिए वे वहाँ टिके रहे।

माता आर्यम्बा मरते समय बहुत से भूषण और परिवार की अन्य मूल्यवान वस्तुएँ शंकराचार्य जी के हाथ में दे गई थीं। आचार्य जी उस समय तक संन्यास ले चुके थे और बीमार माता की सेवा के लिए कालटी गए हुए थे।

माँ को यह सबकुछ देते देख उन्होंने पूछा, ''माँ! मैं इसको लेकर क्या करूँगा?''

''बेटा! किसी पुण्य-कार्य में लगा देना।''

यह सब धन था, जो स्वामी जी ने मन्दिर पर व्यय किया था। जब मन्दिर बन गया तो दक्षिण से मूर्तिकार बुलाकर भगवान् विष्णु की मूर्ति बनवाई और उसके स्थापना-समारोह का आयोजन कर दिया। मूर्ति की प्रतिष्ठा के समारोह का समाचार भारत-भर में फैल गया और इसमें सम्मिलित होने के लिए भारत के कोने-कोने से लक्ष-लक्ष नर-नारी एकत्रित होने लगे। मन्दिर का उद्घाटन वैशाख पूर्णिमा को होने वाला था और लोग उससे कई दिन पहले ही एकत्रित होने आरम्भ हो गए।

नियत दिन सूर्योदय के समय मन्दिर का उद्घाटन और मूर्ति की प्रतिष्ठा श्री स्वामी जी ने अपने हाथ से की। जब मन्दिर का द्वार खुला तो अपार भीड़ मन्दिर में प्रवेश कर मूर्ति का दर्शन करने तथा पुष्प-पत्र और धन चढ़ाने के लिए पहुँच गई।

उसी सायंकाल देवता की आरती के बाद स्वामी जी ने कोटि-कोटि एकत्रित जनता को उपदेश दिया। मन्दिर की सीढ़ियों से लेकर मन्दाकिनी के तट तक बैठी जनता से उनका कहना था, ''भारतीयो! आज पूर्ण भारत के भिन्न-भिन्न कोनों से भगवान् की प्रतिष्ठा देखने के लिए लाखों लोगों को एकत्रित देख मेरा हृदय अपार आनन्द से भर रहा है। मुझको विश्वास हो रहा है कि देश में बौद्धमत के प्रचार से देश, धर्म, राष्ट्र के प्रति जो उदासीनता उत्पन्न हो गई थी, वह अब मिट रही है। आप सब लोग पुनः एक धर्म-ध्वज के नीचे एकत्रित हो, भारतीय राष्ट्र और मानव-कल्याण करने के लिए कटिबद्ध हो गए हैं।

''भगवान् आप सबका भला करे और आपको सुमति दे, जिससे आप

मत-मतान्तरों के झगड़ों को मिटाकर भारत में एक राष्ट्र के निर्माण में सहायक हों।

"यह ध्रुव सत्य है कि मानव मात्र एक हैं। सब परमात्मा का स्वरूप हैं। इस कारण परस्पर द्वेष, अयुक्ति-संगत व्यवहार और हिंसात्मक प्रवृत्ति अवांछनीय है। हमें धर्म और समाज के नियमों का पालन करना है। जो इनका पालन नहीं करते, उनसे पालन कराना है। प्रेम से प्रेरणा देना अथवा ताड़ना और दण्ड देना, दोनों का उद्देश्य मध्य-जीवन का परम ध्येय मोक्ष-प्राप्ति ही होनी चाहिए।"

इस प्रवचन के बाद स्वामी जी ने अपने झोले में से एक शंख निकाल बजा दिया। अन्त में उन्होंने कहा, "जिस-जिसके कान में यह शंख-ध्वनि पहुँची है, वह मेरे इस उपदेश को भारत के कोने-कोने तक ले जाने वाला सिद्ध हो।"

उद्घाटन-उत्सव समाप्त हुआ। स्वामी जी वहाँ से चलकर जोशीमठ पहुँच गए। वहाँ वे कुछ दिन तक विश्राम करना चाहते थे। वहाँ उन्होंने पाँच मठों के आचार्यों को आगामी कार्य के विषय में परामर्श करने के लिए बुलाया हुआ था।

इन आचार्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य विशिष्टजन भी उपस्थित थे। इनमें गजानन, विरोचन, ऊदल इत्यादि काशी से आए हुए लोग भी थे।

गजानन इत्यादि मन्दिर के उद्घाटन-समारोह में सम्मिलित हुए थे। वहाँ वे स्वामी जी से मिले थे और उन्होंने इनको कहा था कि वहाँ के समारोह के बाद वे जोशी मठ में पहुँच जावें। ये सब लोग वहाँ तब तक रहे, जब तक स्वामी जी आचार्यों से विचार--विनिमय करते रहे। इसमें कई दिन लग गए। विचार समाप्त पर गजानन ने स्वामी जी के चरणों में उपस्थित हो संन्यास लेने की आज्ञा माँगी। स्वीकृति मिली और स्वामी जी ने अपने करकमलों से उनको दीक्षा देनी स्वीकार कर ली।

स्वामी जी ने विरोचन से पूछ लिया, "युवक, तुम किसलिए आए हो?"

"मैं बालक की भाँति छूटती सम्पत्ति को अन्तिम क्षण तक देखते रहने की लालसा से साथ चला आया हूँ।"

इस पर उन्होंने ऊदल से पूछ लिया, "और तुम सुनाओ। तुम्हारी पत्नी कैसी है?"

"ठीक है, महाराज! आपकी कृपा से बहुत प्रसन्न और सन्तुष्ट है।"

"वह साथ नहीं आई?"

"वह बच्चों के पालन-पोषण में और वहाँ की युवतियों को संगीत-नृत्य सिखाने में लगी हुई है। वह महाराज को करबद्ध नमस्कार कहती थी। चाहती है कि इस छोटे-से जीवन का एक-एक क्षण अपने परम उद्देश्य की पूर्ति में व्यय

कर सके। इस कारण वह नहीं आ सकी।''

''धन्य है वह! भगवान् उसको अपने उद्देश्य में सफल करे।''

स्वामी जी ने गजानन को भगवा बाना दे दिया और उसको भी आचार्यों की मण्डली में सम्मिलित कर लिया। विरोचन और ऊदल उस रात वहीं रहे। अगले दिन सब आचार्य अपने-अपने मठ के लिए प्रस्थान कर गए। गजानन, जिसका नाम अब आत्मानन्द हो गया था, को द्वारिका जाने की आज्ञा हो गई। अभी उसको वहाँ के मठाधीश के अधीन काम करने के लिए आज्ञा दी गई।

जब आत्मानन्द अपने अध्यक्ष के साथ मठ से जाने लगा, तो विरोचन, उसकी माँ, माया और ऊदल भी उसके साथ-साथ चल पड़े।

विरोचन ने पूछा, ''महाराज! आप किस ओर जा रहे हैं?''

''मुझको इस महान् संगठनकर्त्ता की आज्ञा हुई है कि मैं द्वारिका में जाकर उनका संदेश जनसाधारण तक पहुँचाऊँ।''

''स्वामी जी स्वयं कहाँ रहेंगे?''

''वे केदारनाथ की यात्रा के लिए जा रहे हैं। उनके रुग्ण शरीर की अवस्था उनको इस कठोर यात्रा पर जाने से मना कर रही है, परन्तु वे समझ रहे हैं कि उनका जीवन-कार्य समाप्त हो गया है। जो संगठन वे बनाना चाहते थे, वह बन चुका है। शेष कार्य देश के विद्वानों के हाथ में देकर वे अपना जीवन तपस्या में लगाना चाहते हैं।''

विरोचनादि कुछ दूर तक स्वामी आत्मानन्दजी के साथ गए और फिर लौट आए। उनके मन में यह बात बार-बार उठ रही थी कि इसके बाद वे न तो स्वामी शंकराचार्य जी के और न ही आत्मानन्दजी के दर्शन कर सकेंगे।



श्री गुरुदत्त के सर्वाधिक चर्चित उपन्यास

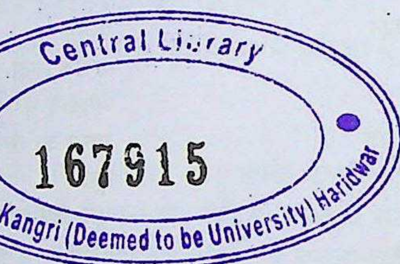
स्वाधीनता के पथ पर (स्वाधीनता आन्दोलन 1930 से 35 का काल)
पथिक (स्वाधीनता आन्दोलन 1935 से 40 का काल)
स्वराज्यदान (स्वाधीनता आन्दोलन 1940 से 46 का काल)
विश्वासघात (स्वाधीनता आन्दोलन 1946 से 47 का काल)
देश की हत्या (स्वाधीनता आन्दोलन 1947 से 48 का काल)
दासता के नए रुप (1948 से 49 का काल)
सदावत्सले मातृभूमे (1949-.... का काल

श्री गुरुदत्त की समाजिक रचनाएं

अमानत
अनदेखे बन्धन
आवरण
अन्तरिक्ष में
आकाश पाताल
इबलीस
कला
घर की बात
आशा निराशा
अपने पराए
कामना
गुंठन
चंचरीक
ज़िन्दगी
जीवन ज्वार
न्यायाधिकरण
नए विचार नई बातें
नगर परिमोहन
नास्तिक
पंकज
परिमल
परिवर्तन
पड़ोसी
प्रवंचना
प्रतिशोध
प्रारब्ध और पुरुषार्थ
प्रेयसी
बन्धन शादी का
भगवान भरोसे
भाग्य का सम्बल
भूल
भूत और भविष्य
ममता
मायाजाल
मै न मानूँ
यह संसार
यात्रा का अंत
लालसा
विकार
विलोम गति
विकृत छाया
स्वार्थ
सब एक रंग
सभ्यता की ओर
स्नेह का मूल्य
संस्कार
सफलता के चरण
सर्वमंगला
साहित्यकार
सुमति

श्री गुरुदत्त की ऐतिहासिक पुस्तकें

परित्राणाय साधूनाम (महाभारत पर आधारित सम्पूर्ण उपन्यास)
वैशाली विलय (बहती रेता)
अस्ताचल की ओर (3 भाग)
खण्डहर बोल रहे हैं (3 भाग)
अमृत मन्थन (राम कथा-1)
परम्परा (राम कथा-2)
अग्नि परीक्षा (राम कथा-3)
जमाना बदल गया (4 भाग)
दो लहरों की टक्कर (2 भाग)
विक्रमादित्य साहसांक
युद्ध और शान्ति
कुमकुम
पत्रलता
दिग्विजय
वाम मार्ग
लुढ़कते पत्थर
गंगा की धारा
सागर तरंग
मेघवाहन
भैरवी चक्र
महाकाल
अवतरण



श्री गुरुदत्त की राजनीतिक रचनाएं

वर्तमान दुर्व्यवस्था का समाधान ..... हिन्दू राष्ट्र
राष्ट्र राज्य और संविधान
हिन्दुत्व की यात्रा
धर्म संस्कृति और राज्य
मनुष्य और समाज
भारत में राष्ट्र
भगनाश
प्रजातंत्र अथवा वर्णाश्रम व्यवस्था
भारत गांधी नेहरू की छाया में
धर्म तथा समाजवाद
बुद्धि बनाम बहुमत
स्व अस्तित्व की रक्षा (2 भाग)
मैं हिन्दू हूँ (राजनैतिक संस्मरण)
भाव और भावना (संस्मरण)
भाग्यचक्र (संस्मरण)



www.hindisahityasadan.com
E-mail: indiabooks@rediffmail.com Tel : 23553624, 23551344, 09213527666

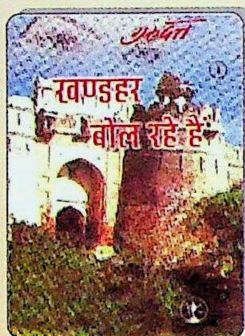


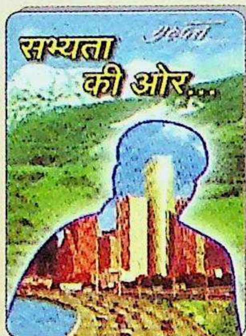
गुरुदत्त

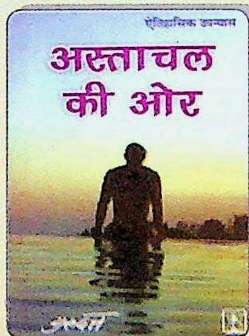
शिक्षा: एम. एस. सी.

8-12-1894 से 8-4-1989

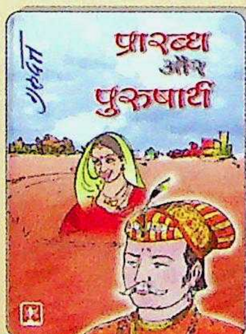
लेखक की कुछ अन्य रचनाऐं

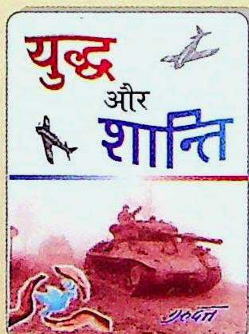


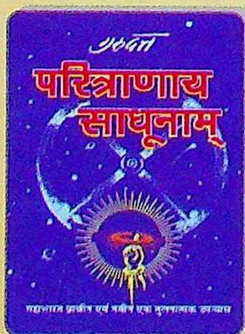




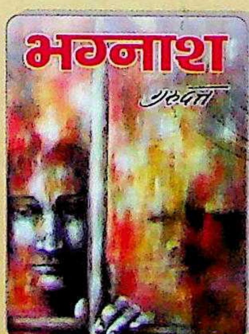












 हिन्दी साहित्य सदन

www.hindisahityasadan.com

2 बी.डी. चैम्बर्स, 10/54 देश बंधु गुप्ता रोड, करोल बाग, नई दिल्ली-110 005. फोन : 23553624, 23551344

ई-मेल : indiabooks@rediffmail.com, hindisahityasadan@gmail.com